शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका : केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

शोध अंक 30 | जुलाई-सितंबर 2015 | 200 रुपए

संपादकीय कार्यालय
हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ॰प्र॰)
फोन : 01342-263232, 07838090732
ई-मेल : shodhdisha@gmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय
दिल्ली एन॰सी॰आर॰
डॉ॰ अनुभूति
सी-106, शिव कला
बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा
फोन : 09958070700

हरियाणा
डॉ॰ मीना अग्रवाल
बी-203, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)
फ़ोन : 0124-4076565, 07838090237

डॉ॰ हरिशरण वर्मा
एफ-120, सेक्टर 10
डी॰एल॰एफ॰ (के॰एल॰ मेहता स्कूल के पास)
फरीदाबाद (हरियाणा)

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक
डॉ॰ मीना अग्रवाल 07838090237

संयुक्त संपादक
डॉ॰ शंकर क्षेम

उपसंपादक
डॉ॰ रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक
गीतिका गोयल/ डॉ॰ अनुभूति

उपसंपादक
डॉ॰ अशोककुमार 09557746346

विधि परामर्शदाता
अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता
ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी॰ए॰

शुल्क
आजीवन :
व्यक्तिगत : चार हज़ार रुपए
संस्थागत : पाँच हज़ार रुपए
वार्षिक शुल्क : पाँच सौ रुपए
यह प्रति : दो सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा, 101, Guymon Court, MorrisVille, NC-27560 USA
डॉ॰ सुरेशचंद्र शुक्ल, अध्यक्ष इंडो-नार्वेजियन सूचना एवं सांस्कृतिक मंच
प्रो॰ हरिशंकर आदेश, भारतीय प्राच्य विद्या संस्थान, कनाडा
डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार फ़ेज-1, दिल्ली 110052
डॉ॰ आर॰पी॰ सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) पूर्व प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ॰प्र॰)
प्रो॰ अशोक चक्रधर, जे-116, सरिता विहार, नई दिल्ली
प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय, निदेशक केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ॰प्र॰)
डॉ॰ आदित्य प्रचंडिया, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट (डीम्ड यूनिवर्सिटी) दयालबाग, आगरा (उ॰प्र॰)
डॉ॰ हरिमोहन, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, के॰एम॰मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
डॉ॰ बाबूराम, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
डॉ॰ राजेंद्र मिश्र, 14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म॰प्र॰)
डॉ॰ रामसजन पांडेय, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
डॉ॰ दामोदर खड़से, कार्याध्यक्ष, महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी, मुंबई (महा॰)
प्रो॰ शंकर बुंदेले, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती
डॉ॰ आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ॰ हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
डॉ॰ पद्मा पाटिल, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा॰)
डॉ॰ माया टाक, पूर्व प्रोफ़ेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
डॉ॰ अनिलकुमार जैन, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
डॉ॰ हनुमानप्रसाद शुक्ल, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ मुकेश गर्ग, एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ॰ जितेंद्र वत्स, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
डॉ॰ हरेराम पाठक, अध्यक्ष हिंदी विभाग, डिगबोई महिला महाविद्यालय, डिगबोई (तिनसुकिया) असम
डॉ॰ शंभुनाथ तिवारी, एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
डॉ॰ श्यामधर तिवारी, प्रोफ़ेसर हिं॰वि॰, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
डॉ॰ दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
डॉ॰ शाहबुद्दीन शेख़, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा॰, औरंगाबाद (महा॰)
डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
डॉ॰ महेशचंद्र, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ॰प्र॰)
डॉ॰ संतोषकुमार गौड़, एसोसिएट प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ॰प्र॰)
डॉ॰ महेश दिवाकर, अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य एवं कला मंच, मुरादाबाद (उ॰प्र॰)
डॉ॰ घनश्याम अरोरा, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर इतिहास विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ॰प्र॰)
डॉ॰ सुधारानी सिंह, वरिष्ठ प्रवक्ता हिंदी विभाग, शहीद मंगल पांडेय राजकीय महिला स्ना॰ महा॰, मेरठ
डॉ॰ एम॰एस॰ विमल, सहायक प्राध्यापक अँग्रेजी, शासकीय महाराजा पी॰जी॰ महा॰, छतरपुर (म॰प्र॰)

आजीवन सदस्य

उत्तर प्रदेश/ उत्तराखंड

डॉ॰ रामानंद शर्मा
पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, हिंदू (पी॰जी॰) कालेज
9, जिगर कालोनी, मुरादाबाद (उ॰प्र॰)

डॉ॰ मधुलिका तिवारी
रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एल॰आर॰ पी॰जी॰ कॉलिज, साहिबाबाद
गाज़ियाबाद (उ॰प्र॰)

श्री हरिराम 'पथिक'
स्नेहगंगा, विष्णुधाम कालोनी,
गली नं॰ 3, न्यू माधोनगर, सहारनपुर (उ॰प्र॰)

डॉ॰ वंदना सेमल्टे
टी॰एफ॰ 7, प्रेरणा अपार्टमेंट्स,
गांधीनगर, गाज़ियाबाद 201001

डॉ॰ मनमोहन शुक्ल
147, मायापुरी, आवास योजना
झूँसी, इलाहाबाद 211019

श्री अरुणकुमार भगत
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता
एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा परिसर
'माध्यम' सी-56, ए/5, सेक्टर-62
नोएडा 201301 (उ॰प्र॰)

डॉ॰ विपिनकुमार गिरि
पुराना माधवनगर, भारद्वाज गली,
सहारनपुर (उ॰प्र॰)

प्राचार्या
आर॰बी॰डी॰ महिला महाविद्यालय
बिजनौर (उ॰प्र॰) 246701

डॉ॰ सुधारानी सिंह
सी-54, सेक्टर-3, सुशांत सिटी,
दिल्ली बाईपास, मेरठ (उ॰प्र॰)

डॉ॰ प्रेमव्रत तिवारी
सरस्वती सदन, बेतियाहाता, गोरखपुर (उ॰प्र॰)

डॉ॰ पूनम भारद्वाज
17 प्रेम विहार, मुजफ़्फ़रनगर 251001
09997100697

श्रीमती अल्पना
द्वारा श्री अरुण कपूर, III एच 288 नेहरू नगर
पवन सिनेमा के पीछे, राकेश मार्ग
गाजियाबाद 201001

डॉ॰ वंदना श्रीवास्तव
के 83 सी आशियाना, लखनऊ 226012
09415917170

डॉ॰ अर्चना वालिया
286, जौनपुर दक्षिण, स्नेहकुंज कालोनी,
कोटद्वार (गढ़वाल) उत्तराखंड 246149

डॉ॰ सुचित्रा मलिक
37 गांधी आश्रम, विष्णु गार्डन
कनखल (हरिद्वार) उत्तराखंड

सुरेंद्रकुमार जैन
हिन्दी विभाग,
स॰ भगतसिंह राजकीय स्नातकोत्तर महा॰,
रुद्रपुर (नैनीताल)

मध्य प्रदेश

डॉ॰ राजेंद्र मिश्र
14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म॰प्र॰)

डॉ॰ स्मृति शुक्ला
ए-16 पंचशील नगर, नर्मदा रोड, जबलपुर (म॰प्र॰)

डॉ॰ सुरेंद्र यादव
301 नवदीप अपार्टमेंट, 7 शंकर नगर (साकेत),
इंदौर 452018

डॉ॰ ज्योतिसिंह
213 अनूपनगर
सी॰एच॰एल॰ अपोलो हास्पिटल के सामने
ए॰बी॰ रोड, इंदौर 452008 (म॰प्र॰)
09926300355

डॉ॰ चंदा तलेरा जैन
जी-17, रेडियो कालोनी, इंदौर (म॰प्र॰) 452001
09425944773

डॉ॰ वंदना अग्निहोत्री
194 सुखदेव नगर, एरोड्रम रोड
इंदौर (म॰प्र॰) 452001
09926477787

डॉ॰ पुष्पा शाक्य
110, सुंदर नगर मेन, सुकलिया, इंदौर (म॰प्र॰)
09827281203

डॉ॰ चंद्रकिरण अग्निहोत्री
108, रेडियो कालोनी, इंदौर (म॰प्र॰) 452001

डॉ॰ पंकज विरमाल
अध्यक्ष हिंदी विभाग, इंदौर क्रिश्चियन कालेज
इंदौर (म॰प्र॰) 452001

प्राचार्य,
शासकीय महारानी लक्ष्मीबाई
कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
किला भवन, इंदौर (म॰प्र॰)

डॉ॰ निशा तिवारी
650 नैपियर टाउन,
भानवारथल वाटर टैंक के पीछे
जबलपुर 482001 (म॰प्र॰) मो॰ 09425386234

पंजाब/ हरियाणा

श्री हेमांशु शर्मा
हिंदी विभाग, साईंदास ए॰एस॰सी॰ सी॰से॰ स्कूल
पटेल चौक, जालंधर शहर (पंजाब)

प्राचार्या
कमला नेहरू कालेज फॉर वुमैन
फगवाड़ा (कपूरथला) पंजाब

प्राचार्या
कन्या महाविद्यालय
विद्यालय मार्ग, जालंधर (पंजाब) 144004

डॉ॰ विद्या चौधरी
मिर्जापुर फार्म, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) 136119

डॉ॰ विजय इंदु
1608 हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी
सेक्टर 10 ए, गुड़गाँव (हरियाणा) 122001

कविता यादव
पुत्री श्री सुनिलकुमार,
ग्राम व पोस्ट पालावास
जिला रेवाड़ी (हरियाणा) 123035

डॉ॰ राजाराम अग्रवाल
ग्राम व पोस्ट शेखपुर दरौली
जिला फतेहाबाद (हरि॰) 125053
मो॰ 09896789100

डॉ॰ पुष्पा अंतिल
203, टॉवर-9, फ्रेस्को
निर्वाणा, सेक्टर 50, गुड़गाँव (हरि॰) 122018
मो॰ 096547444800

प्राचार्य
राजकीय महाविद्यालय, सिधरावली (गुड़गाँव)

प्राचार्य
द्रोणाचार्य राजकीय महाविद्यालय, न्यू रेलवे रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)

प्राचार्य
हरद्वारीलाल राजकीय महाविद्यालय, तावडू (मेवात)

महाराष्ट्र

डॉ॰ लियाक़त मियाँ भाई शेख़
अखिलेश नगर, प्लाट क्र॰ 11
नए बस स्टेंड के पास,
गंगापुर, (औरंगाबाद) महा॰
09423933402

डॉ॰ शहाबुद्दीन नियाज़ मुहम्मद शेख़
(प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा॰औरंगाबाद)
अध्यक्ष, राष्ट्रीय हिंदी सेवी महासंघ
78/484 सिविल हडको,
अहमदनगर 414003
09850119687

प्रो॰ शेख़ मुहम्मद शाकिर शेख़ बशीर
अध्यक्ष हिंदी विभाग
पूना कालेज ऑफ़ आर्ट्स, कामर्स एंड साइंस
कैंप, पुणे 411201 (महा॰)
09423017017

डॉ॰ मेहमूद रसूल पटेल
दारुल अमन, काशीनगर,
जालना रोड, बीड़ (महा॰)

प्रा. डॉ॰ अभयकुमार रमेश खैरनार
मु. पो. जुनवणे,
तह. जि. धुले (महाराष्ट्र)

प्रा॰ अनंत नानाजी केदारे
5 पार्वती अपार्टमेंट, अयोध्या कॉलोनी
दाते नगर, गंगापुर रोड
नासिक 422005 (महा॰)

डॉ॰ मंज़ूर चाँदभाई सय्यद
'गुलसिता' 223 औदुंबरनगर, अमृतधाम
पंचवटी, नासिक 422004 (महा॰)
09822991516

डॉ॰ शोभा साहेबराव राणे
17 स्वर समृद्धि अपार्टमेंट,
नंदनवन लॉन के सामने
आशाराम बापू आश्रम मार्ग, सावरकर नगर,
गंगापुर रोड, नासिक (महा॰) 422013

प्रा. डॉ॰ संजय विक्रम ढोढरे
7, मोतीरामनगर, वाडीभोकर रोड,
देवपूर, धुले 424002 (महाराष्ट्र)

डॉ॰ अशोक द्रौपद गायकवाड़
'कृतज्ञता', अवधूत पार्क, आरोह निसर्ग के पास
कादंबरी नगर क्रमांक 1 के पास
पाइप लाइन रोड, सावेडी
अहमदनगर (महा॰) 414003
09822941330

डॉ॰ अश्विनीकुमार 'विष्णु'
अध्यक्ष अँग्रेज़ी विभाग
सीताबाई आर्ट्स कालेज, अकोला (महा॰)

प्रा॰ दत्तात्रय माधवराव टिलेकर
द्वारा संतोष मेडिकल, साई प्रेस्टिज, फ्लैट नं॰ 13
पाटील अली, ओतूर
तह॰ जुन्नर, ज़िला पुणे (महा॰) 412409
09860229544

डॉ॰ मजीद मुनीर शेख़
ग्राम व पो॰ साष्ट, पिंपल गाँव,
(वाया अंकुशनगर) तह॰ अंबड
ज़िला जालना (महा॰) 431212
09765944586

डॉ॰ भरत त्र्यंबक शेणकर
द्वारा होटल जय महाराष्ट्र
ग्राम, पो॰ व तह॰ अकोले
ज़िला अहमदनगर (महा॰) 422601
09423164521

डॉ॰ पोपट विट्ठल कोटमे
फ्लैट नं॰ 5, सत्यसंगम
कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी
श्री जयनगर, इंदिरानगर, नासिक (महा॰) 422006
09850760866

डॉ॰ श्रीमती विजयालक्ष्मी नारायण रामटेके
सुशीला सोसायटी, प्लाट क्र॰ 5
अजय जिम के पीछे, तेलरांधे के सामने
जरी पटका रिंगरोड, जरी पटका पोस्ट ऑफ़िस
नागपुर 440014 (महा॰)

सुश्री शारदा बी. जावरे
ओमकार, समृद्धि डेपलपर, फ्लेट क्र॰ 402
प्लाट नं॰ 26, सर्व क्र॰ 137/1 ए,
बराटे स्कूल के पास, वारजे, मालवाडी,
पुणे 411058 (महाराष्ट्र)
08805616654

प्रा॰ (श्रीमती) ऐनूर अजीजभाई इनामदार
स्वामी समर्थनगर, राजूरी रोड, कोल्हार 413710
तहसील राहाता, जिला अहमदनगर (महा॰)
09011449636

डॉ॰ एस॰एन॰ देवरे
प्लाट नं॰ 17, सिद्धिविनायक कॉलोनी
देवपुर, धुले (महा॰) 424002

प्रो॰ डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल
प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग,
एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विश्वविद्यालय,
कर्वे रोड, पुणे 411038 (महाराष्ट्र)

सुश्री कामिनी अशोक न्यायाधीश
661 अरुणोदय कालोनी, सिडको एन-5
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
09975773345

प्रा. अशोक शामराव मराठे
116, सखाराम नगर,
पेरेजपुर रोड, साक्री, तह. साक्री,
ज़िला धुले 424304 (महाराष्ट्र)

प्रा. पंजाबी ममता नानकचंद
19/20, त्रिमूर्ति नगर,
मोरे अस्पताल के पास,
साक्री, तहसील साक्री,
ज़िला धुले 424304

प्रा॰ उषा पुंडलिक शिरोळे
द्वारा श्री शशिकांत हरी बागड़े
गुरुकृपा हास्पिटल, डाक पारीपत्यदार
सावतानगर मालेगाँव, तह-मालेगाँव
ज़िला नासिक (महा॰)

प्रा. करुणा दत्तात्रय अहिरे
व्ही.यू.पाटील कला एवं विज्ञान महाविद्यालय,
साक्री, तह॰ साक्री,
ज़िला धुले 424304

प्रा. डॉ॰ प्रमोद गोकुळ पाटील
मु.पो. मोराणे (प्र.ल.)
तह. ज़िला धुले 424001 (महाराष्ट्र)

प्रा. डॉ॰ अश्फाक सिकलगर
जीएफ-102 ताज अपार्टमेंट,
चालीसगाँव रोड, धुले (महाराष्ट्र)

प्रा. डॉ॰ महेंद्रसिंह रघुवंशी
सरस्वती नगर, प्लॉट नं. 10,
वाघेश्वरी मंदिर के पास,
नंदुरबार 425412

डॉ॰ रेखा वसंत पाटील
सीतामाई नगर, चालिसगाँव
ज़िला जलगाँव (महा॰) 424101

प्रा. डॉ॰ योगेश गोकुळ पाटिल
प्लॉट नं. 12, नयना सोसायटी,
नकाणे रोड, देवपूर,
धुले 424002

प्रा. डॉ॰ मंजू तरड़ेजा (सिंघाणी)
ब्लॉक नं. आर-10, रूम नं. 10,
कुमारनगर, साक्री रोड, धुले 424001

प्रा. डॉ॰ चंद्रमादेवी पाटील
59, धनदाई नगर, गोंदुर रोड, वलवाडी,
देवपूर, धुले 424005 (महाराष्ट्र)

डॉ॰ संजयकुमार नंदलाल शर्मा
38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी,
तलोदा, जि॰ नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

श्रीमती वर्षा सुभाषचंद्र देशमुख
बी-6, चंद्रवेल अपार्टमेंट, गोविंदनगर होटेल
प्रकाश्या भागे, मुंबई नाका,
नासिक (महाराष्ट्र) 422010

डॉ॰ देवकीनंदन महाजन
1 टेलीफोन कालोनी,
धुले रोड, अमलनेर (जलगाँव) महाराष्ट्र

डॉ॰ कल्पना राजेंद्र पाटील
38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी, तलोदा
जि॰ नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

सुश्री निर्मला पुरुषोत्तम तोमर
फ्लेट नं॰ 12, एस नं॰ 137/2
वारजे मलवाडी, पुणे 411058
08087612123

प्रा॰ डॉ॰ रामचंद्र माली
अध्यक्ष हिंदी विभाग,
क॰वा॰वि॰ महाविद्यालय,
नवापुर, ज़िला नंदुरबार (महाराष्ट्र)

डॉ॰ सुषमा कोंडे
81/ए, प्लाट नं॰ 9/ए,
गिरिदर्शन हाउसिंग सोसायटी, बानेर रोड
पुणे 411007 (महाराष्ट्र)
09822848464

प्राचार्य
विद्यावर्धिनी महाविद्यालय,
धुले (महा॰) 424001

डॉ॰ हेमलता कांचनकर
43 नंदनवन कालोनी (कैंट),
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
09730202528

सुश्री नेहा संदीप घोरपड़े
द्वारा सुश्री सुनीता पवार
फ्लेट नं॰ 404, प्रकाश मेमाराइज
एस नं॰ 73, दूध डेयरी,
पुणे-411046

सुश्री भारती मधुकर पाटील
मु॰पो॰ सावलदे, तहसील शिरपूर
ज़िला धुले (महा॰)

प्रा॰ शिंदे नवनाथ सर्जेराव
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
सांगोला महाविद्यालय, सांगोला
कडलास रोड,
सांगोला (सोलानुर) 413307
09763602304

सुश्री मीनल वार्वे
बी-8, ड्रीम घरकुल,
एम.एस.ई.बी. कॉलोनी के पास,
शिवाजी नगर, जेल रोड,
नासिक रोड (महाराष्ट्र)

प्रो॰ अमानुल्लाह मो॰ शेख़
श्रद्धा रेजिडेंसी, बिल्डिग ए, बिंग ए-201
आई॰टी॰आई॰ कालेज के पास
पो॰ मुकिन्दपुर, तह॰ नेवासा
ज़िला अहमदनगर (महा॰)

श्री शेख शिराज हसन
पोस्ट बोरी, तालुका खंडाला (सतारा)
415521 (महा॰)
मो॰ 09011444059

प्रा॰ ईश्वर पदमसिंग ठाकुर
जनशक्ति कालोनी
रिंग रोड, फैजपुर, तहसील यावल (जलगाँव)

प्रो॰ दीपक विश्वासराव पाटील
मुकाम पोस्ट सुन्दने
निकट कलाविश्व कंप्यूटर सेंटर
तहसील ज़िला धुले
घुलेवाडी, संगमनेर (महा॰) 424002
099923811609

डॉ॰ अनिता मधुकर अंतरे
मयूर सोलर ऐजेंसी
स्वामी समर्थ मंदिर के पास
पो॰ लोनी बी के, तालुका रहाता,
ज़िला अहमदनगर (महाराष्ट्र) 413736
09970343766

डॉ॰ विट्ठलसिंह नंदरामसिंह ढाकरे
'सी' टाइप कालेज
शास्त्रीनगर, लासलगाँव
ज़िला नासिक (महाराष्ट्र) 422306
08888590156

डॉ॰ उर्मिला मानसिंह गायकवाड
प्लॉट नं॰ 290-292, सेक्टर-29
गुरु स्मृति अपार्टमेंट, ए-विंग,
फ्लैट नं॰ 303 रावेत निकट डी-मार्ट,
पुणे 412101
मो॰ 07620225839

डॉ॰ एफ॰एम॰ शाह
द्वारा श्री टी॰एम॰ धुवारे
छोटा दत्त मंदिर के पास, टी॰बी॰ टोली
गोंदिया (महा॰) 441614
मो॰ 07620042772

डॉ॰ शैला पांडुरंग चव्हाण
फ्लेट नं॰ 1, सुविधिनाथ हाउसिंग सोसायटी
मुख्य फायर ब्रिगेड आफिस के सामने
हीरा-मोती शोरूम के पीछे,
सिंघाड़ा तालाब, नासिक (महा॰) 422001
मो॰ 09850827138

प्राचार्य
कला, वाणिज्य व कंप्यूटर
एप्लीकेशन महिला महा॰
डोंगर कठोरे, यावल, ज़िला जलगाँव (महा॰)

प्रा॰ पुरुषोत्तम कुंदे
हिंदी विभाग, न्यू आर्ट्स कामर्स एंड साइंस कालेज
शेवगाँव (अहमदनगर) 414502 महाराष्ट्र
09850947267

डॉ॰ सचिन कदम
हिंदी विभाग, संगमनेर महाविद्यालय
संगमनेर (महाराष्ट्र)

रूपाली नामदेवराव रिंगे
द्वारा बालाजी संभाजी कदम
फ्लैट नं॰ 12, साईं श्रद्धा रेसिडेंसी, प्लॉट नं॰ 78
सी॰डी॰सी॰ पूर्णनगर, चिंचवड, पुणे 411019 महाराष्ट्र
09420848635, 07276268922

गुजरात

श्री गुलाबराव शांताराम बाविस्कर
201, के-टॉवर, श्रीनंदनगर
सोखड़ा रोड, छाणी, बड़ोदरा (गुजरात) 391740
09624501415

कर्नाटक

डॉ॰ जुबैदा हाशिम मुल्लाँ
बैतुल हाशमी, म॰नं॰ 152, ताजनगर
हुबली 580031 (कर्नाटक)

तमिलनाडु

Dr. V. Jayalakshmi
Mathura, Plot No. 38
5th Cross Street, Gokul Nagar
Preumbakkam, Chennai-600100

जनसुलभ साहित्य माला

हिंदी साहित्य निकेतन ने जनसुलभ साहित्य माला के अंतर्गत निम्नलिखित पुस्तकों को प्रकाशित किया है। इनमें से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य केवल पचास रुपए है। 12 पुस्तकों का पूरा सैट मात्र 500 रुपए में।

कहानी

कमरा नंबर 103 ■ **सुधा ओम ढींगरा**
इमराना हाज़िर हो ■ **महेशचंद्र द्विवेदी**
कुत्तेवाले पापा ■ **डॉ॰ मीना अग्रवाल**
कहानियाँ अमेरिका से ■ **सं॰ इला प्रसाद**
प्रेमचंद : कालजयी कहानियाँ ■ **सं॰ डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका**
लघुकथाएँ मानव-जीवन की ■ **सं॰ सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'**

व्यंग्य

दूध का धुला लोकतंत्र ■ **गोपाल चतुर्वेदी**
आदमी और कुत्ते की नाक ■ **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**
सच का सामना ■ **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**

व्यंग्य-एकांकी

अफलातून की अकादमी ■ **डॉ॰ शिव शर्मा**

सिनेमा

सिनेमा, साहित्य और संस्कृति ■ **नवलकिशोर शर्मा**

कविता

मान भी जा छुटकी ■ **गीतिका गोयल**

हिंदी साहित्य निकेतन
16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰)
फोन : 01342-263232, 07838090732

दसवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन : हिंदी का महाकुंभ

दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन की तैयारी बहुत समय से चल रही थी। मन में तरह-तरह के संकल्प-विकल्प तैर रहे थे। तभी पीलीभीत से प्रिय भाई प्रणव शर्मा का फोन आया। उन्होंने पूछा कि मैं सम्मेलन में जा रहा हूँ या नहीं। मैंने अपनी जिज्ञासा प्रिय भाई आशीष कंधवे के समक्ष रखी। उन्होंने बताया कि विश्व हिंदी सम्मेलन की आधिकारिक साइट से पंजीकरण नहीं हो पा रहे हैं। मैं तनावमुक्त हो गया।

इस बीच मैंने भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की पत्रिका 'गगनांचल', राष्ट्रीय पुस्तक न्यास द्वारा प्रकाश्य पुस्तक 'हिंदी भाषा', केंद्रीय हिंदी निदेशालय और प्रकाशन विभाग की पत्रिका 'भाषा' के लिए लेख लिखे। अब विश्व हिंदी सम्मेलन में जाने का कोई संकल्प-विकल्प नहीं था। तभी 26 अगस्त को सम्मेलन सचिवालय का पत्र मिला–

महोदय,

आप जानते हैं कि 10-12 सितंबर, 2015 के दौरान भोपाल में 10वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है। इस सम्मेलन में आपको अतिथि के रूप में आमंत्रित करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है। सम्मेलन में प्रतिभागिता हेतु आपका पंजीकरण नि:शुल्क होगा और भोजन की व्यवस्था भी आयोजकों द्वारा सम्मेलन-स्थल पर ही की जाएगी। सम्मेलन में पधारने की स्वीकृति कृपया 31 अगस्त तक भिजवाने का कष्ट करें। आप हमें अपना विवरण (जैसा कि संलग्न प्रपत्र में दर्शित है) उपर्युक्त ई-मेल पर भिजवाने की व्यवस्था करें, क्योंकि ये जानकारी पंजीकरण हेतु आवश्यक है। किसी भी अन्य जानकारी एवं सूचना के लिए आप विश्व हिंदी सम्मेलन सचिवालय, दिल्ली कार्यालय से संपर्क कर सकते हैं।

पत्र मिलते ही मैंने अपना और डॉ॰ मीना का विवरण निर्धारित प्रपत्र पर ई-मेल से भेज दिया। इस बीच आने-जाने की व्यवस्था की। हाँ, वहाँ ठहरने की व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। सारे होटल पहले ही बुक हो चुके थे। जहाँ चाह वहाँ राह का सिद्धांत अपनाते हुए फिर आशीष कंधवे को फोन किया और उन्होंने अपने ही साथ उसी होटल में कमरा बुक करवा दिया, जिसमें वे ठहरने वाले थे। अब राह आसान हो गई थी और यह विश्वास भी पक्का हो गया था कि विश्व हिंदी सम्मेलन में भागीदारी अवश्य होगी।

हम लोग सम्मेलन-स्थल पर 9.30 पर पहुँच गए थे। विश्व हिंदी सम्मेलन का उद्घाटन प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी कर रहे थे, इसलिए सुरक्षा के विशेष प्रबंध किए गए थे। त्रिस्तरीय सुरक्षा-व्यवस्था के कारण 9.45 से प्रवेश बंद कर दिया गया। हमने अपना सुरक्षा बैज समय से

प्राप्त कर लिया और विशेष रूप से तैयार किए गए श्री रामधारी सिंह सभागार में अपना निर्धारित स्थान ले लिया।

विश्व हिंदी सम्मेलन स्थल को पं॰ माखनलाल चतुर्वेदी नगर के रूप में सज्जित किया गया था। विशाल पंडाल को भी तीन खंडों में बनाया गया था। प्रथम खंड में पंजीकरण, द्वितीय प्रतीक्षा एवं अतिथि मिलन कक्ष तथा उसके बाद कविवर रामधारी सिंह दिनकर सभागार।

इनके अतिरिक्त समानांतर सत्रों के लिए अलग-अलग वातानुकूलित सभागार बनाए गए थे। कक्ष-1 रोनाल्ड स्टुअर्ट मेक्ग्रेगर, कक्ष-2 अलेक्सेई पेत्रोविच वरान्निकोव, कक्ष-3 विद्यानिवास मिश्र, कक्ष-4 कवि प्रदीप, कक्ष-5 राजेंद्र माथुर, प्रदर्शनी कक्ष-1 डॉ॰ मोटूरि सत्यनारायण, कक्ष-2 सोमदत्त बखौरी और स्वागतकक्ष सुभद्राकुमारी चौहान सभागार के नाम से बनाए गए थे। प्रतिनिधि भोजन कक्ष का नाम दुष्यंतकुमार और विशिष्ट अतिथि भोजनकक्ष का नाम काका साहब कालेलकर भोजनकक्ष रखा गया था।

इतने बड़े सम्मेलन की व्यवस्था में विभिन्न विभागों के सैकड़ों अधिकारी व कर्मचारी पूरी निष्ठा से जुटे हुए थे। वे प्रयास कर रहे थे कि किसी भी अतिथि या प्रतिनिधि को कोई परेशानी न होने पाए।

सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने कहा कि दुनिया में हिंदी के प्रति आकर्षण बढ़ा है। हिंदी की समृद्धि के लिए इसे अन्य भारतीय भाषाओं के साथ न केवल जोड़ने की प्रक्रिया चलनी चाहिए, बल्कि इसे निरंतर जारी भी रखना चाहिए। प्रधानमंत्री ने कहा कि हिंदीभाषा का आंदोलन चलाने वाले अधिकतर अग्रणी लोग अहिंदीभाषी हैं। उन्होंने कहा कि सुभाषचंद्र बोस, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, काका कालेलकर या राजगोपालाचारी, इन सबकी मातृभाषा हिंदी नहीं थी। आचार्य विनोबा, दादा धर्माधिकारी आदि ने हिंदीभाषा के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए दीर्घ दृष्टि से काम किया है। हर पीढ़ी का दायित्व है कि उसके पास जो विरासत है, उसे सुरक्षित रखे और आने वाली पीढ़ी को सौंपे।

विदेशमंत्री श्रीमती सुषमा स्वराज ने कहा कि अभी तक जितने भी विश्व हिंदी सम्मेलन हुए हैं, वे साहित्य पर केंद्रित थे। यह पहला ऐसा सम्मेलन है, जो भाषा को समर्पित है। सम्मेलन की रूपरेखा की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि यह सम्मेलन परिणाममूलक होगा। सम्मेलन में ऐसे विषयों का चयन किया गया है, जिनमें वर्तमान में हिंदीभाषा के विस्तार की संभावनाएँ हैं। संचार एवं सूचना, प्रशासन, सूचना प्रौद्योगिकी, विज्ञान और विदेश नीति ऐसे ही कुछ विषय हैं। इन सभी विषयों पर समानांतर सत्रों में चर्चा होगी और सभी सत्रों की रिपोर्ट तत्काल तैयार की जाएगी। इन सत्रों में प्राप्त अनुशंसाओं का तुरंत क्रियान्वयन किया जाएगा।

मुख्यमंत्री श्री शिवराजसिंह चौहान ने प्रधानमंत्री और अतिथियों का स्वागत किया। उन्होंने प्रधानमंत्री श्री मोदी को सम्मेलन के आयोजन की सहमति देने के लिए धन्यवाद दिया। श्री चौहान ने कहा कि जिस गुजरात से महात्मा गांधी ने हिंदी का जयघोष किया था, उसी गुजरात से आज श्री मोदी जी हिंदी का मान बढ़ा रहे हैं। उन्होंने कहा कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की घोषणा भी गुजरात से हुई थी। श्री मोदी देश-विदेश में हिंदी का मान बढ़ा रहे हैं। यहाँ तक कि संघ

लोक सेवा आयोग की परीक्षा में भी उन्होंने हिंदी को सम्मान दिलाया है।

सम्मेलन का शुभारंभ हिंदी के स्तुतिगान के साथ हुआ। सम्मेलन में 39 देशों से आए प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

विश्व हिंदी सम्मेलन की पृष्ठभूमि

विश्व हिंदी सम्मेलन की संकल्पना राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा 1973 में की गई थी। संकल्पना के फलस्वरूप, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के तत्त्वावधान में प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन 10-12 जनवरी 1975 को नागपुर, भारत में आयोजित किया गया था।

सम्मेलन का उद्देश्य इस विषय पर विचार विमर्श करना था कि तत्कालीन वैश्विक परिस्थिति में हिंदी किस प्रकार सेवा का साधन बन सकती है, महात्मा गांधी जी की सेवाभावना से अनुप्राणित हिंदी संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश पाकर विश्वभाषा के रूप में समस्त मानवजाति की सेवा की ओर अग्रसर हो। साथ ही यह किस प्रकार भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र 'वसुधैव कुटुंबकम' विश्व के समक्ष प्रस्तुत करके 'एक विश्व एक मानव-परिवार' की भावना का संचार करे।'

सम्मेलन के आयोजकों को विनोबा भावे का शुभाशीर्वाद तथा केंद्र सरकार के साथ-साथ महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, आंध्र प्रदेश, गुजरात आदि राज्य सरकारों का समर्थन प्राप्त हुआ। नागपुर विश्वविद्यालय के प्रांगण में विश्व हिंदी नगर का निर्माण किया गया। सम्मेलन में काका साहेब कालेलकर ने हिंदीभाषा के सेवाधर्म को रेखांकित करते हुए कहा कि 'हम सबका धर्म सेवाधर्म है और हिंदी इस सेवा का माध्यम है.. हमने हिंदी के माध्यम से आजादी से पहले और आजाद होने के बाद भी समूचे राष्ट्र की सेवा की है और अब इसी हिंदी के माध्यम से विश्व की, सारी मानवता की सेवा करने की ओर अग्रसर हो रहे हैं।'

तबसे लेकर हिंदी की यह सदानीरा अपनी वैश्विक यात्रा में अनेक भाषाई कुंभों की साक्षी रहते हुए अपने दसवें पड़ाव की ओर निकल पड़ी और दसवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन 10-12 सितंबर 2015 को भोपाल, मध्य प्रदेश, भारत में आयोजित किया गया। दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन को भारत में आयोजित करने का निर्णय सितंबर 2012 में दक्षिण अफ्रीका के जोहांसबर्ग शहर में आयोजित नौवें विश्व हिंदी सम्मेलन में लिया गया था। दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन के लिए विदेश मंत्रालय नोडल मंत्रालय है। मध्य प्रदेश भागीदार राज्य है।

सम्मेलन के आयोजन के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श करने के लिए परामर्श, प्रबंधन और कार्यक्रम से संबंधित तीन समितियाँ गठित की गईं। परामर्श एवं कार्यक्रम समितियों की अध्यक्ष माननीय विदेश मंत्री श्रीमती सुषमा स्वराज थीं, जबकि प्रबंधन समिति के अध्यक्ष माननीय विदेश राज्यमंत्री जनरल (सेवानिवृत्त) डॉ॰ वी॰के॰ सिंह को बनाया गया। भोपाल में, सम्मेलन हेतु मध्य प्रदेश राज्य सरकार स्थानीय आयोजक है और मध्य प्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री श्री शिवराज सिंह चौहान मुख्य संरक्षक हैं। सम्मेलन के लिए माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल भागीदार संस्था है। सम्मेलन का मुख्य विषय 'हिंदी जगत : विस्तार एवं संभावनाएँ' है। सम्मेलन का आयोजन स्थल 'लाल परेड मैदान' भोपाल में हुआ।

सम्मेलन स्थल पर विशेष प्रदर्शनियाँ लगाई गईं। प्रदर्शनी-स्थल पर, हिंदी की पुस्तकों के लोकार्पण हेतु अलग से स्थान निर्धारित किया गया, जहाँ पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का लोकार्पण समानांतर रूप से चलता रहा। सम्मेलन के दौरान शाम को संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार और संस्कृति विभाग, मध्य प्रदेश सरकार द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् द्वारा एक कविसम्मेलन का भी आयोजन होना था, जो झबुआ में विस्फोट के कारण स्थगित कर दिया गया।

दैनिक सम्मेलन-समाचार पत्र (सम्मेलन-समाचार), सम्मेलन-स्मारिका और शैक्षिक सत्रों में हुई चर्चाओं और सुझावों के आधार पर एक सम्मेलन रिपोर्ट भी प्रकाशित की गई। दैनिक सम्मेलन-समाचार का प्रकाशन माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय द्वारा किया गया, जबकि सम्मेलन-रिपोर्ट का प्रकाशन महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा किया जाएगा। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् द्वारा 'गगनांचल' का विशेष अंक निकाला गया, जिसका संपादन प्रो॰ अशोक चक्रधर ने किया। प्रवासी साहित्य को प्रस्तुत करने की दृष्टि से विदेश मंत्रालय भारत सरकार द्वारा डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका के संपादन में एक बड़ी पुस्तक का प्रकाशन भी किया गया। इसमें जोहान्सबर्ग के विश्व हिंदी सम्मेलन के बाद लिखे गए प्रवासी हिंदी साहित्य की झलक प्रस्तुत की गई है। इस ग्रंथ के सहायक संपादक हैं डॉ॰ अवनिजेश अवस्थी, डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा, डॉ॰ पुष्पिता अवस्थी। इसी के साथ विश्व-पटल पर हिंदी के वर्चस्व को स्थापित करती हुई पुस्तक 'हिंदीभाषा' का प्रकाशन राष्ट्रीय पुस्तक न्यास ने किया। इसका संपादन भी डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका ने किया है। इसी के साथ श्री मनोहर पुरी के संपादन में सम्मेलन स्मारिका का प्रकाशन भी किया गया। संपादक मंडल में श्री सुरेश गौतम, श्री प्रभात कुमार तथा श्री नीरज गुप्ता प्रमुख रूप से सहयोगी रहे। तीनों ही ग्रंथ वहाँ उपस्थित प्रत्येक प्रतिभागी को निःशुल्क उपलब्ध कराए गए। इनके अतिरिक्त केंद्रीय हिंदी निदेशालय के प्रकाशन विभाग ने 'भाषा', केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा ने 'गवेषणा', विश्व हिंदी परिषद् नई दिल्ली ने 'आधुनिक साहित्य' तथा कई अन्य संस्थाओं ने अपनी पत्रिकाओं के विशेष अंक प्रकाशित किए।

10वें विश्व हिंदी सम्मेलन के लिए उपयुक्त 'लोगो' के चयन हेतु 50 हजार रुपए की राशि के पुरस्कार के साथ मंत्रालय द्वारा एक 'लोगो' डिजाइन प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। 'लोगो' चयन समिति के सहयोग से, सम्मेलन के लिए एक उपयुक्त 'लोगो' का चयन किया गया है। 'लोगो' डिजाइन प्रतियोगिता की विजेता, बंगलुरु की सुश्री ख्याति गुप्ता को माननीय विदेश मंत्री महोदया द्वारा पुरस्कार की राशि दी गई।

विश्व हिंदी सम्मेलन की प्रासंगिकता

हिंदी आज 30 से अधिक देशो में 80 करोड़ लोगों की भाषा है। विश्व हिंदी सम्मेलन सरकारी रूप से आयोजित होने वाला हिंदी पर केंद्रित महत्त्वपूर्ण आयोजन है। यह सम्मेलन प्रत्येक चौथे वर्ष आयोजित किया जाता है। वैश्विक स्तर पर भारत की इस प्रमुख भाषा के प्रति जागरूकता पैदा करने, समय-समय पर हिंदी की विकासयात्रा का मूल्यांकन करने, हिंदी साहित्य के प्रति सरोकारों को मजबूत करने, लेखक-पाठक का रिश्ता प्रगाढ़ करने व जीवन के विविध

क्षेत्रों में हिंदी के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से विश्व हिंदी सम्मेलनों की शृंखला आरंभ हुई है। सम्मेलन में विश्वभर से प्रतिनिधि भाग लेते हैं, जिनमें गैर हिंदीभाषी 'हिंदी विद्वान' भी शामिल होते हैं। इन प्रतिनिधियों में से अनेक प्रतिनिधि स्वयं के ख़र्च पर इस सम्मेलन में भाग लेते हैं, जो उनके हिंदीप्रेम को दर्शाता है। यह सम्मेलन प्रवासी भारतीयों के लिए बेहद भावनात्मक आयोजन होता है। क्योंकि भारत से बाहर रहकर हिंदी के प्रचार-प्रसार में वे जिस समर्पण और स्नेह से भूमिका निभाते हैं, उसकी मान्यता और प्रतिसाद भी उन्हें इसी सम्मेलन में मिलता है।

विश्व हिंदी सम्मेलन का इतिहास

पहला विश्व हिंदी सम्मेलन 10 जनवरी से 14 जनवरी 1975 तक नागपुर में आयोजित किया गया। सम्मेलन का आयोजन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के तत्त्वावधान में हुआ। सम्मेलन से संबंधित राष्ट्रीय आयोजन समिति के अध्यक्ष उपराष्ट्रपति श्री बी॰डी॰ जत्ती थे। पहले विश्व हिंदी सम्मेलन का बोधवाक्य था 'वसुधैव कुटुंबकम्'। इस सम्मेलन में 30 देशों के कुल 122 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में हिंदीभाषा के लिए पारित किए गए विचार थे–1. संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी को आधिकारिक भाषा के रूप में स्थान दिया जाए। 2. वर्धा में विश्व हिंदी विद्यापीठ की स्थापना हो। 3. विश्व हिंदी सम्मेलनों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अत्यंत विचारपूर्वक योजना निर्माण की जाए।

दूसरे विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन मॉरीशस की राजधानी पोर्टलुई में हुआ। 28 अगस्त से 30 अगस्त 1976 तक चले इस विश्व सम्मेलन के आयोजक मॉरीशस के प्रधानमंत्री डॉ॰ शिवसागर रामगुलाम थे। सम्मेलन में भारत से कैबिनेट मंत्री डॉ॰ कर्णसिंह के नेतृत्व में 23 सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल ने भाग लिया। भारत के अतिरिक्त सम्मेलन में 17 देशों के 181 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया।

तीसरा विश्व हिंदी सम्मेलन भारत की राजधानी दिल्ली में 28 अक्टूबर से 30 अक्टूबर 1983 तक आयोजित किया गया था। इस सम्मेलन की राष्ट्रीय आयोजन समिति के अध्यक्ष तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष डॉ॰ बलराम जाखड़ थे। सम्मेलन में कुल 6,566 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया जिनमें विदेशों से आए 260 प्रतिनिधि शामिल थे। सम्मेलन का सुखद संयोग यह था समापन-समारोह की मुख्य अतिथि महादेवी वर्मा थीं।

चौथे विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन 2 दिसंबर से 4 दिसंबर 1993 तक पुनः 17 साल बाद मॉरीशस की राजधानी पोर्टलुई में किया गया। आयोजन की जिम्मेदारी मॉरीशस के कला, संस्कृति मंत्री मुक्तेश्वर चुनी ने निभाई थी। भारत के प्रतिनिधिमंडल के नेता थे मधुकर राव चौधरी। तत्कालीन गृह राज्यमंत्री श्री रामलाल राही प्रतिनिधिमंडल के उपनेता थे। इसमें 200 विदेशी प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

पाँचवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन त्रिनिदाद एवं टोबेगो की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन में 4 अप्रैल से 8 अप्रैल 1996 तक में हुआ। भारत की ओर से इस सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधिमंडल के नेता अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल श्री माताप्रसाद थे। सम्मेलन का केंद्रीय विषय था–प्रवासी भारतीय और हिंदी। इसके अलावा अन्य विषयों पर ध्यान केंद्रित किया गया, वे थे–हिंदीभाषा

और साहित्य का विकास, कैरेबियाई द्वीपों में हिंदी की स्थिति एवं कंप्यूटरयुग में हिंदी की उपादेयता। सम्मेलन में भारत से 17 सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल ने हिस्सा लिया। अन्य देशों के 257 प्रतिनिधि इसमें शामिल हुए।

छठा विश्व हिंदी सम्मेलन लंदन में 14 सितंबर से 18 सितंबर 1999 तक आयोजित किया गया। इसके अध्यक्ष थे डॉ॰ कृष्णकुमार और संयोजक डॉ॰ पद्मेश गुप्त। सम्मेलन का केंद्रीय विषय था–हिंदी और भावी पीढ़ी। विदेश राज्यमंत्री वसुंधरा राजे के नेतृत्व में भारतीय प्रतिनिधिमंडल ने भाग लिया। प्रतिनिधिमंडल के उपनेता थे प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र। इस सम्मेलन का ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि यह हिंदी को राजभाषा बनाए जाने के 50वें वर्ष में आयोजित किया गया था। यही वर्ष संत कबीर की छठी जन्मशती का भी था। सम्मेलन में 21 देशों के 700 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इनमें भारत से 350 और ब्रिटेन से 250 प्रतिनिधि शामिल हुए।

5 जून से 9 जून 2003 तक सुदूर सूरीनाम की राजधानी पारामारिबो में सातवें विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन हुआ। 21वीं सदी में आयोजित यह पहला विश्व हिंदी सम्मेलन था। आयोजक थे जानकीप्रसाद सिंह। केंद्रीय विषय था–विश्व हिंदी: नई शताब्दी की चुनौतियाँ। भारतीय प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व विदेश राज्यमंत्री दिग्विजय सिंह ने किया। भारत के 200 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इसमें 12 से अधिक देशों के हिंदी विद्वान शामिल हुए।

आठवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन 13 जुलाई से 15 जुलाई 2007 तक संयुक्त राज्य अमेरिका की राजधानी न्यूयॉर्क में हुआ। इस सम्मेलन का केंद्रीय विषय था–विश्वमंच पर हिंदी। इसका आयोजन भारत सरकार के विदेश मंत्रालय द्वारा किया गया।

नौवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन 22 सितंबर से 24 सितंबर 2012 तक, दक्षिण अफ्रीका के शहर जोहान्सबर्ग में संपन्न हुआ। सम्मेलन-स्थल का नाम गांधीग्राम रखा गया था। विभिन्न सत्र नेलसन मंडेला सभागार सहित अन्य सभागारों में संचालित किए गए। इन सत्रों के नाम शांति, सत्य, अहिंसा, नीति और न्याय रखे गए।

गिरमिटिया देशों में हिंदी' पर समानांतर सत्र

दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन के पहले दिन रोनाल्ड स्टुअर्ट मेक्ग्रेगर सभागार में 'गिरमिटिया देशों में हिंदी' विषय पर समांतर सत्र में इन देशों में हिंदी के विकास और इससे जुड़े विषयों पर विचार-विमर्श हुआ। 10 सितंबर को हुए सत्र की अध्यक्षता गोवा की राज्यपाल श्रीमती मृदुला सिन्हा ने की। सत्र का संचालन श्री मनोहर पुरी ने किया। श्री मनोहर पुरी ने विषय का परिचय करवाते हुए गिरमिटिया देशों में भारत से मजदूर के रूप में गए लोगों के इतिहास, उनके द्वारा संस्कृति, धर्म, परम्पराओं और हिंदी के संरक्षण और विकास पर किए गए कार्यों पर प्रकाश डाला।

डॉ॰ रामनरेश मिश्र ने बताया कि गिरमिटिया देशों में भारतीयों ने किस तरह भारत की संस्कृति को जीवित रखा और लगातार समृद्ध किया। इस कार्य में रामचरितमानस सहित भारत के धार्मिक ग्रंथों पर उनके योगदान पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि गिरमिटिया किस तरह अपने दुख-दर्द और अन्याय को भूलकर भारतीय त्योहारों को पूरे उत्साह से मनाते हैं।

श्रीमती सरिता बुद्धु ने बताया कि मॉरिशस में गिरमिटिया मजदूर के रूप में गए लोगों ने वहाँ भारत की संस्कृति पर आधारित गाँव बसाए। उन्होंने बताया कि किस तरह वे लोग दादा, नाना, चाचा, मामा, मौसी-मौसा आदि भारतीय संबोधनों को आज भी जीवित रखे हुए हैं। उनकी नई पीढ़ियाँ भी इन्हीं संबोधनों का उपयोग करती हैं। उन्होंने भारत सरकार से भोजपुरी भाषा के विकास के लिए और अधिक प्रयास की अपेक्षा की।

श्री आर॰के॰ सिन्हा ने बताया कि हिंदी आज दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी भाषा बनी है तो उसमें गिरमिटिया देशों में रहने वाले भारतीय लोगों का बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने बताया कि मॉरिशस में हिंदी साहित्य का लेखन 1910 में शुरू हो गया था। मॉरिशस में पहला हिंदी ग्रंथ 'मॉरिशस का इतिहास' आशाराम विश्वनाथ ने लिखा। उन्होंने बताया कि गिरमिटिया लेखन मौलिक है और इसमें भाषा की मौलिकता को बरकरार रखा गया है। मॉरिशस की आज़ादी में हिंदी का बहुत बड़ा योगदान है। श्री सिन्हा ने कहा कि हिंदी के लिए अनुकूल सरकार है। उन्होंने अपेक्षा की कि दूतावास हिंदी के क्षेत्र में ज़्यादा बेहतर कार्य करें। दूतावास में हिंदी जुड़े कम से कम एक अधिकारी को पदस्थ किया जाना चाहिए। साथ ही हिंदी की पुस्तकें भी उपलब्ध करवाई जाना चाहिए।

मारिशस की मानव संसाधन एवं विज्ञान मंत्री श्रीमती लीला दुखन लछुमन ने कहा कि सभी गिरमिटिया देशों में हिंदी की स्थिति समान है। गिरमिटिया देशों ने धर्म और संप्रदाय से उठकर हिंदुस्तानी समाज का विकास किया। श्रीमती लछुमन ने हिंदी के विकास के लिए किए जा रहे कार्यों पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि मॉरिशस में हिंदी को जोड़ने के लिए नई प्रौद्योगिकी का उपयोग किया जा रहा है। साहित्य के अलावा आधुनिक विषयों के साथ उन्हें हिंदी के माध्यम से जोड़ा जा रहा है। उन्होंने कहा कि हिंदी से जोड़ना भी एक बड़ी चुनौती है कि क्योंकि वैश्वीकरण के दौर में नई पीढ़ी भाषा और संस्कृति से दूर होती जा रही है।

श्रीमती लछुमन ने कहा कि हिंदी के प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी है। भारत इस कमी को दूर करने में सहयोग कर सकता है। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय भाषा का मानक विकसित करने पर भी ज़ोर दिया। गिरमिटिया देशों में हिंदी की बोलियों के संरक्षण की आवश्यकता भी उन्होंने बताई। उन्होंने कहा कि भारत सरकार द्वारा गिरमिटिया देशों में हिंदी के अध्ययन के लिए दी जानेवाली छात्रवृत्ति का कोटा बढ़ाया जाए। बच्चों को केवल हिंदी साहित्य नहीं बल्कि बिजनेस-हिंदी, कम्युनिकेशन, हिंदी एंड टेक्नालॉजी तथा तुलनात्मक अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ दी जाएँ। दूरदर्शन के माध्यम से एक ऐसा चैनल स्थापित किया जाए जिसमें हिंदी और भारतीय भाषाओं की शिक्षा के लिए बच्चों के रोचक कार्यक्रम हों। ये कार्यक्रम टेलीविजन और स्मार्ट फ़ोन के माध्यम से पूरी दुनिया में मुफ्त प्रसारित किए जाएँ। उन्होंने कहा कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान में हिंदी को विशेष महत्त्व दिया जाए। भारत में प्रवासी हिंदी साहित्य के अध्ययन को अनिवार्य किया जाए और इसके शोध के लिए आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाए। उन्होंने हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषा बनाए जाने पर भी ज़ोर दिया।

भारतीय भाषाओं और हिंदी में दोतरफ़ा अनुवाद बढ़े

एक समानांतर सत्र में 'अन्य भाषा-भाषी राज्यों में हिंदी' विषय पर श्री वाई॰ लक्ष्मीप्रसाद

के संयोजन में अनेक वक्ताओं ने विचार व्यक्त किए। कवि प्रदीप सभागार में हुए इस सत्र में अधिकांश वक्ताओं ने भारतीय भाषाओं और हिंदी के मध्य दोतरफ़ा अनुवादकार्य को बढ़ाए जाने की ज़रूरत बताई। वक्ताओं ने दक्षिण भारत और पूर्वोत्तर के राज्यों में काम कर रही हिंदी संस्थाओं की जानकारी दी।

पूर्वोत्तर विश्वविद्यालय शिलांग के श्री माधवेंद्र पांडे ने अनुवाद का काम स्थायी रूप से किए जाने की महत्ता बताते हुए पृथक् अनुवाद मंत्रालय प्रारंभ करने का सुझाव दिया। प्रो॰ रामचंद्र राय ने बताया कि पूर्वोत्तर के राज्यों पर पड़ोसी देश चीन, बर्मा, तिब्बत आदि भाषाओं का भी प्रभाव है, इसलिए यहाँ हिंदी का प्रचार-प्रसार बढ़ाया जाना चाहिए। आंध्रप्रदेश के प्रो॰ शेषरत्नम ने हिंदी को मीडिया और व्यवसाय क्षेत्र की प्रमुख भाषा बताया।

प्रो॰ वी॰वाई॰ ललितांबा ने दक्षिण भारत में हिंदी को अपनाने के लिए हुए प्रयास की जानकारी दी। प्रो॰ एम॰ ज्ञानम ने कहा कि अनुवाद में हिंदी संपर्क भाषा के कारण अधिक उपयोगी है। सूचनापट हिंदी में लगाने, विदेश में हिंदी-शिक्षण बढ़ाने, सांस्कृतिक कार्यक्रम से हिंदी का प्रचार करने और संगोष्ठियों के माध्यम से भाषा-संगम कार्यक्रम करने के सुझाव भी दिए। प्रो॰ सुशीला थामस ने कहा कि विनोबा जी और तिलक जैसे अहिंदीभाषी महापुरुषों ने हिंदी की प्रतिष्ठा बढ़ाई है। प्रो॰ थामस ने स्वतंत्रता के पहले दक्षिण भारत और पूर्वोत्तर में कार्यरत हिंदी संस्थाओं से अवगत करवाया।

विश्व हिंदी सम्मेलन : देश में हो, बालसाहित्य अकादमी की स्थापना

एलेक्सई पेत्रोविच सभागार में बालसाहित्य अकादमी की स्थापना करने की अनुशंसा सर्वसम्मति से की गई। कहा गया कि बालसाहित्य अकादमी आज के बच्चों के मनोविज्ञान, उनके ज्ञान के स्तर और उनकी उम्र तथा उनकी सोच के आधार पर बालसाहित्य के निर्माण, संवर्धन और संरक्षण में बहुआयामी भूमिका निभाए। यह अकादमी पाठ्यक्रमों में बालसाहित्य शामिल किए जाने और ऐसे पाठ्यक्रमों के निर्माण के लिए बाल-साहित्यकारों के साथ समन्वय करे। इस समानांतर सत्र की अध्यक्षता बालपत्रिका चंदामामा के पूर्व संपादक बालशौरि रेड्डी ने की। सत्र की संयोजिका ऊषा पुरी थीं। अनुशंसा की गई कि बालसाहित्य में देशी-विदेशी महापुरुषों, स्वतंत्रता-संग्राम सेनानियों और पौराणिक चरित्रों, भारतीय संस्कृति तथा मानवीय मूल्यों और वैश्विक साहित्य को हरसंभव स्थान मिलना चाहिए। बाल-साहित्यकार बालकों को संस्कारवान बनाने की दिशा में अधिक से अधिक काम करें। बालसाहित्य में स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम आरंभ किए जाने की भी आवश्यकता बताई गई। यह भी अनुशंसा की गई कि बालसाहित्य रचने वाले लेखकों को उनकी किताबों के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए और उन्हें यथोचित सम्मानित भी किया जाना चाहिए।

बालसाहित्य के मानकीकरण और दृश्य-श्रव्य माध्यमों में दिखाए जाने वाले कार्यक्रमों को बच्चों की रुचि, आवश्यकता और योग्यता के अनुसार वर्गीकृत करने के लिए बालसाहित्य बोर्ड जैसी संस्था का गठन करने की भी अनुशंसा की गई।

हिंदी ने विश्व में विकसित कर लिया है अपना राष्ट्र

डॉ॰ प्रेम जन्मेजय ने अलेक्सेई पेत्रोविच वरान्निकोव सभागार में 'विदेशों में हिंदी शिक्षण,

समस्याएँ और समाधान' के आरंभिक सत्र में कहा कि हिंदी ने विश्व में अपना राष्ट्र विकसित कर लिया है। सम्मेलन में 39 देशों की भागीदारी इस बात का प्रमाण है।

हंगरी से आई श्रीमती मारिया नजेशी ने कहा कि 20 लाख की आबादी वाले हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट में 2 हिंदी अध्ययन केंद्र हैं। यूरोप में पिछले 30-35 वर्ष से हिंदी की लोकप्रियता और क्षेत्र बढ़ा है। हंगरी में 1873 में भारोपीय भाषाविज्ञान केंद्र की स्थापना की गई थी। संस्कृत का 140 वर्ष से यहाँ स्थान है। यहाँ 1956 से भारत विद्या अध्ययन प्रमुख विषय के रूप में शामिल हैं। श्रीमती मारिया ने अनेक पुस्तकों का हंगेरियन से हिंदी और हिंदी से हंगेरियन में अनुवाद कर दोनों ही भाषाओं को समृद्ध किया है।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की ओर से थाईलैंड में पदस्थ श्रीमती करुणा शर्मा ने कहा कि थाई भाषा में संस्कृत-पाली के काफ़ी शब्द मिलते हैं। परंतु थाई जैसी बोली जाती है, वैसी पढ़ी नहीं जाती। इसलिए भारत से हिंदी शिक्षक को विदेश पदस्थ करने के पहले तकनीकी रूप से सुप्रशिक्षित करना चाहिए। हिंदी पाठ्यक्रम स्थानीय भाषा, संस्कृति को शामिल करते हुए रोचक बनाया जाए।

सऊदी अरब के श्री इस्माइल ने बताया कि वहाँ के अंतर्राष्ट्रीय भारतीय विद्यालय में 19 हजार छात्र हिंदी की पढ़ाई कर रहे हैं। इसके अलावा 25-30 स्कूलों में भारतीय छात्र सीबीएसई के माध्यम से पढ़ाई कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि हिंदी में भी अन्य विदेशी भाषाओं की तरह अच्छे अंक मिलने चाहिए, जो अभी तुलनात्मक रूप से नहीं मिलते।

मिस्र की श्रीमती गुलनाज अब्दुल मजीद ने कहा कि वहाँ संचालित छमाही हिंदी पाठ्यक्रमों में प्रवेश के साथ ही अगली प्रतीक्षा-सूची भर जाती है। भारतीय लोगों से लोग हिंदी सीख रहे हैं। भारतीय फ़िल्मों की विदेशों में हिंदी के प्रसार में सशक्त भूमिका पर भी सत्र में चर्चा हुई।

डिजिटल इंडिया को सफल बनाने स्मार्ट फोन लोगों के रोजगार का जरिया बने

केंद्रीय संचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी मंत्री श्री रविशंकर प्रसाद ने 'संचार एवं प्रौद्योगिकी में हिंदी' सत्र की अध्यक्षता की। उन्होंने कहा कि कंप्यूटर एवं स्मार्ट फ़ोन उपयोग के मामले में देश के लोग बहुत आगे हैं, हमें उनके साथ चलने की ज़रूरत है। डिजिटल इंडिया के सपने को पूरा करने के लिए हमें स्मार्ट फ़ोन के माध्यम से छोटे कामगारों को रोज़गार उपलब्ध करवाना होगा। श्री रविशंकर प्रसाद ने कहा कि सूचना तकनीक के उपयोग से लोगों का जीवन आसान हुआ है। इसे बढ़ावा देने के लिए संचार विभाग ने सूचना प्रौद्योगिकी में हिंदी के साथ देश की अन्य भाषा में ऑपरेटिंग सिस्टम तैयार किए हैं। लोगों की सुविधा के लिए विभाग ने कंप्यूटर एवं स्मार्ट फ़ोन पर जीवन प्रमाणन, खोया-पाया, ई-बस्ता, ई-छात्रवृत्ति आदि एप्स भी विकसित किए हैं।

प्रो॰ अशोक चक्रधर ने कहा कि देशवासियों के अच्छे दिन लाने के लिए कंप्यूटर का हिंदी की-बोर्ड होना आवश्यक है। कंप्यूटर को बढ़ावा देने के लिए स्कूल स्तर से ही बच्चों को उनकी मातृभाषा में कंप्यूटर का प्रशिक्षण देना होगा। इंटरनेट के आने से अँग्रेजी भाषा कमज़ोर

हुई है और हिंदी को बढ़ावा मिला है। अब विश्व के लोग भारत की भाषा हिंदी में उसके इतिहास, संस्कृति, पर्यटन स्थल आदि के बारे में इंटरनेट से अधिक से अधिक जानकारी लेने लगे हैं। प्रो॰ चक्रधर ने कहा कि भारत सरकार के सी-डेक, संचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी आदि विभाग, विभिन्न कंप्यूटर कंपनियाँ एवं जागरूक लोगों ने कंप्यूटर में हिंदी का उपयोग बढ़ाने के लिए कई सॉफ्टवेयर, एप्स, इंस्क्रिप्ट की-बोर्ड उपलब्ध करवाए हैं। इनका अधिक से अधिक उपयोग करने से हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं का उपयोग कंप्यूटर में बढ़ेगा। सूचना प्रौद्योगिकी में हिंदी के उपयोग को प्रोत्साहित करने में केवल भावुकता से नहीं, बल्कि वैज्ञानिक पद्धति अपनाने से बात बनेगी।

कंप्यूटर विशेषज्ञ श्री बालेंदु शर्मा ने बताया कि इंटरनेट की नई तकनीक से रोज़गार के नए-नए अवसर उपलब्ध हो रहे हैं। कंप्यूटर के उपयोग में हिंदी की माँग पैदा करने से शासकीय विभाग के साथ निजी कंपनियाँ नए-नए सॉफ्टवेयर एवं नई तकनीक लाएँगी। इससे युवाओं को रोज़गार के नए अवसर मिलेंगे।

कंप्यूटर विशेषज्ञ डॉ॰ विजयकुमार मल्होत्रा ने कहा कि सूचना प्रौद्योगिकी में हिंदी के उपयोग को बढ़ाने के लिए उसकी भाषा एवं उच्चारण पर ध्यान देने की ज़रूरत है। उन्होंने कंप्यूटर में हिंदी के उपयोग को प्रोत्साहित करने वाले प्रो॰ सूरजभान सिंह के योगदान का स्मरण किया। उन्होंने बताया कि 'लीला' देश का हिंदी का सबसे अच्छा सॉफ्टवेयर है। इसमें विदेशी भाषाओं को ध्यान में रखकर सुधार करने होंगे।

सत्र में डॉ॰ सुजय लेले ने कहा कि घर-घर में डिजिटाइजेशन को बढ़ावा देने के लिए ज़रूरी है कि कंप्यूटर में हिंदी का अधिक से अधिक उपयोग किया जाए। इसके लिए उन्होंने महाराष्ट्र के रत्नागिरी ज़िले के गाँव में स्वयं पहल कर सफलता प्राप्त की है। डॉ॰ लेले ने कहा कि स्क्रिप्ट की-बोर्ड से कंप्यूटर में फोन्ट की समस्या नहीं आती, इसका ज़्यादा से ज़्यादा प्रचार होना चाहिए। उन्होंने कहा कि कंप्यूटर को बढ़ावा देने हिंदी को दिल के साथ लोगों की रोज़गार की भाषा बनाना होगा।

सत्र में संचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी विभाग की वरिष्ठ वैज्ञानिक डॉ स्वर्णलता, सी-डेक के श्री एम॰डी॰ कुलकर्णी एवं राजभाषा विकास विभाग के श्री केवलकृष्ण ने कंप्यूटर में हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में तैयार किए गए विभिन्न सॉफ्टवेयर, इंस्क्रिप्ट की-बोर्ड आदि के बारे में जानकारी दी। कंप्यूटर विशेषज्ञ श्री हर्षकुमार ने कहा कि कंप्यूटर में उपयोग के लिए हमारी भाषा हिंदी एवं देवनागरी लिपि में कोई कमी नहीं है। इसके लिए हिंदी शब्द का मानकीकरण होना चाहिए। हिंदी में कंप्यूटर को प्रोत्साहित करने के लिए सामान्य बोलचाल की भाषा के शब्दों में हमें ऑपरेटिंग सिस्टम विकसित करने की ज़रूरत है। सत्र में विदेश राज्यमंत्री जनरल वी॰के॰ सिंह के अलावा सत्रसंयोजक डॉ॰ रचना विमल तथा सूचना एवं प्रौद्योगिकी विभाग तथा इस क्षेत्र के विशेषज्ञ और विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राएँ उपस्थित थे।

भारत की विदेश नीति में हिंदी का अधिकतम प्रयोग हो

'विदेश नीति में हिंदी' विषय पर समानांतर सत्र में विशेषज्ञों ने भारत की विदेश नीति में हिंदी के अधिकतम प्रयोग का आग्रह किया। सत्र की अध्यक्षता सांसद श्री सत्यव्रत चतुर्वेदी

ने की। सांसद श्री सत्यव्रत चतुर्वेदी ने कहा कि प्रायः यह धारणा रही है कि विदेश नीति में हिंदी का क्या काम। संविधान में हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया गया है। अधिक से अधिक काम हिंदी में किया जाना आवश्यक है। पत्रकार श्री कुर्बान अली ने कहा कि बीते एक वर्ष में विदेश मंत्रालय में हिंदी का प्रयोग काफी बढ़ा है। विदेश मंत्रालय में मौलिक हिंदी-लेखन भी होने लगा है। उन्होंने विदेश मंत्रालय की वेबसाइट में मौलिक हिंदी-लेखन को और बढ़ाने की आवश्यकता बताई। श्री अली ने इस वेबसाइट पर क्षेत्रीय भाषाओं में भी जानकारी उपलब्ध करवाने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि प्रधानमंत्री और विदेशमंत्री तो हिंदी में बोल रहे हैं, लेकिन विदेश मंत्रालय के अधिकारी आज भी अँग्रेजी अधिक बोलते हैं। इसके अनुवाद में कई बार अर्थ का अनर्थ हो जाता है। श्री ज्ञानेश्वर मुले ने हिंदी प्रचार-प्रसार में राजनयिकों की भूमिका पर बोलते हुए कहा कि हम दूसरे देशों को अपने देश के हितों के बारे में अपनी भाषा में ज्यादा अच्छी तरह बता सकते हैं। उन्होंने कहा कि राजनयिकों को हिंदी में बात करना आना चाहिए। आश्चर्य की बात है कि हम आपस में भी अँग्रेजी में बात करते हैं। जब तक हमारे नेता, उच्चायुक्त, राजदूत और अन्य वरिष्ठ अधिकारी हिंदी नहीं बोलेंगे तब तक हिंदी में सुधार नहीं होगा। उन्होंने विदेश सेवा में हिंदी अभियान चलाने और वैश्विक हिंदी नीति बनाने का सुझाव दिया।

श्री गिरीश्वर मिश्र ने कहा कि भारत एक सर्वप्रभुत्व संपन्न गणराज्य है। जब हम विदेश की बात करते हैं, तो उसमें पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका तथा बड़ी संख्या में ऐसे देश भी शामिल रहते हैं, जहाँ भारतीय रहते हैं। उन्होंने कहा कि अब दुनिया में सारे निर्णय सिर्फ बड़े देश नहीं लेते, कई छोटे-छोटे देश भी आपस में सहयोग कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमें अपनी बात ज़्यादा से ज़्यादा हिंदी में कहना आना चाहिए। श्री मिश्र ने कहा कि अनेक ऐसे देश हैं, जहाँ विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं, लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर कोई बात कही जाती है तो वह वहाँ की राष्ट्रभाषा में होती है, ऐसा ही भारत में होना चाहिए। उन्होंने हिंदी भाषांतरकारों और अनुवादकों की कमी दूर करने के लिए विदेशी भाषाओं को शिक्षा-व्यवस्था में शामिल करने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि स्नातक स्तर पर लोगों को विदेशी भाषाएँ विषय के रूप में पढ़ने को कहा जाए। अनेक देशों में विदेशी भाषाओं के विश्वविद्यालय हैं। भारत में विदेशी भाषाओं के विश्वविद्यालय स्थापित होने चाहिए। उन्होंने कहा कि राजनय की पुस्तकें हिंदी में हों और हिंदी की पुस्तकों को बाहर भेजने की व्यवस्था की जाए।

सरल हिंदी के उपयोग से शासन और जनता के बीच की दूरी खत्म होगी

'प्रशासन में हिंदी' सत्र की अध्यक्षता मुख्यमंत्री श्री शिवराज सिंह चौहान ने की। उन्होंने कहा कि प्रशासन में हिंदी की सरल शब्दावली शासन और जनता के बीच में दूरी खत्म करने का काम करती है। उन्होंने कहा कि हिंदी आम आदमी से संवाद करने और उसे सहज रूप से लाभ पहुँचाने का सशक्त माध्यम है। मुख्यमंत्री ने कहा कि देश की आजादी के पहले शासकों ने अंग्रेजी के माध्यम से जनता से दूरी बनाई और बाद में भी ऐसी मानसिकता पनपी कि अंग्रेजी बोलने वाला श्रेष्ठ होता है। ऐसी मानसिकता आज भी विभिन्न वर्ग के कुछ लोगों में व्याप्त है, जो अंग्रेजी के वर्चस्व के पक्षधर हैं। उन्होंने कहा कि हम किसी भाषा के विरोधी नहीं हैं, लेकिन अंग्रेजी कभी आम जनता की भाषा नहीं बन पाई। मुख्यमंत्री ने कहा कि हिंदी माध्यम के

विद्यार्थियों में प्रतिभा, क्षमता और योग्यता की कोई कमी नहीं होती है। यह बात इस वर्ष प्रदेश के अनुसूचित जाति और जनजाति के दूरस्थ अंचल के विद्यार्थियों ने राष्ट्रीय स्तर की शैक्षणिक संस्थाओं की प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण कर सिद्ध की है। उन्होंने कहा कि हिंदी ज्ञान, विज्ञान और तकनीक की भाषा है। सम्मेलन में आए सुझाव को अमल में लाकर प्रशासन में सरल हिंदी के उपयोग को बढ़ावा दिया जाएगा। श्री राजेंद्रप्रसाद मिश्र ने कहा कि प्रशासन में हिंदी लोकोन्मुखी और कल्याणकारी होनी चाहिए। डॉ॰ रामलखन मीणा ने कहा कि हिंदी समृद्ध भाषा है, इसमें अन्य भाषा के शब्दों को अंगीकार करने की क्षमता है। साथ ही इसमें अभिव्यक्ति और सृजन की अपार क्षमता है। राजभाषा विभाग की संयुक्त सचिव श्रीमती पूनम जुनेजा ने हिंदी के राजभाषा बनने की ऐतिहासिक परिस्थितियों से अवगत करवाया। सांसद डॉ॰ सत्यनारायण जटिया ने कहा कि अब देश में हिंदी का प्रसार बढ़ रहा है। इसरो जैसी संस्था में 92 प्रतिशत पत्राचार में उपयोग करना हिंदी के प्रसार के लिए उत्साहवर्धक है। सत्र का संयोजन डॉ॰ हरीश नवल ने किया। इस अवसर पर विभिन्न प्रतिभागियों ने हिंदी को समृद्ध बनाने के लिए प्रशासन में हिंदी के उपयोग के कई सुझाव दिए।

विश्व हिंदी सम्मेलन का समापन

विश्व हिंदी सम्मेलन का समापन भव्यता के साथ संपन्न हुआ। इस अवसर पर केंद्रीय गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने कहा कि हिंदी भारत की राजभाषा के साथ संपर्क भाषा भी है। भारत की संस्कृति और जीवनमूल्यों का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा हिंदी है। समापन में सम्मेलन के दौरान 12 विषय पर आयोजित सत्रों का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया। गृहमंत्री सिंह ने कहा कि संयुक्त राष्ट्र संघ की अधिकृत भाषा में हिंदी शामिल होनी चाहिए। जब अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस के लिए दुनिया के 177 देश का समर्थन प्राप्त किया जा सकता है तो हिंदी के लिए क्यों नहीं? हिंदी दुनिया में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक है। टेक्नालॉजी कंपनियों ने हिंदी के महत्त्व को समझा है और वे इसे बढ़ावा दे रही हैं। इंटरनेट पर जिस भाषा में सबसे अधिक कंटेंट जनरेट होता है, वह भाषा हिंदी है। भारत में बोली जाने वाली सबसे पुरानी भाषा तमिल है और राष्ट्रीय स्तर पर मातृभाषा संस्कृत है। भौगोलिक और संख्यात्मक दृष्टि से सबसे बड़ी भाषा हिंदी है, जो संस्कृत के सबसे अधिक निकट है। स्वतंत्रता-संग्राम को अखिल भारतीय स्वरूप देने का काम हिंदी ने किया था। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का समर्थन करनेवाले महापुरुषों में अधिकांश अहिंदीभाषी थे। नेतृत्व की कमज़ोरी से हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा प्राप्त नहीं हो सका। हिंदी वैज्ञानिक दृष्टि से सबसे समृद्ध भाषा है। हिंदी के विकास में देश के साथ विदेशियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने कहा कि भारतीय उद्योग अपने सारे उत्पादों का नाम हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं में लिखें। गैर हिंदीभाषी क्षेत्रों में भी लोग हिंदी समझते हैं। अंतर्राष्ट्रीय जगत में हिंदी की प्रतिष्ठा पिछले दिनों बढ़ी है। हिंदी को दूसरे देशों में जीवित रखने में गिरमिटिया लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

हिंदी को बढ़ावा देने के लिए मध्यप्रदेश में हरसंभव प्रयास

मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान ने कहा कि सम्मेलन से हिंदी के प्रति सकारात्मक वातावरण बना है। श्री चौहान ने कहा कि हिंदी को प्रोत्साहित करने और बढ़ावा देने के लिए

मध्यप्रदेश सरकार समाज के साथ मिलकर हरसंभव प्रयास करेगी। उन्होंने कहा कि अँग्रेजी बोलने वाले को श्रेष्ठ समझने की मानसिकता को बदलना होगा। उन्होंने कहा कि हमारे देश की संस्कृति और हिंदीभाषा का गौरवपूर्ण इतिहास है। हिंदी बोलने से सम्मान कम नहीं होता, बल्कि और बढ़ता है। उन्होंने कहा कि सम्मेलन की अनुशंसाओं पर भारत सरकार आवश्यक कार्रवाई करेगी। मध्यप्रदेश सरकार अपने स्तर पर हिंदी को प्रोत्साहित करने के ठोस क़दम उठाएगी। उन्होंने हिंदी को बढ़ावा देने की प्रतिबद्धता ज़ाहिर करते हुए घोषणा की कि प्रदेश में राजभाषा विभाग को पुनर्जीवित किया जाएगा। प्रदेश में उपभोक्ता वस्तुओं का नाम हिंदी में लिखा जाएगा। कंप्यूटर सॉफ्टवेयर हिंदी में बनाए जाएँगे और शासकीय विज्ञापन हिंदी में जारी किए जाएँगे।

उन्होंने घोषणा की कि अटलबिहारी हिंदी विश्वविद्यालय को अंतर्राष्ट्रीय स्तर का संस्थान बनाया जाएगा। हिंदी का उपयोग करना मानव अधिकार माना जाएगा। उच्च न्यायालयों के निर्णय हिंदी में उपलब्ध करवाने के लिए अनुवादक नियुक्त किए जाएँगे। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के शब्दों को परस्पर ग्रहण किया जाएगा। जहाँ पर अँग्रेजी लिखना ज़रूरी होगा, वहाँ हिंदी में प्रमुखता से लिखा जाएगा। मध्यप्रदेश के सभी संस्थानों के नाम हिंदी में लिखे जाएँगे। किसी अधिकारी-कर्मचारी के विरुद्ध हिंदी में बोलने एवं काम करने पर निलंबन जैसी कार्रवाई नहीं की जाएगी। शासकीय पत्राचार हिंदी में किया जाएगा। तकनीकी प्राक्कलन हिंदी में बनाए जाएँगे। मुख्यमंत्री, मुख्य सचिव, प्रमुख सचिव एवं सभी विभागाध्यक्ष हिंदी का प्रयोग करेंगे। प्रदेश में सभी प्रतियोगी परीक्षाएँ हिंदी माध्यम में होगी। विधि अनुवादकों की नियुक्ति की जाएगी। हिंदी अधिकारी नियुक्त किए जाएँगे। प्रदेश में हर वर्ष 14 सितंबर को हिंदी दिवस आयोजित किया जाएगा। हिंदी को प्रोत्साहित करनेवाले व्यक्तियों को हिंदी दिवस पर सम्मानित किया जाएगा। गैर हिंदीभाषी अधिकारियों को हिंदी का विशेष प्रशिक्षण दिया जाएगा। प्रदेश में सभी सूचनाएँ और अधिसूचनाएँ हिंदी में जारी की जाएँगी।

11 **वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन मॉरिशस में**

केंद्रीय विदेश राज्यमंत्री जनरल डॉ॰ वी॰के॰ सिंह ने प्रस्तावित किया कि विश्व हिंदी सम्मेलन में प्राप्त अनुशंसाओं के लिए विदेश मंत्रालय स्तर पर एक विशेष समीक्षा-समिति गठित की जाएगी। यह अनुशंसाओं को विभिन्न मंत्रालयों को अग्रेषित करेगी। वर्ष 2018 में 11वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन मॉरिशस में होगा। उनके इन दोनों प्रस्ताव को सम्मेलन में अनुमोदित किया गया। सांसद एवं आयोजन समिति के उपाध्यक्ष श्री अनिल माधव दवे ने प्रख्यात अभिनेता श्री अमिताभ बच्चन का पत्र पढ़ा। उन्होंने कहा कि अपनी भाषा के सम्मान से ही कोई समाज बड़ा होता है।

बारह विषयों के विमर्श-प्रतिवेदन

प्रस्तुत तीन दिवसीय दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन में 12 विषयों पर समानांतर सत्रों में विमर्श किया गया। इनमें आई अनुशंसाओं को सत्रों के संयोजकों ने समापन अवसर पर प्रस्तुत किया। जिन विषय पर विद्वानों और हिंदी-प्रेमियों ने विमर्श किया, वे इस प्रकार हैं–गिरमिटिया देशों में हिंदी, विदेशों में हिंदी शिक्षण : समस्याएँ और समाधान, विदेशियों के लिए भारत में हिंदी अध्ययन की सुविधा, अन्य भाषा राज्यों में हिंदी, विदेश नीति में हिंदी, प्रशासन में हिंदी, विज्ञान क्षेत्र में हिंदी, संचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी में हिंदी, विधि एवं न्याय-क्षेत्र में हिंदी और भारतीय

भाषाएँ, बालसाहित्य में हिंदी, हिंदी-पत्रकारिता और संचार माध्यमों में भाषा की शुद्धता, देश और विदेश में प्रकाशन : समस्याएँ एवं समाधान।

विश्व हिंदी सम्मान से विभूषित हुए देशी-विदेशी हिंदीसेवी

समारोह में श्री अनूप भार्गव अमेरिका, कु॰ स्नेह ठाकुर कनाडा, डॉ॰ आई॰एन॰एस॰ जर्मनी, डॉ॰ अकीरा साकाखासी जापान, प्रो॰ ऊषादेवी शुक्ल दक्षिण अफ्रीका, सुश्री कमला रामलखन त्रिकास्त तुबेको, डॉ॰ देवंतदास लिथुवानिया, डॉ॰ नीलमकुमारी फिजी, डॉ॰ सारजिक अजामिन माताबदल मॉरिशस, गुलशन सुखलाल मॉरिशस, डॉ॰ इंदिरा गाजियाबादी रूस, इंदिराकुमार दासनायक श्रीलंका, मोहम्मद इस्माइल सउदी अरब, श्री सुरजन परोही सूरीनाम, श्री कैलाशनाथ यू॰के॰ एवं श्रीमती उषा राजे सक्सेना, यू॰के॰ तथा भारत के डॉ॰ प्रभाकर श्रोत्रिय, डॉ॰ प्रभातकुमार भट्टाचार्य, डॉ॰ एन॰ चंद्रशेखरन नायर, डॉ॰ मधु धवन, सुश्री माधुरी जगदीश छेरा, प्रो॰ अनंतराम त्रिपाठी, कुमारी अहम कामे, वरमानंदन कामछा, डॉ॰ नागेश्वरम सुंदरम, प्रो॰ हरिराम मीणा, डॉ॰ व्यासमणि त्रिपाठी, डॉ॰ सुरेशकुमार गौतम, आदित्य चौधरी, डॉ॰ के॰के॰ अग्रवाल, अन्नू कपूर, अरविंदकुमार, माताप्रसाद एवं आनंद मिश्रा अभय को विश्व हिंदी सम्मान से विभूषित किया गया।

इस अवसर पर गृहमंत्री श्री राजनाथ सिंह ने पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री केशरीनाथ त्रिपाठी, श्री राधेश्याम शर्मा और श्री गिरीश उपाध्याय की पुस्तकों का विमोचन भी किया। समापन समारोह में केंद्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्री डॉ॰ हर्षवर्धन, पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री केशरीनाथ त्रिपाठी, गोवा की राज्यपाल श्रीमती मृदुला सिन्हा, छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री डॉ॰ रमनसिंह, हरियाणा के मुख्यमंत्री श्री मनोहरलाल खट्टर, मॉरिशस की शिक्षामंत्री श्रीमती लीलादेवी दूखन लछुमन, संस्कृति राज्यमंत्री श्री सुरेंद्र पटवा, सांसद श्री आलोक संजर, महापौर श्री आलोक शर्मा सहित बड़ी संख्या में जन-प्रतिनिधि, हिंदी के विद्वान और हिंदीप्रेमी उपस्थित थे।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

संपादक

अनुक्रम

दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन, भोपाल के अवसर पर प्रधानमंत्री जी के संबोधन का अविकल पाठ 25

प्रवासी साहित्य : एक सर्वेक्षण / **डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका** 32

हिंदी प्रेमाख्यानकों का उद्‌गम स्रोत / **डॉ॰ अशोक उपाध्याय** 58

बालमनोविज्ञान और बालसाहित्य (हिंदी और पंजाबी बालसाहित्य का संदर्भ)/ **डॉ॰ सुधा जितेंद्र एवं दीपिका सूद** 63

हिंदी बालसाहित्य : इतिहास के आइने में / **डॉ॰ सुरेंद्र विक्रम** 81

21वीं शती के प्रथम दशक के प्रमुख हिंदी बाल-नाटकों में नवीन प्रवृत्तियाँ / **नूतन जैन** 90

सुनीता जैन की कविताओं का मिजाज और उनके तीन काव्य-संकलन / **डॉ॰ प्रमोद त्रिवेदी** 96

गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लों में युग-बोध / **डॉ॰ मधु खराटे** 111

जैनेंद्रकुमार की कहानियों में नारी-पात्रों की अतृप्ति एवं कुंठा / **कु॰ रीना रानी** 120

गढ़वाल अंचल में पत्रकारिता: स्वतंत्रतापूर्व काल के परिपेक्ष्य में एक अवलोकन / **डॉ॰ वंदना सेमल्टी** 125

साहित्य, समाज और संस्कृति के अंत:संघर्ष का द्रष्टा / **डॉ॰ रमेश तिवारी** 129

संपूर्ण भारत को एक सूत्र में बाँधने हेतु दक्षिण भारत में हिंदी : क्यों और कैसे / **डॉ॰ वी॰ जयलक्ष्मी** 138

हिंदी शब्दकोश की रूपसंरचना / **डॉ॰ डी॰एन॰ प्रसाद** 143

छायावादी काव्य एवं छायावादोत्तर काव्य में कल्पना-तत्त्व / **डॉ॰ (श्रीमती) आशुतोष** 150

'त्रिवर्णी' एवं 'कुछ भी सहज नही' को पढ़ते हुए / **डॉ॰ निशा तिवारी** 157

गढ़कवि नरेंद्रसिंह नेगी के काव्य में राजनीतिक चेतना / **कमलेशकुमार मिश्र** 161

दलित समाज द्वारा परिवर्तन का संकल्प और हिन्दी उपन्यास / **डॉ॰ रमाकांत** 167

यथार्थबोध के संदर्भ में नरेश मेहता की कहानियों का विश्लेषण / **अमितकुमार गुप्ता** 171

हिंदी पत्रकारिता-समस्याएँ और समाधान : एक विवेचन / **डॉ॰ (श्रीमती) बीना शर्मा** 176
राजेंद्र अवस्थी एक परिचय / **डॉ॰ दीपशिखा भारद्वाज** 182
उत्तर आधुनिकता / **अमितकुमार राय** 187
मुक्तिबोध : मुक्ति और बोध की कविता/ **कृष्णा कदम** 192
आधुनिक संदर्भ के पक्ष में 'न आने वाला कल' उपन्यास में मानव-संबंधों की जीवंत समस्याएँ / **डॉ॰ राजकुमार** 196
भूषण के काव्य में इतिहास-बोध / **डॉ॰ राजकुमार** 200
परंपराओं और मान्याताओं का वहन करती चंद्रकांता की आत्मकथा 'हाशिए की इबारतें' / **डॉ॰ सुधा जितेंद्र एवं रिचा नांगला** 205
मृदुला गर्ग रचित 'मैं और मैं' उपन्यास में रचनाकार का अंतर्द्वंद्व / **सवितादेवी** 219
डॉ॰ श्यामसुंदर दुबे की रचनात्मकता का उत्कर्ष 'आलोक अनवरत' / **डॉ॰ शिवाजी नामदेव देवरे** 225
कृष्णभक्ति काव्य एवं संगीत के आधारभूत तत्त्व / **डॉ॰ अनीता जौहरी** 234
Communal Harmony: Conceptual and Operational Dimensions **Dr. Geeta Yadav** 240
Caste, Politics And Dominance : A Study Of State Politics in Rajasthan **Dr. Geeta Yadav** 245
मुजफ्फरनगर जिले के एक गाँव का समाजशास्त्रीय अध्ययन / **डॉ॰ अमित मलिक** 255

10 सितंबर 2015

दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन, भोपाल के अवसर पर प्रधानमंत्री जी के संबोधन का अविकल पाठ

दुनिया के कोने-कोने से आए हुए सभी हिंदीप्रेमी भाइयो और बहनो, करीब 39 देशों के प्रतिनिधि यहाँ मौजूद हैं। एक प्रकार का यह हिंदी का महाकुंभ हो रहा है। अभी तो आप सिंहस्थ की तैयारी में हो, लेकिन सिंहस्थ की तैयारी के पहले ही भोपाल की धरती में ये हिंदी का महाकुंभ, उसके दर्शन करने का हमें अवसर मिला है।

सुषमा जी ने सही बताया कि इस बार के अधिवेशन में हिंदीभाषा पर बल देने का प्रयास है। जब भाषा होती है, तब हमें अंदाज़ नहीं होता है कि उसकी ताक़त क्या होती है। लेकिन जब भाषा लुप्त हो जाती है और सदियों के बाद किसी के हाथ वे चीज़ें चढ़ जाती हैं तो हम सबकी चिंता होती है कि आख़िर इसमें है क्या? ये लिपि कौनसी है, भाषा कौनसी है, सामग्री क्या है, विषय क्या है? आज कहीं पत्थरों पर कुछ लिखा हुआ मिलता है तो सालों तक पुरातत्त्व विभाग उस खोज में लगा रहता है कि लिखा क्या गया है? और तब जाकर के भाषा लुप्त होने के बाद कितना बड़ा संकट पैदा होता है, उसका हमें अंदाज़ आता है।

कभी-कभी हम ये चर्चा कर लेते हैं कि भई दुनिया में डायनासोर नहीं रहा तो बड़ी-बड़ी मूवी बनती है कि डायनासोर कैसा था, डायनासोर क्या करता था? जीवशास्त्र वाले देखते हैं कि कैसा था, कुछ आर्टिफ़िशियल डायनासोर बनाकर रखा जाता है कि नई पीढ़ी को पता चले कि ऐसा डायनासोर हुआ करता था। यानि पहले क्या था, इसको जानने-पहचानने के लिए आज हमें इस प्रकार के मार्गों का प्रयोग करना पड़ता है।

अपनी समृद्ध ज्ञान की विरासत को सँजोया जाना ज़रूरी

आज भी हमें सब दूर सुनने के लिए मिलता है कि हमारी संस्कृत भाषा में ज्ञान के भंडार भरे पड़े हैं, लेकिन संस्कृत भाषा को जाननेवाले लोगों की कमी के कारण उन ज्ञान के भंडारों का लाभ हम नहीं ले पा रहे हैं, कारण क्या? हमें पता तक नहीं चला कि हम अपनी इस महान विरासत से धीरे-धीरे कैसे अलग होते गए। हम और चीज़ों में ऐसे लिप्त हो गए कि हमारा अपना लुप्त हो गया। और इसलिए हर पीढ़ी का ये दायित्व बनता है कि उसके पास जो विरासत है, उस विरासत को सुरक्षित रखा जाए, हो सके तो सँजोया जाए और आनेवाली पीढ़ियों में उसको संक्रमित किया जाए। हमारे पूर्वजों ने, वेदपाठ में एक परंपरा पैदा की थी कि वेदों के ज्ञान को पीढ़ी- दर-पीढ़ी ले जाने के लिए वेदपाठी हुआ करते थे और लिखने-पढ़ने की जब सुविधा नहीं थी, कागज की जब खोज नहीं हुई थी तो उस ज्ञान को स्मृति के द्वारा दूसरी पीढ़ी में संक्रमित किया जाता था और पीढ़ियों तक, ये परंपरा चलती रही थी। और इस इतिहास को देखते

हुए, ये हम सबका दायित्व है कि हमारे जितने भी प्रकार के.....कि आज पता चले कि एक पंछी है, उसकी जाति लुप्त होते-होते 100-150 हो गई है तो दुनिया भर की एजेंसियाँ उस जाति को बचाने के लिए अरबों-खरबों रुपया ख़र्च कर देती हैं। कोई एक पौधा, अगर पता चले कि भई उस इलाके में एक पौधा है और बहुत ही कम रह गए हैं तो उसको बचाने के लिए दुनिया अरबों-खरबों खर्च कर देती है। इन बातों से पता चलता है कि इन चीज़ों का मूल्य कैसा है। जैसे इन चीज़ों का मूल्य है, वैसा ही भाषा का भी मूल्य है और इसलिए जब तक हम उसे, उस रूप में नहीं देखेंगे, तब तक हम उसके माहात्म्य को नहीं समझेंगे।

मुझे हिंदी न आती तो लोगों तक कैसे पहुँचता

हर पीढ़ी का दायित्व रहता है, भाषा को समृद्धि देना। मेरी मातृभाषा हिंदी नहीं है, मेरी मातृभाषा गुजराती है, लेकिन मैं कभी सोचता हूँ कि अगर मुझे हिंदीभाषा बोलना न आता, समझना न आता तो मेरा क्या हुआ होता, मैं लोगों तक कैसे पहुँचता। मैं लोगों की बात कैसे समझता और मुझे तो व्यक्तिगत रूप में भी इस भाषा की ताक़त क्या होती है, उसका भली-भाँति मुझे अंदाज़ है और एक बात देखिए, हमारे देश में, मैं हिंदी साहित्य की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, मैं हिंदीभाषा की चर्चा कर रहा हूँ, हमारे देश में हिंदीभाषा का आंदोलन किन लोगों ने चलाया, ज़्यादातर हिंदीभाषा का आंदोलन उन लोगों ने चलाया है, जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं थी। सुभाषचंद्र बोस हों, लोकमान्य तिलक हों, महात्मा गांधी हों, काका साहेब कालेलकर हों, राजगोपालाचार्य हों, सबने, यानि जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं थी, उनको हिंदीभाषा के लिए, उसके संरक्षण और संवर्धन के लिए जो दीर्घ दृष्टि से उन्होंने काम किया था, ये हमें प्रेरणा देता है और आचार्य विनोबा भावे, दादा धर्माधिकारी जी, गांधी दर्शन से निकले हुए लोग, उन्होंने यहाँ तक, उन्होंने भाषा को और लिपि को दोनों की अलग-अलग ताक़त को पहचाना था। और इसलिए एक ऐसा रास्ता विनोबाजी द्वारा प्रेरित विचारों ने डाला था कि हमें धीरे-धीरे आदत डालनी चाहिए कि हिंदुस्तान की जितनी भाषाएँ हैं, वे भाषाएँ अपनी लिपि को तो बरकरार रखें, उसको तो समृद्ध बनाएँ, लेकिन नागरी लिपि में भी अपनी भाषा लिखने की आदत डालें। शायद विनोबाजी के ये विचार, दादा धर्माधिकारी जी का ये विचार, गांधीवादी मूल्यों से जुड़ा हुआ ये विचार, ये अगर प्रभावित हुआ होता तो लिपि भी, भारत की विविध भाषाओं को समझने के लिए और भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए एक बहुत बड़ी ताक़त के रूप में उभर आई होती।

भाषा में भी होती है चेतना

उसी प्रकार से भाषा, हर पीढ़ी ने, देखिए भाषा.....वो जड़ नहीं हो सकती, जैसे जीवन में चेतना होती है, वैसे ही भाषा में भी चेतना होती है। हो सकता है उस चेतना की अनुभूति स्टेथोस्कोप से नहीं जानी जाती होगी। उस चेतना की अनुभूति थर्मामीटर से नहीं नापी जाती होगी, लेकिन उसका विकास, उसकी समृद्धि उस चेतना की अनुभूति कराती है। वो पत्थर की तरह जड़ नहीं हो सकती है। भाषा वो मचलता हुआ हवा का झोंका, जिस प्रकार से बहता है, जहाँ से गुजरता है, वहाँ की सुगंध को अपने साथ लेकर के चलता है, जोड़ता चला जाता है। अगर हवा का झोंका, बगीचे से गुज़रे तो सुगंध लेकर के आता है। वो अपने आपमें समेटता रहता है। भाषा में भी वो ताकत होती है, जिस पीढ़ी से गुज़रे, जिस इलाक़े से गुज़रे, जिस हालात से गुज़रे,

वो अपने आपमें समाहित करती है। वो अपने-आपको पुरस्कृत करती रहती है, पुलकित करती रहती है, ये ताक़त भाषा की होती है और इसलिए भाषा चैतन्य होती है और उस चेतना की अनुभूति आवश्यक होती है।

विदेशों में भी हिंदी में लिखी जा रही हैं किताबें

पिछले दिनों जब प्रवासी भारतीय सम्मेलन हुआ था तो हमारे विदेश मंत्रालय ने एक बड़ा अनूठा कार्यक्रम रखा था कि दुनिया के अन्य देशों में, भारतीय लेखकों द्वारा लिखी गई किताबों का प्रदर्शन किया जाए और मैं हैरान भी था और मैं खुश था कि अकेले मॉरिशस से 150 लेखकों द्वारा लिखी गई किताबों और वो भी हिंदी में लिखी गई किताबों का वहाँ पर प्रदर्शन हो रहा था। यानि दूर-सुदूर इतने देशों में भी हिंदीभाषा का प्यार, हम अनुभव करते हैं। हर कोई अपने-आपसे जुड़ने के क्या रास्ते होते हैं, कोई अगर इस भू-भाग में नहीं आ सकता है, आने के हालात नहीं होते तो कम-से-कम हिंदी के दो-चार वाक्य बोलकर के भी वो अपनी प्रतिबद्धता को व्यक्त कर देता है।

भारतीय भाषाओं के अद्‌भुत व उन्नत शब्द हों हिंदी में शामिल

हमारा यह निरंतर प्रयास रहना चाहिए कि हमारी हिंदीभाषा समृद्ध कैसे बने। मेरे मन में एक विचार आता है कि भाषाशास्त्री उस पर चर्चा करें। क्या कभी हम हिंदी और तमिलभाषा पर कार्यशाला करें और तमिलभाषा में जो अद्‌भुत शब्द हो, उसको हम हिंदीभाषा का हिस्सा बना सकते हैं क्या? हम कभी बांग्लाभाषा और हिंदीभाषा के बीच वर्कशॉप करें और बांग्ला के पास, जो अद्‌भुत शब्द-रचना हो, अद्‌भुत शब्द हो, जो हिंदी के पास न हो क्या हम उनसे ले सकते हैं कि भई ये हमें दीजिए, हमारी हिंदी को समृद्ध बनाने के लिए इन शब्दों की हमें जरूरत है। चाहे जम्मू कश्मीर में गए, डोगरी भाषा में दो-चार ऐसे शब्द मिल जाएँ, दो-चार ऐसी कहावत मिल जाए, दो-चार ऐसे वाक्य मिल जाएँ वो मेरी हिंदी में अगर फिट होते हैं। हमें प्रयत्नपूर्वक हिंदुस्तान की सभी बोलियाँ, हिंदुस्तान की सभी भाषाएँ, जिसमें जो उत्तम चीज़ें हैं, उसको हमें समय-समय पर हिंदी भाषा की समृद्धि के लिए उसका हिस्सा बनाने का प्रयास करना चाहिए। और ये अविरत प्रक्रिया चलती रहनी चाहिए।

सूत्रधार का काम कर सकती है हिंदी

भाषा का गर्व कितना होता है। मैं तो सार्वजनिक जीवन में काम करता हूँ। कभी तमिलनाडु चला जाऊँ और 'वाणक्कम' बोल दूँ, वाणक्कम और मैं देखता हूँ कि पूरे तमिलनाडु में रोमांचक प्रभाव हो जाता है। भाषा की ये ताक़त होती है। बंगाल का कोई व्यक्ति मिले और 'भालो आसी' पूछ लिया, उसको प्रशंसा हो जाती है, कोई महाराष्ट्र का व्यक्ति मिले, 'कसाकाय, काय' चलता है, एकदम प्रसन्न हो जाता है, भाषा की अपनी ताक़त होती है। और इसलिए हमारे देश के पास इतनी समृद्धि है, इतनी विशेषता है, मातृभाषा के रूप में हर राज्य के पास ऐसा अनमोल ख़ज़ाना है, उसको हम कैसे जोड़ें और जोड़ने में हिंदीभाषा एक सूत्रधार का काम कैसे करे, उस पर अगर हम बल देंगे, हमारी भाषा और ताक़तवर बनती जाएगी और उस दिशा में हम प्रयास कर सकते हैं।

चाय बेचते-बेचते सीखी हिंदी

मैं जब राजनीतिक जीवन में आया तो पहली बार गुजरात के बाहर काम करने का अवसर मिला। हम जानते हैं कि हमारे गुजराती लोग कैसी हिंदी बोलते हैं। तो लोग मज़ाक भी उड़ाते हैं, लेकिन मैं जब बोलता था तो लोग मानते थे और मुझे पूछते थे कि मोदी जी आप हिंदीभाषा सीखे कहाँ से, आप हिंदी इतनी अच्छी बोलते कैसे हैं? अब हम तो वही पढ़े हैं, जो सामान्य रूप से पढ़ने को मिलता है, थोड़ा स्कूल में पढ़ाया जाता है, उससे ज़्यादा नहीं। लेकिन मुझे चाय बेचते-बेचते सीखने का अवसर मिल गया। क्योंकि मेरे गाँव में उत्तर प्रदेश के व्यापारी, जो मुंबई में दूध का व्यापार करते थे, उनके एजेंट और ज़्यादातर उत्तर प्रदेश के लोग हुआ करते थे। वे हमें गाँव के किसानों से भैंस लेने के लिए आया करते थे और दूध देनेवाली भैंसों को वे ट्रेन के डिब्बे में मुंबई ले जाते थे और दूध मुंबई में बेचते थे और जब भैंस दूध देना बंद करती थी और फिर वे गाँव में आकर के छोड़ जाते थे। उसके अनुबंध के पैसे मिलते थे। तो ज़्यादातर रेलवे स्टेशन पर ये मालगाड़ी में भैंसों को लाना-ले जाने का कारोबार हमेशा चलता रहता था। उस कारोबार को ज़्यादातर करनेवाले लोग उत्तर प्रदेश के हुआ करते थे और मैं उनको चाय बेचने जाता था। उनको गुजराती नहीं आती थी, मुझे हिंदी जाने बिना चारा नहीं था तो चाय ने मुझे हिंदी सिखा दी थी।

थोड़े प्रयास से सीखी जा सकती है भाषा

भाषा सहजता से सीखी जा सकती है। थोड़ा सा प्रयास करें, कमियाँ रहती हैं, जीवन के आख़िर तक कमियाँ रहती हैं, लेकिन आत्मविश्वास खोना नहीं चाहिए। आत्मविश्वास रहना चाहिए, कमियाँ होंगी, थोड़े दिन लोग हँसेंगे, लेकिन फिर उसमें सुधार आ जाएगा और हमारे यहाँ गुजरात का तो स्वभाव ही था कि दो लोगों का अगर झगड़ा हो जाए, गाँव के भी लोग हों, वे गुजराती में झगड़ा कर ही नहीं सकते हैं, उनको लगता है गुजराती में, झगड़े में, प्रभाव पैदा नहीं होता है, मज़ा नहीं आता है। जैसे ही झगड़े की शुरुआत होती है, तो वे हिंदी में अपना शुरू कर देते हैं। दोनों गुजराती हैं, दोनों गुजराती भाषा जानते हैं, लेकिन अगर ऑटोरिक्शा वालों से भी झगड़ा हो गया, पैसों का तो तू-तू मैं-मैं हिंदी में शुरू हो जाती है। उसको लगता है कि हाँ हिंदी बोलूँगा तो उसको लगेगा हाँ ये कोई दमवाला आदमी है।

मैं इन दिनों विदेश में जहाँ मेरा जाना हुआ। मैंने देखा है कि दुनिया में विदेश का कैसा प्रभाव हो रहा है और कैसे लोग विदेश में हमारी बातों को समझ रहे हैं, स्वीकार कर रहे हैं। मैं गया था मॉरिशस। वहाँ पर विश्व हिंदी साहित्य का सचिवालय अब शुरू हुआ है। उसके मकान का शिलान्यास किया है और विश्व हिंदी साहित्य का एक केंद्र वहाँ पर हम शुरू कर रहे हैं। उसी प्रकार से मैं उज्बेकिस्तान गया था, सेंट्रल ऐशिया में, उज्बेकिस्तान में एक डिक्शनरी का लोकार्पण करने का मुझे अवसर मिला और वह डिक्शनरी थी, उज्बेक से हिंदी और हिंदी से उज्बेक। अब देखिए दुनिया के लोगों का कितना आर्कषण हो रहा है। मैं फूडान विश्वविद्यालय में गया चीन में। वहाँ पर हिंदीभाषा जाननेवाले लोगों की एक अलग बैठक हुई और वे इतना बढ़िया से हिंदीभाषा में लोग, मेरे से बात कर रहे थे यानि उनको भी लगता था कि इसका माहात्म्य कितना है। मंगोलिया में गया, अब कहाँ मंगोलिया है, लेकिन मंगोलिया में भी हिंदीभाषा

का आकर्षण, हिंदी बोलनेवाले लोग ये वहाँ हमें नज़र आए और मेरा जो एक भाषण हुआ वो हिंदी में हुआ। उसका भाषांतर हो रहा था, लेकिन मैं देख रहा था कि मैं हिंदी में बोलता था, जहाँ तालियाँ बजानी थी, वो बजा लेते थे, जहाँ हँसना था वो हँस लेते थे। यानि इतनी बड़ी मात्रा में दुनिया के अलग-अलग देशों में हमारी भाषा पहुँची हुई है और लोगों को उसका एक गर्व होता है। मैं रशिया गया था। रशिया में इतना काम हो रहा है हिंदीभाषा पर। आपको रशिया भाषा में, आप जाएँगे तो सरकार की तरफ़ से हिंदीभाषी रशियन नागरिक को प्रतिनिधि रखते हैं।

सदी के अंत तक लुप्त होंगी कई भाषाएँ

यानि इतनी बड़ी मात्रा में वहाँ हिंदीभाषा और हमारे सिनेजगत् ने, फ़िल्म इंडस्ट्री ने करीब-करीब इन देशों में फ़िल्मों के द्वारा हिंदी को पहुँचाने का काम किया है। सेंट्रल एशिया में तो शायद आज भी बच्चे हिंदी फ़िल्मों के गीत गाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा के रूप में आनेवाले दिनों में हिंदीभाषा का माहात्म्य बढ़नेवाला है। जो भाषाशास्त्री हैं, उनका मत है कि दुनिया में करीब-करीब 6000 भाषाएँ हैं और जिस प्रकार से दुनिया तेज़ी से बदल रही है, उन लोगों का अनुमान है कि 21वीं सदी का अंत आते-आते इन 6000 भाषाओं में से 90 प्रतिशत भाषाओं के लुप्त होने की संभावना दिखाई दे रही है। ये भाषाशास्त्रियों ने चिंता व्यक्त की है कि छोटे-छोटे तबके के लोगों की जो भाषाएँ हैं और भाषाओं का प्रभाव और आवश्यकता बदलती जाती है। टेक्नोलॉजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। विश्व की 6000 भाषाएँ हैं, उसमें से 21वीं सदी आते-आते 90 प्रतिशत भाषाओं के लुप्त होने की संभावना है। अगर इस चेतावनी को हम न समझें और हम हमारी भाषा का संवर्धन और संरक्षण न करें तो फिर हमें भी रोते रहना पड़ेगा। हाँ भाई डायनासोर ऐसा हुआ करता था, फलानी चीज़ ऐसी हुआ करती थी। वेद के पाठ ऐसे हुआ करते थे। हमारे लिए वह आर्कियोलॉजी का विषय बन जाएगा। हमारी वह ताकत खो देगा और इसलिए हमारा दायित्व बनता है कि हम हमारी भाषा को कैसे समृद्ध बनाएँ और चीज़ों को जोड़ें। भाषा के दरवाज़े बंद नहीं किए जा सकते हैं। और जब-जब उसको एक दीवारों के अंदर समेट दिया गया तो भाषा भी बची नहीं और भारत भाषा-समृद्ध भी नहीं बनेगा। भाषा में वो ताक़त होनी चाहिए, जो हर चीज़ों को अपने आपमें समेट ले और समेटने का उसका प्रयास होता रहना चाहिए।

भाषा का होता है व्यापक प्रभाव

विश्व में इन चीज़ों का असर कैसा होता है। कुछ समय पहले इजरायल का जैसे हमारे यहाँ नवरात्रि का त्योहार होता है या दीपावली का होता है। वैसे उनका एक बड़ा महत्त्वपूर्ण त्योहार होता है, हानुकाह। तो मैंने इजरायल के प्रधानमंत्री को सोशल मीडिया के द्वारा ट्विटर पर हिब्रू भाषा में हानुकाह की बधाई दी। तीन-चार घंटे के भीतर-भीतर इजरायल के प्रधानमंत्री का जवाब आया और मेरे लिए खुशी की बात थी कि मैंने हिब्रू भाषा में लिखा था, उन्होंने हिंदीभाषा में धन्यवाद का जवाब दिया।

इन दिनों दुनिया के जिन भी देशों से मुझे मिलने का होता है, वे एक बात अवश्य बोलते हैं सबका साथ सबका विकास। उनकी टूटी-फूटी भाषा उनके उच्चारण करने का तरीक़ा कुछ भी हो, लेकिन सबका साथ, सबका विकास। ओबामा मिलेंगे तो वो भी बोलेंगे, पुतिन मिलेंगे

तो वो भी बोलेंगे। कोशिश करते हैं हम अगर हमारी बातों को लेकर के जाते हैं तो दुनिया इसको स्वीकार करने के लिए तैयार होती है।

अपनी भाषा के बगैर हम बिना जड़ के पेड़ समान

इसलिए हमारी कोशिश होनी चाहिए कि हमारी भाषा को समृद्धि मिले, हमारी भाषा को ताक़त मिले और भाषा के साथ ज्ञान का और अनुभव का भंडार भी होता है। अगर हम हिंदी भी भूल जाते और रामचरितमानस को भी भूल जाते हैं तो हम, जैसे बिना जड़ के एक पेड़ की तरह खड़े होते। हमारी हालत क्या हो गई होती। हमारे जो साहित्य के महापुरुष हैं, अगर आप बिहार के फणीश्वरनाथ रेणु, उनको न पढ़ें तो पता नहीं चलता कि उन्होंने बिहार में ग़रीबी को किस रूप में देखा था और उस ग़रीबी के संबंध में उनकी क्या सोच थी। हम प्रेमचंद को न पढ़ें तो पता तक नहीं चलता कि हम यूँ सोचें कि हमारे ग्रामीण जीवन की अपेक्षाएँ क्या थीं और मूल्यों के लिए अपनी आशा-आकांक्षाओं को बलि चढ़ाने का कैसा सार्वजनिक जीवन का स्वभाव था। जयशंकर प्रसाद हों, मैथिलीशरण गुप्त हों, इसी धरती की संतान, क्या कुछ नहीं देकर गए हैं। लेकिन उन महापुरुषों ने तो हमारे लिए बहुत-कुछ किया। साहित्य सृजकों ने जीवन में एक कोने में बैठकर के मिट्टी का दीया, तेल का दीया जला-जला करके अपनी आँखों को भी खो दिया और हमारे लिए कुछ-न-कुछ छोड़कर गए। लेकिन अगर वह भाषा ही नहीं बची तो इतना बड़ा साहित्य कहाँ बचेगा, इतना बड़ा अनुभव का भंडार कहाँ बचेगा? और इसलिए भाषा के प्रति लगाव भाषा को समृद्ध बनाने के लिए होना चाहिए। भाषा बंद दायरे में सिमटकर रह जाए, ऐसा नहीं होना चाहिए।

डिजिटल दुनिया में भी हो रहा है हिंदी का प्रभाव

आनेवाले दिनों में डिजिटल वर्ल्ड हम सबके जीवन में एक सबसे बड़ा रोल पैदा कर रहा है और करनेवाला है। बाप-बेटा भी आजकल पति-पत्नी भी वट्सअप पर मैसेज भेजते हैं। ट्विटर पर लिखते हैं कि शाम को क्या खाना खाना है। इतने हद तक उसने अपना प्रवेश कर लिया है। जो टेक्नोलॉजी के जानकार हैं, उनका कहना है कि आनेवाले दिनों में डिजिटल वर्ल्ड में तीन भाषाओं का दबदबा रहने वाला है—अँग्रेजी, चाइनीज, हिंदी। और जो भी टेक्नोलॉजी से जुड़े हुए हैं, उन सबका दायित्व बनता है कि हम भारतीय भाषाओं को भी और हिंदीभाषा को भी टेक्नोलॉजी के लिए किस प्रकार से परिवर्तित करें। जितना तेज़ी से इस क्षेत्र में काम करने वाले विशेषज्ञ हमारी स्थानीय भाषाओं को लेकर के हिंदीभाषा तक नए सॉफ्टवेयर तैयार करके, नए ऐप्स तैयार करके जितनी बड़ी मात्रा में लाएँगे। अपने आपमें भाषा एक बहुत बड़ा बाजार बनने वाली है। किसी ने सोचा नहीं होगा कि भाषा एक बहुत बड़ा बाज़ार भी बन सकती है। आज बदली हुई टेक्नोलॉजी की दुनिया में भाषा अपने आपमें एक बहुत बड़ा बाज़ार बननेवाली है। हिंदी भाषा का उसमें एक माहात्म्य रहनेवाला है। और जब मुझे हमारे अशोक चक्रधर मिले, अभी किताब लेकर के उनकी तो उन्होंने मुझे खास आग्रह से कहा कि मैंने सबसे नवीनतम टेक्नोलॉजी यूनिकोड में इसको तैयार किया है। मुझे ख़ुशी हुई कि हम जितना हमारी इन रचनाओं को और हमारे डिजिटल वर्ल्ड को, इंटरनेट को हमारी इन भाषाओं से परिचित करवाएँगे और भाषा के रूप में लाएँगे, हमारा प्रसार भी बहुत तेज़ी से होगा। हमारी ताक़त भी बहुत तेज़ी से बढ़ेगी और इसलिए

भाषा का उस रूप में उपयोग होना चाहिए।

भाषा अभिव्यक्ति का साधन होती है। हम क्या संदेश देना चाहते हैं, हम क्या बात पहुँचाना चाहते हैं, भाषा एक अभिव्यक्ति का माध्यम होती है। हमारी भावनाओं को जब शब्द-देह मिलता है तो हमारी भावनाएँ चिरंजीव बन जाती हैं। और इसलिए भाषा उस शब्द-देह का आधार होती है। उन शब्द-विश्व की जितनी हम आराधना करें, उतनी कम है।

हर किसी को जोड़ने वाली हो हमारी भाषा

आज का ये हिंदी का महाकुंभ विश्व के 39 देशों की हाजिरी में और भोपाल की धरती पर, जिसने हिंदीभाषा को समृद्ध बनाने में बहुत बड़ा योगदान किया है और अन्य भाषाएँ जहाँ शुरू होती हैं, इसके किनारे पर हम बैठे हैं, उस प्रकार से भी इस स्थान का बड़ा महत्त्व है। हम किस प्रकार से सबको समेटने की दिशा में सोचें। हमारी भाषा की भक्ति ऐसी भी न हो कि जो एक्सक्लूसिव हो। हमारी भाषा की भक्ति भी इन्क्लूसिव होनी चाहिए, हर किसी को जोड़ने वाली होनी चाहिए। तभी जाकर के वह समृद्धि की ओर बढ़ेगी, वरना हर चीज़ नाकाम हो जाती है। जब तक ये मोबाइल फ़ोन नहीं आए थे और मोबाइल फ़ोन में जब तक कि कांटेक्ट लिस्ट की, डायरेक्टरी की व्यवस्था नहीं थी, तब तक हम सबको किसी को 20 टेलीफ़ोन नंबर याद रहते थे, किसी को 200 टेलीफ़ोन नंबर याद रहते थे। आज टेक्नोलॉजी आने के बाद, हमें अपने घर का टेलीफ़ोन नंबर भी याद नहीं है। तो चीज़ों के लुप्त होने में देर नहीं होती है और जब ये इतनी बड़ी टेक्नोलॉजी आ रही है, तब चीज़ों को लुप्त होने से बचाने के लिए हमें बहुत सचेत होकर प्रयास करने होंगे।

मैं फिर एक बार इस समारोह को हृदय से शुभकामनाएँ देता हूँ और जैसा सुषमा जी ने विश्वास दिलाया है कि हम एक निश्चित आउटकम लेकर के निकलेंगे और अगला जब विश्व हिंदी सम्मेलन होगा, तब हम धरातल पर कुछ परिवर्तन लाकर के रहेंगे, यह विश्वास एक बहुत बड़ी ताक़त देगा।

इसी एक अपेक्षा के साथ मेरी इस समारोह को बहुत-बहुत शुभकामनाएँ, बहुत-बहुत धन्यवाद।

प्रवासी साहित्य : एक सर्वेक्षण

डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में हिंदी प्रवासी साहित्य की उपस्थिति, उसका सर्वेक्षण और विवेचन उसके स्वतंत्र अस्तित्व के साथ उसकी प्रतिष्ठा एवं महत्त्व का प्रमाण है। बीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक के अंतिम वर्षों में भारत जब स्वतंत्र हुआ तो हिंदी साहित्य में प्रवासी साहित्य का नामोनिशान भी नहीं था, किंतु इधर एक-दो दशकों से हिंदी लेखकों, आलोचकों, संस्थाओं, पत्र-पत्रिकाओं आदि में हिंदी में प्रकाशित प्रवासी साहित्य की चर्चा होने लगी है और दो-चार विरोधी स्वरों के बीच अधिकांश हिंदी-लेखक उसके वैशिष्ट्य को स्वीकार करते हुए उसे हिंदी साहित्य की मुख्यधारा का विस्तार मानने पर बल देते हैं। 'गगनांचल' पत्रिका के मार्च-अप्रैल, 2010 के अंक में प्रकाशित परिचर्चा 'प्रवासी साहित्य: कितना प्रवासी, कितना साहित्य' में एक-दो लेखकों ने हिंदी प्रवासी साहित्य में द्विवेदीयुग के साथ धर्म का प्रभाव देखा है और उनका कहना है कि उसमें परिपक्वता तथा आधुनिक चेतना का अभाव है। एक लेखिका का तो यहाँ तक कहना है कि प्रवासी हिंदी साहित्य अघाए हुए लोगों का साहित्य है। न उसमें द्वंद्व है, न संघर्ष है और उसकी सार्थकता भी नहीं है, क्योंकि ये लेखक मंदिरों-मठों में बैठकर चर्चा करते हैं।'[1] यह हिंदी प्रवासी साहित्य को देखने की नितांत एकांगी तथा पूर्वाग्रही दृष्टि है तथा यह भी कि ये लेखक प्रवासी संसार की वास्तविकताओं से अनभिज्ञ हैं। इस परिचर्चा के अधिकांश हिंदी-लेखकों का यह मत था कि हिंदी प्रवासी साहित्य ने हिंदी-लेखन को व्यापक बनाया है तथा उसे वैश्विक रूप प्रदान किया है। वास्तव में, हिंदी प्रवासी साहित्य तो हिंदी साहित्य की एक शाखा है और हम यदि इस शाखा को काट देंगे तो हिंदी की जड़ें कैसे मजबूत हो सकेंगी। हिंदीभाषा और साहित्य की जड़ें चाहे स्वदेश में हों या परदेश में, वह मजबूत तभी होंगी, जब उसकी शाखाएँ फूलवती और फलवती होंगी। हिंदी प्रवासी साहित्य हिंदी के विराट् संसार का अंग है। उसने अपनी विशिष्ट संवेदना, दृष्टिकोण, परिस्थिति और सृजन-प्रक्रिया के कारण प्रवासी हिंदी साहित्य को एक मौलिक रूप प्रदान करके हिंदी-संसार में अपना योगदान किया है। भारत में रचे जानेवाले हिंदी साहित्य से यह प्रवासी हिंदी साहित्य संवेदना, परिवेश और सरोकार में एकदम भिन्न है, क्योंकि उनकी चिंताएँ, समस्याएँ तथा संघर्ष भारत के लेखक से भिन्न हैं। इस प्रकार हिंदी प्रवासी साहित्य दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है—एक तो वह अपनी मौलिकता और विशिष्टता रखता है और हिंदी साहित्य में कुछ नया जोड़ता है, दूसरे वह हिंदी साहित्य को वैश्विक बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है।

किसी भी भाषा का प्रवासी साहित्य उस समाज के लोगों के प्रवास करने तथा यायावरी वृत्ति के स्वरूप पर निर्भर करता है। वैसे भी, मानव-जाति के इतिहास में मनुष्य की इन दोनों

प्रवृत्तियों ने उसकी सभ्यता व संस्कृति की रूप- रचना में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। मनुष्य में यदि एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने, देखने और रहने की प्रवृत्ति न होती तो उसके जीवन का स्वरूप निश्चय ही भिन्न होता। मानव-जाति के इतिहास में प्रवास की दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—स्वेच्छा से प्रवास और विवशता में प्रवास। भारत से असंख्य धर्म-प्रचारक और व्यापारी स्वेच्छा से विदेश जाते रहे हैं और ऐसे ही लोग विदेशों से भारत आते रहे हैं। भारत का इतिहास विदेशी लुटेरों, धर्म-प्रचारकों, व्यापारियों तथा यात्रियों के भारत-आगमन की घटनाओं से भरा पड़ा है। भारत से जो भी लोग देश के बाहर गए, उनका उद्देश्य धर्म एवं व्यापार था और उनका कोई लक्ष्य राजनीतिक तथा अधिकार करना नहीं था, जबकि दूसरे देशों से आनेवाली जातियों और उनकी सेनाओं का उद्देश्य इस देश की धन-संपत्ति को लूटने के साथ अपने धर्म का विस्तार करना भी था। मनुष्य की प्रवास की इस प्रवृत्ति ने कई देशों के इतिहास बदल दिए और उनकी मूल संस्कृति नष्ट कर दी। विवशता में किए गए प्रवास के उदाहरण भी इतिहास में भरे पड़े हैं। इनमें प्राकृतिक आपदा के साथ मनुष्य द्वारा निर्मित आपदाओं का भी योगदान रहा है। भारत में जब यूरोपियन जातियों का आधिपत्य हो गया तो उन्होंने भारत के साथ-साथ अनेक देशों में अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किए और वे अपने-अपने उपनिवेशी देशों में भारतीयों को छल-कपट से गिरमिटिया मजदूर बनाकर ले गए, इनमें से अधिकांश भारतीयों को यह मालूम नहीं था कि उन्हें कहाँ तथा किस उद्देश्य से जहाज में बिठाकर ले जाया जा रहा है। यह भारतीयों का ऐसा यातनामय प्रवास था कि उन्हें मॉरिशस, फिज़ी, सूरीनाम, त्रिनिडाड, दक्षिण अफ्रीका, ब्रिटिश गयाना आदि देशों में पहुँचकर ही ज्ञात होता था कि उन्हें धोखे में रखकर खेतों में काम करने के लिए मज़दूर बनाकर लाया गया है। ये भारतीय मज़दूर 'इंडियन इंडेचर लेबर सिस्टम' अर्थात् शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत ले जाए गए थे। ये भारतीय लोग अधिकांश रूप से पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार आदि प्रदेशों से गए थे, जिनकी मातृभाषा भोजपुरी थी, किंतु ये लोग अवधी में रची 'रामचरितमानस' तथा 'हनुमान चालीसा' आदि धार्मिक ग्रंथ अपने साथ लाए थे, जो उनके अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा के आधार बने। ये भारतीय मज़दूर अपनी बेकारी, गरीबी, प्रलोभन आदि विभिन्न कारणों से अपनी मातृभूमि को छोड़कर एक अनजानी दुनिया में चले आए थे, लेकिन इस नर्क जैसे वनवास में अपने जहाजी भाइयों के प्रेम, धार्मिक ग्रंथों से प्राप्त जीवन-शक्ति तथा बैठकाओं की सामुदायिकता आदि से अपनी भारतीयता और जीवन-संस्कृति को कायम रख सके। मॉरिशस के प्रसिद्ध विद्वान डॉ॰ ठाकुरदत्त पांडेय ने लिखा है कि उनके भारतीय पूर्वज तुलसीकृत 'रामचरितमानस' तथा 'हनुमान चालीसा' से प्रभु राम का गुणानुवाद करते हुए अपने संपूर्ण कष्टों एवं पीड़ाओं को धैर्य के अश्रुओं से दूर करते थे और इस प्रकार की चौपाइयों से भौतिक एवं आध्यात्मिक उद्बोधन प्राप्त करते थे—'अब कछु नाथ न चहिए मोरे, दीनदयाल अनुग्रह तोरे।'[2]

भारत के इन अशिक्षित, निर्धन, सीधे-सरल व्यक्तियों के साथ उन्नसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में अँग्रेजी शिक्षित युवकों ने इंग्लैंड आदि देशों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने, बैरिस्ट्री करने तथा उसके बाद भारत लौटकर अँग्रेजी सरकार में उच्च पदों पर नौकरी करने के निमित्त जाना आरंभ किया। इन युवकों में मोहनदास करमचंद गांधी जैसे युवक भी थे, जो बैरिस्ट्री करने के लिए इंग्लैंड गए थे और वीर सावरकर जैसे क्रांतिकारी भी थे, जो भारत की स्वतंत्रता का स्वप्न देख रहे थे। भारत की स्वतंत्रता के उपरांत देश के शिक्षित युवक इसी प्रकार इंग्लैंड,

अमेरिका आदि देशों में जाते रहे, जिनमें हरिवंशराय 'बच्चन' के समान कुछ युवक पीएच॰डी॰ की उच्च डिग्री तथा शिक्षा प्राप्त करके भारत लौट आए और देश में रहकर लोकतंत्र को चलाने में सहायक बने, लेकिन विदेश जानेवाले इन शिक्षित युवकों में एक बड़ी संख्या उन युवकों की भी थी, जो वहाँ शिक्षा प्राप्त करके वहीं का सुख-समृद्धिपूर्ण जीवन जीने का लक्ष्य लेकर गए थे। अब स्थिति यह है कि इन देशों में भारतीयों की पहली और दूसरी पीढ़ी वहीं की नागरिक हो गई है और वे वहाँ जीवन एवं विकास में योगदान करते हुए अपनी भारतीय पहचान बनाए रखने के लिए कटिबद्ध हैं। उनके हृदय में अपने देश की स्मृति है और वे अपनी संस्कृति, धर्म, अस्मिता तथा भाषा के प्रति समर्पित हैं, क्योंकि इसी आधार पर वे अपनी भारतीय पहचान बनाकर रख सकते हैं। ये भारतीय प्रायः अपने घरों में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं और चाहते हैं कि बच्चों में भी यही प्रवृत्ति बनी रहे। ये यदाकदा अपनी संवेदनाओं तथा अनुभूतियों को अपनी मातृभाषा हिंदी में अभिव्यक्त करते रहे हैं। यहाँ यह ध्यान रखने कि बात है कि इन सभी भारतीय प्रवासियों एवं भारतवंशियों की आजीविका की भाषा अँग्रेजी है तथा वहाँ के दैनिक जीवन में भी हिंदीभाषा का प्रयोग नहीं होता है, फिर भी ये अपने देश एवं भाषाप्रेम के कारण अपनी अभिव्यक्ति के लिए हिंदीभाषा का चयन करते हैं, परंतु इस समानता के अतिरिक्त गिरमिटिया मज़दूरों और उनकी संतान-लेखकों तथा यूरोप-अमेरिका आदि पूँजीपति देशों में रहनेवाले प्रवासी हिंदी-लेखकों में और कोई समानता नहीं है। इन दो प्रकार के प्रवासी हिंदी-लेखकों का इतिहास, परिवेश, परिस्थिति, शिक्षा, भाषा, आधुनिकता आदि सभी में बड़ा भारी अंतर है। मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम, त्रिनिडाड आदि देशों में जानेवाले भारतीय अशिक्षित एवं निर्धन श्रमिक थे, देहाती लोग थे जिन्हें भ्रम एवं प्रलोभन में रखकर मातृभूमि से हजारों मील दूर जहाज में भेड़-बकरियों की तरह भरकर भेज दिया गया था। इन भारतीयों को गोरे मालिकों ने एक प्रकार से गुलाम बनाकर रखा और इन्हें घोर बदहाली, अपमान तथा यातना का जीवन जीना पड़ा। केवल मॉरिशस में ही सन् 1834 से 1910 तक 4,47,794 भारतीय स्त्री-पुरुष प्रवासी के रूप में पहुँचे थे, जो शर्तबंद मजदूर थे। इनमें से लगभग 1,70,000 स्त्री-पुरुष मॉरिशस में अपना खून-पसीना बहाकर भारत लौट आए थे। यूरोप एवं अमेरिका जानेवाले भारतीयों के सम्मुख ऐसी कोई दारुण व्यथा एवं विवशता नहीं थी और वे जब चाहें अपने देश लौट सकते थे। हाँ, कभी-कभी उन्हें महात्मा गांधी के समान गोरी चमड़ी के नस्लवाद का शिकार होना पड़ता था। इस कारण इन दोनों प्रकार के प्रवासी भारतीयों एवं भारतवंशियों के हिंदी साहित्य की प्रेरणाभूमि, परिवेश, परिस्थिति, कथानक, पात्र, संवेदना, सरोकार एवं जीवन-दृष्टि भिन्न-भिन्न है, क्योंकि इसके मूल में एक कारण यह भी है कि अमेरिका एवं यूरोप के पूँजीवादी देशों तथा मॉरिशस-फिज़ी-सूरीनाम आदि देशों की रूप-रचना, इतिहास, जीवन-शैली, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन, विकास का स्तर सभी में कोई समानता नहीं है, परंतु इनके साहित्य तथा इनकी सर्जनात्मकता में एक ऐसी समानता है, जो इनकी भिन्नता को एकरूपता में बदल देती है और वह है इन लेखकों का भारत-प्रेम, भारत की धर्म-संस्कृति-भाषा से प्रेम और भारत को एक सुखी, समृद्ध एवं शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में देखने की कामना। भारत से बाहर सौ-डेढ़-सौ वर्ष पूर्व जानेवाले भारतीय श्रमिकों तथा उनके वंशजों तथा कुछ दशक पूर्व पूँजीवादी देशों में शिक्षा एवं सुखद भविष्य का स्वप्न लेकर जानेवाले भारतीयों को उनका स्वदेश तथा उनकी भाषा-संस्कृति ही उन्हें एक सूत्र में बाँधती है और उनका

साहित्य हम हिंदी प्रवासी साहित्य में सम्मिलित करते हैं।

विश्व के अनेक देशों में पहुँचे इन भारतवंशियों के संसार से संपर्क का रास्ता आधुनिककाल में महात्मा गांधी ने खोला, जब वे उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में भारतीय प्रवासियों की मदद के लिए दक्षिण अफ्रीका गए थे और वहाँ भारतीय व्यापारियों तथा गिरमिटिया मज़दूरों के स्वत्व, स्वाभिमान एवं अधिकारों के लिए अहिंसक संघर्ष किया था। गांधी एकमात्र ऐसे भारतीय थे, जिनका संपर्क एवं संबंध इंग्लैंड आदि यूरोपीय देशों में जाने-रहनेवाले शिक्षित भारतीयों के साथ-साथ मॉरिशस, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में जाकर व्यापार करनेवाले भारतीयों और गिरमिटिया मज़दूरों के साथ था। गांधी ने दक्षिण अफ्रीका से अँग्रेजी-हिंदी-तमिल भाषाओं में 'इंडियन ओपिनियन' साप्ताहिक पत्र निकालकर भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों के स्वाभिमान एवं अधिकार की लड़ाई को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचा दिया और भारत आकर 'इंडियन नेशनल काँग्रेस' के 1901 के अधिवेशन में इन प्रवासी गिरमिटिया मज़दूरों के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकृत कराया। वे जब 1909 में इन्हीं गिरमिटिया मज़दूरों के लिए बातचीत करने इंग्लैंड गए तो लंदन में वीर सावरकर आदि भारतीय युवकों और वहाँ रहनेवाले अन्य भारतीयों से उन्होंने बातचीत की और व्याख्यान भी दिए। गांधी ने इंग्लैंड से लौटते समय पानी के जहाज पर ही 'हिंद स्वराज्य' पुस्तक की रचना की, जो प्रमुख रूप से भारतीयों की दृष्टि में रखकर ही लिखी गई थी। गांधी अक्टूबर, 1901 में स्वयं मॉरिशस गए थे और वहाँ भारतीय मज़दूरों की एक सभा में भाषण दिया था। गांधी ने माणिकलाल डॉक्टर को अक्टूबर, 1907 में मॉरिशस भेजा और उन्होंने वहाँ चार वर्ष रहकर प्रवासी भारतीय मज़दूरों में मुक्ति-चेतना की आधारशिला रख दी। इन आरंभिक प्रयासों ने भारतीय प्रवासियों में एक नई चेतना, एक स्वत्व एवं स्वतंत्रता का भाव, अपनी संस्कृति तथा भाषा की रक्षा की आकांक्षा उत्पन्न कर दी और भारत की पत्र-पत्रिकाओं में मॉरिशस, फिज़ी आदि देशों में भारतीयों के संबंध में लेख प्रकाशित होने लगे। 'मर्यादा' पत्रिका ने जून 1922 में तथा 'चाँद' पत्रिका ने जनवरी, 1926 में 'प्रवासी अंक' निकालकर पूरे देश का ध्यान प्रवासी भारतीयों की ओर आकर्षित किया। यहाँ तक कि प्रेमचंद जैसा कथाकार भी अछूता नहीं रहा और उन्होंने 'चाँद' के प्रवासी अंक के लिए 'शूद्रा' कहानी लिखी, जो मॉरिशस गए भारतीय मज़दूरों की यातना, विवशता एवं सतीत्व की दृढ़ता पर लिखी गई थी। भारतीय भाषाओं में संभवत: यह पहली कहानी थी, जो किसी बड़े साहित्यकार द्वारा गिरमिटिया मज़दूरों के छल-कपटपूर्ण प्रवास में गोरों द्वारा अमानवीय शोषण की वास्तविकता को पाठकों तक पहुँचा रही थी।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में पं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी ने इस प्रवासी संसार की दिशा में जागृति उत्पन्न करने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए। उन्होंने यह कार्य सन् 1914 में आरंभ किया और बाईस वर्षों तक अर्थात् सन 1936 तक प्रवासी भारतीयों के उत्थान, कल्याण तथा संपर्क के लिए कार्य करते रहे। संयोग कुछ ऐसा हुआ कि 15 जून, 1914 को उनकी भेंट पं॰ तोताराम से हुई, जो फिज़ी द्वीप में 21 वर्ष रहकर भारत लौटे थे। चतुर्वेदी जी ने 15 दिन तक उनके संस्मरण लिखे और वे सन् 1914 में ही 'फिज़ी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। संभवत: प्रवासी भारतीयों के दु:ख-दर्द पर लिखी गई हिंदी में यह पहली पुस्तक थी, जो एक प्रवासी भारतीय के द्वारा लिखी गई थी। इसके बाद पं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'प्रवासी भारतवासी' 1918, 'फिज़ी में भारतीय' तथा 'फिज़ी की समस्या' पुस्तकें लिखीं और वहाँ के

प्रवासी भारतीय मज़दूरों की समस्याओं की ओर देश का ध्यान आकर्षित किया। महात्मा गांधी के दक्षिण अफ्रीका से भारत आने के बाद चतुर्वेदी जी उनके संपर्क में आए और 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' में 'प्रवासी विभाग' खोलने का प्रस्ताव किया, जो सन् 1922 में हुई कानपुर काँग्रेस में स्वीकृत हुआ, परंतु इसकी कमेटी में केवल नेताओं को ही रखा गया। गांधीजी ने पं॰ चतुर्वेदी से कहा कि ये काँग्रेसवाले स्वयं तो कुछ करेंगे नहीं और न तुम्हें ही करने देंगे, और यही हुआ। आगे चलकर कलकत्ता काँग्रेस में पं॰ जवाहरलाल नेहरू के प्रस्ताव पर प्रवासी विभाग तो स्थापित हुआ पर कुछ काम हुआ नहीं। चतुर्वेदी का 'प्रवासी भवन' [4(क)] के निर्माण का स्वप्न भी साकार नहीं हुआ, जो बाद में बालेश्वर अग्रवाल ने पूरा किया। भारत के स्वतंत्र होने पर डॉ॰ लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जब लोकसभा के सदस्य बने तो उन्होंने प्रवासी भारतीयों के लिए 'भारतवंशी' शब्द का प्रयोग कर उन्हें भारत का अंग घोषित किया, लेकिन भारत सरकार की विदेश नीति ऐसी रही कि उसमें इन अधिकांश हिंदू प्रवासियों के धर्म, संस्कृति तथा भाषा से पूर्ण भारतीयता के प्रति सरकार की कोई सहानुभूति और आत्मीय भाव नहीं रहा। मॉरिशस के प्रसिद्ध हिंदी-लेखक अभिमन्यु अनत ने 'वसंत' त्रैमासिक पत्रिका के 'अप्रवासी विशेषांक' (अंक-41, वर्ष : 1984) में लिखा था कि मॉरिशस के भारतीय मूल के लोग अपनी भारतीयता को कायम रखने के लिए अपनी भाषा एवं संस्कृति के साथ जुड़ते हुए मॉरिशसीयता के साथ रहते हैं।[4] इसका ज्वलंत प्रमाण यह है कि सन् 2001 में मॉरिशस की संसद ने एक अधिनियम बनाकर 'रामायण सेंटर' की स्थापना की, जो इस तथ्य का द्योतक है कि देश की सर्वोच्च वैधानिक संस्था हिंदूधर्म के महान् ग्रंथ को कितना महत्त्व देती है। इस 'रामायण सेंटर' के अध्यक्ष राजेंद्र अरुण ने लिखा है कि मॉरिशस, गयाना, फिज़ी, सूरीनाम, त्रिनिडाड और दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में 'रामायण' के द्वारा हिंदूधर्म की जयपताका फहरानेवाले अपढ़, असहाय प्रवासी भारतीय मज़दूर ही थे, जो गन्ने के खेतों में काम करने के लिए इन देशों में अँग्रेजी सरकार द्वारा भेजे गए थे। मॉरिशस तो विश्व में रामायण का देश माना जाता है, जहाँ प्रतिदिन घरों, मंदिरों और सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के केंद्रों में रामायण का पाठ चलता रहता है। सभी गाँवों-नगरों में रामायण-मंडलियाँ बनी हुई हैं, जो नियमित रूप से घर-घर जाकर रामायण का सत्संग करती हैं।[5] 26 जून, 2010 को त्रिनिडाड और टोबैगो की नवनिर्वाचित महिला प्रधानमंत्री कमलाप्रसाद बिसेसर ने अपने हाथ में गीता लेकर अपने पद की शपथ ली। अत: मॉरिशस, फिज़ी, सूरीनाम, त्रिनिदाद आदि देशों में भारतवंशियों की इन धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भाषिक जड़ों को समझे बिना हम उनके जीवन तथा साहित्य के मर्म को नहीं समझ सकते।

देश की केंद्रीय सत्ता का नेतृत्व जब अटलबिहारी वाजपेयी ने प्रधानमंत्री के रूप में किया तथा डॉ॰ लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने इंग्लैंड में भारतीय उच्चायुक्त का पद सँभाला तो प्रवासियों के संबंध में एक नए युग का आरंभ हुआ। डॉ॰ सिंघवी ने जब इंग्लैंड में अपना पद ग्रहण किया तो वहाँ हिंदी की स्थिति की जानकारी देते हुए मुझे लिखा, 'यहाँ हिंदी में पत्राचार और बातचीत तथा वक्तव्यों का सिलसिला शुरू करने की कोशिश मैंने की है, किंतु यहाँ हिंदी के लिए संभावनाएँ बहुत सीमित हैं। यदि पत्र लिखवाना चाहूँ तो न कोई शीघ्र लिपिक है, न कोई कामचलाऊ यंत्र। एक पुरातनी जर्जर मशीन है, जिसे किसी अजायबघर में भेजना असंगत नहीं होगा। यहाँ अधिकांश भारतवंशी लोग या तो पंजाबीभाषी हैं या गुजरातीभाषी। कल रात मैंने एक भाषण हिंदी और अँग्रेजी को मिलाकर दिया। मुझे भाषाओं का अंधाधुंध मिश्रण अटपटा लगता है, किंतु हिंदी के प्रयोग को

प्रचलित करने के लिए यह भी करना पड़ा। सामान्य बातचीत में हिंदी का प्रयोग अवश्य होता है, अन्यथा नगण्य-सा।'[6] इन परिस्थितियों के बीच डॉ॰ सिंघवी ने 28 जून, 1992 को अपने लंदन स्थित निवास पर अटलबिहारी वाजपेयी का एकल काव्यपाठ कराकर तो इतिहास ही रच डाला। उन्होंने लंदन में हिंदी की संस्थाओं की स्थापना कराई, कवि-सम्मेलन कराए, हिंदी-लेखकों को इंग्लैंड आमंत्रित किया, प्रवासी हिंदी लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित कराने की व्यवस्था की और हिंदीभाषा-साहित्य के विकास के लिए सदैव तत्पर रहे। इस दृष्टि में डॉ॰ सिंघवी ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अटलबिहारी वाजपेयी ने प्रधानमंत्री बनने पर उन्हें प्रवासी भारतीयों की समस्याओं की जाँच करने तथा उन्हें हल करने के लिए सुझाव देने के निमित्त एक उच्चस्तरीय समिति का अध्यक्ष बनाया और उन्होंने 'डायसपोरा रिपोर्ट' के नाम से छः सौ पृष्ठों की रिपोर्ट प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी को सौंपी। भारत सरकार ने इस रिपोर्ट को स्वीकार किया और देश के प्रवासियों एवं भारतवंशियों के सम्मान एवं मिलन के लिए 9-11 जनवरी, 2013 को पहला 'प्रवासी भारतीय दिवस' नई दिल्ली में आयोजित किया। विश्व के लगभग 110 देशों में रहनेवाले लगभग दो करोड़ भारतवंशी प्रवासियों ने पहली बार अनुभव किया कि उनकी मातृभूमि उन्हें भूली नहीं है। 'वसंत' त्रैमासिक पत्रिका (मॉरिशस) के संपादक डॉ॰ बीरसेन जागासिंह ने 'प्रथम प्रवासी भारतीय दिवस' का अभिनंदन करते हुए अपने संपादकीय में लिखा था कि गिरमिटियों के वंशजों की तीन-चार पीढ़ियों के बाद भी 'भारतमाता' को विस्मृत नहीं किया गया। उन दरिद्र परंतु स्वाभिमानी गिरमिटियों के बच्चों ने आज भी भारतीयता की ज्योति जलाए रखी है। हिंदी का झंडा फहराए रखा है, भारतीय संस्कृति की ध्वजा लहराए रखी है और उनमें से अधिकतर ने हिंदुत्व को 'धर्मो रक्षति रक्षितः' के अनुसार सुरक्षित रखा है।'[7] वाजपेयी ने इसके उद्घाटन पर मॉरिशस के प्रधानमंत्री सर अनिरुद्ध जगनाथ का सम्मान किया और इस प्रकार संपूर्ण भारतीय प्रवासी संसार के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस समारोह के कुछ समय बाद 5-9 जून, 2003 को सूरीनाम में सातवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन हुआ और इस अवसर पर मेरे संपादन में 'विश्व हिंदी रचना' शीर्षक से पुस्तक रूप में पहली बार वैश्विक स्तर पर भारत के हिंदी प्रवासी लेखकों का एक प्रतिनिधि संकलन भारत सरकार ने प्रकाशित किया। मैंने इसकी भूमिका में लिखा, 'विश्व हिंदी-रचना' के प्रकाशन का मूल उद्देश्य यही है कि भारतेतर देशों में आप्रवासी हिंदी-लेखकों ने जो अपने हिंदीप्रेम तथा हिंदीनिष्ठा से हिंदी में सर्जनात्मक साहित्य का छोटा-सा किंतु विश्व में चारों ओर फैला हुआ आकाश निर्मित किया है, उसे विश्व हिंदी रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाए।'[8] 'विश्व हिंदी रचना' में भारत से बाहर के तेरह देशों में जन्मे तथा रहनेवाले प्रवासी हिंदी-लेखकों की विविध विधाओं की सैकड़ों रचनाओं को संकलित किया गया और पहली बार भारत ही नहीं, भारतेतर देशों के हिंदी-लेखकों एवं पाठकों के समाज इससे परिचित हुए।

विश्व की प्रमुख भाषाओं में हिंदीभाषा की स्थिति काफी मजबूत है।[9] हिंदीभाषा का अध्ययन-अध्यापन विश्व के 46 से अधिक देशों में होता है, परंतु सभी देशों में हिंदी में साहित्य की रचना नहीं होती। हिंदी के प्रवासी साहित्य के सर्वेक्षण के लिए भारतेतर देशों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. गिरमिटिया मज़दूरों के देशों का हिंदी साहित्य : इनमें मॉरिशस, फिज़ी, सूरीनाम, गयाना, दक्षिण अफ्रीका, त्रिनिडाड एंड टुबैगो आदि देश आते हैं। 2. भारत के पड़ोसी देशों का

हिंदी साहित्य : इन देशों में नेपाल, पाकिस्तान, बंगलादेश, भूटान, श्रीलंका, म्याँमार (बर्मा) आदि देशें की गणना की जाती है। 3. विश्व के अन्य महाद्वीपों का हिंदी साहित्य : इन महद्वीपों को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है–(क) अमेरिका महाद्वीप : संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा, मैक्सिको, क्यूबा आदि। (ख) यूरोप महाद्वीप : रूस, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड, नीदरलैंड, नार्वे, डेनमार्क, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड, स्वीडन, फिनलैंड, इटली, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रोमानिया, बल्गारिया, उक्रेन, क्रोशिया आदि। (ग) मध्य-एशिया के देशों का हिंदी साहित्य : इनमें अधिकांश मुस्लिम देश हैं–ईराक, ईरान, आबूधाबी, टर्की आदि। (घ) एशिया महाद्वीप : चीन, जापान, कोरिया, थाईलैंड आदि। (ङ) आस्ट्रेलिया : आस्ट्रेलिया आदि।

गिरमिटिया मज़दूरों के देशों का हिंदी साहित्य

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से भारतीयों को हजारों-लाखों की संख्या में गिरमिटिया मज़दूर के रूप में मॉरिशस, फिज़ी, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में, छल-प्रलोभन में फाँसकर, ले जाना शुरू किया। मॉरिशस में सन् 1834 से 1910 के बीच लगभग 4,50,000 भारतीय प्रवासी पहुँचे, और इसी प्रकार गयाना में 1838, त्रिनिदाद में 1845, दक्षिण अफ्रीका में 1860, सूरीनाम में 1873 और फिज़ी में 1870 में भारतीय मज़दूरों का पहला जत्था पहुँचा।[10] ये सभी भारतीय एक ही जैसी परिस्थितियों में कोलकाता तथा चैन्नई के बंदरगाहों से जहाज में जानवरों की तरह लादकर इन देशों में भेजे गए थे। कुछ तो रास्ते में ही मर गए और जो बचे वे बुरे हाल में अपने गंतव्य पहुँचे और तुरंत ही उन्हें गोरे मालिकों को सौंप दिया गया। मॉरिशस के डॉ॰ उदयनारायण गंगू ने लिखा है कि इन भारतीयों के साथ गुलामों जैसा व्यवहार किया गया, छोटी-सी भूल पर उन पर छड़ी और कोड़ों की मार पड़ती, रहने के लिए फूस की एक झोंपड़ी मिलती, जिसमें रस्सी की एक खाट और भोजन पकाने के लिए एक हाँडी होती। इस कोठरी में कई लोग साथ में रहते और वह रोग का घर बन जाती।[11] ऐसी दुर्दशा तथा घोर दासत्व की स्थिति में रहनेवाले भारतीय मज़दूर अधिकांशत: पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के थे, जो भोजपुरी भाषी थे, किंतु कुछ लोग दक्षिण भारत और महाराष्ट्र के भी थे। इनमें कुछ भारतीय मज़दूर अपने साथ 'रामचरितमानस', 'हनुमान चालीसा', 'आल्हा', 'सत्यनारायण कथा', 'महाभारत', 'गीता', 'सुखसागर' आदि ग्रंथ ले गए थे, जिनके कारण ये भारतीय विपत्ति, शोषण और व्यथा को सहन करने का साहस तथा अपनी संस्कृति एवं भाषा को जीवित रखने का अटूट संकल्प कर सके। [12]

माणिकलाल डॉक्टर, स्वामी मंगलानंद, डॉ॰ चिरंजीव भारद्वाज दंपती, पं॰ आत्माराम विश्वनाथ, स्वामी स्वतंत्रानंद, पं॰ काशीनाथ किश्तो, पं॰ रामअवध शर्मा, कुँवर महाराज सिंह, मेहता जैमिनी, स्वामी विज्ञानानंद, बेनी माधो सुतीराम, श्रीनृसिंह दास, सनातनधर्म सभा, आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्य परोपकारिणी सभा, पत्र-पत्रिकाओं, नाटकों, फिल्मों आदि ने मॉरिशस में हिंदीभाषा के अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य-रचना की नींव रखी। पं॰ उमाशंकर गिरजानन, पं॰ श्रीनिवास जगदत्त, नेमनारायण 'गुरुजी', जयनारायण राय, मोहनलाल मोहित, गिरधारी भगत, लेखमन भगत, सूर्यप्रसाद मंगर भगत, ब्रजेंद्रकुमार भगत 'मधुकर', शिवसागर रामगुलाम, प्रो॰ वासुदेव विष्णुदयाल, सोमदत्त बखोरी, प्रो॰ रामप्रकाश आदि अनेक हिंदी प्रेमियों एवं देशभक्तों ने हिंदीभाषा एवं साहित्य की धारा को आगे विकसित किया, हिंदी-शिक्षण का विस्तार किया और हिंदी-लेखकों की

पीढ़ियाँ तैयार कीं। आज मॉरिशस के अनेक स्कूलों में हिंदी पढ़ाई जाती है, महात्मा गांधी संस्थान में स्नातक, स्नातकोत्तर कक्षाओं के साथ हिंदी में शोधकार्य भी कराया जाता है।

मॉरिशस की हिंदी-कविता का इतिहास 'होली' कविता से ही आरंभ होता है जो 'गणेशी' उपनामधारी किसी कवि ने लिखी थी। हिंदी-कविताओं को खोजने का महत्त्वपूर्ण कार्य मॉरिशस के प्रह्लाद रामशरण ने किया है। इनके संपादन में दो काव्य-संग्रह छपे हैं–'मॉरिशस का आदिकाव्य-कानन' तथा 'मॉरिशस के मध्यकालीन काव्य-प्रसून'। इनका प्रकाशन सन् 1997 में हुआ। 'मॉरिशस का आदिकाव्य-कानन' पुस्तक में 1913 से 1930 के बीच प्रकाशित 110 कविताएँ संकलित हैं, जो तीस से अधिक नामधारी एवं पच्चीस अनामधारी कवियों द्वारा लिखी गई हैं। लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी 'रसपुंज' के काव्य-संग्रह 'रसपुंज कुंडलियाँ' 1923 एवं 'शताब्दी सरोज' 1935, पं॰ जदुनंदन शर्मा की 'कृष्णा की वंशी' 1934 तथा 'वंशी-तान' 1934 काव्य-पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। इन काव्य-रचनाओं में यद्यपि भोजपुरी, खड़ीबोली, अवधी, क्रियोली आदि भाषाओं का सम्मिश्रण है, किंतु यह महत्त्वपूर्ण है कि खड़ीबोली हिंदीकाव्य की भाषा बनी और भावी कवियों द्वारा उसे अपनाने का मार्ग प्रशस्त किया। 'मॉरिशस के मध्यकालीन काव्य-प्रसून' कविता-संकलन में 172 हिंदी कविताएँ हैं, जो स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं से एकत्र की गई हैं, लेकिन न जाने क्यों संपादक ने इस कालखंड की कुछ कविताओं को छोड़ दिया है।

मॉरिशस की हिंदी-कविता के मध्यकाल (1935-1968) में तीन प्रकार से हिंदी-कविताओं का प्रकाशन होता है–पत्र-पत्रिकाओं में, व्यक्तिगत कविता-संग्रहों में तथा सामूहिक कविता-संकलनों में। इस समय जयनारायण राय की आठ कविताएँ मिलती हैं, जिनमें भारतीय नवजागरण की ही प्रवृत्तियाँ हैं। इस मध्यकाल में मॉरिशस के भावी राष्ट्रकवि ब्रजेंद्रकुमार भगत 'मधुकर' का आविर्भाव होता है। 'मधुकर' ने देश, धर्म, राजनीति, समाज, अर्थ, संस्कृति, मनोभाव, हिंदीभाषा आदि पर कविताएँ लिखी हैं तथा डॉ॰ मुनीश्वरलाल चिंतामणि के अनुसार तो वे 'सत्यं-शिवं-सुंदरं' के कवि हैं।[14] इस कालखंड में पं॰ हरिप्रसाद रिसाल मिश्र के काव्य-संग्रह 'भजनमाला' तथा 'छंदवाटिका', मुनीश्वरलाल चिंतामणि के काव्य-संग्रह 'प्रथम किरण' एवं 'शांति निकतन की ओर', विष्णुदत्त मधु 'चंद्र' के 'रवि-रश्मि' एवं 'मॉरिशस भारती', सोमदत्त बखोरी के 'मुझे कुछ कहना है', ब्रजभूषण माथुर का 'रणभेरी' तथा जयश्री दोसिया का 'मधुकलश' आदि व्यक्तिगत कविता-संग्रह तथा छः कवियों का संकलन 'कवि-सम्मेलन' प्रकाशित हुआ। इस प्रकार मॉरिशस की स्वतंत्रता से पूर्व वहाँ की काव्ययात्रा में अनेक नए कवियों का आविर्भाव हुआ।

मॉरिशस की हिंदी-कविता का आधुनिककाल सन् 1968 से आरंभ होता है, जब 12 मार्च, 1968 को मॉरिशस स्वतंत्र देश बना। इस कालखंड में मध्यकाल के कुछ कवियों के साथ अनेक नए प्रतिभा-संपन्न कवियों का आविर्भाव हुआ, कई नई हिंदी पत्र-पत्रिकाएँ आरंभ हुईं, जिनके माध्यम से नए कवि सामने आए, उनके निजी कविता-संग्रह निकले तथा उनके सामूहिक कविता-संग्रहों का भी प्रकाशन हुआ। इस युग के प्रमुख कवियों में ब्रजेंद्रकुमार भगत 'मधुकर', सोमदत्त बखोरी, मुनीश्वरलाल चिंतामणि, अभिमन्यु अनत, इंद्रदेव भोला, मोहनलाल, बृजमोहन, हरिनारायण सीता, वेणीमाधव रामखेलावन, मोहनलाल हरदयाल, पूजानंद नेमा, धर्मवीर घूरा, लखवती हरगोविंद, सूर्यदेव सिबरत, महोदत्त नेमा, ठाकुरदत्त पांडेय, जनार्दन कालीचरण, नारायणदत्त दोसई, महेश रामजियावन, धनराज शंभू, मुकेश जीबोध, सुमति बुधन, हेमराज सुंदर, राज हीरामन,

लालदेव अंचरज, चंपावती बुम्मा, राजरानी गोबिन, जय जीऊत, साहेबा फर्ज़ली, बीरसेन जागासिंह, बृजलाल रामदीन 'करुण', अनीता ओजाएब, दानीश्वर शाम, साबिर गूदर आदि उल्लेखनीय हैं। इन वर्षों में सौ से अधिक हिंदीकवि सामने आए और उनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं, निजी एवं सामूहिक कविता-संग्रहों में प्रकाशित हुईं और कुछ की कविताएँ तो भारत की पत्र-पत्रिकाओं में भी छपती रहीं। इस समय मधुकर के सबसे अधिक कविता-संग्रह प्रकाशित हुए। इनकी कुल संख्या 36 है।

मॉरिशस में सन् 1968 से 2010 तक हिंदी-कविता का निरंतर विकास हुआ है। अभिमन्यु अनत के हिंदीकविता-संसार में आगमन तक अनेक कवियों के निजी कविता-संग्रह छप चुके थे, जैसे हरिनारायण सीता के 'मुड़िया पहाड़ की आत्मकथा', 'प्रभात' तथा 'कुछ कल की, कुछ आज की', रामरत्न विसाल मिश्र का 'बिखरे सुमन', ठाकुरप्रसाद मिश्र के 'हिंदूनेता' तथा 'मधुमास', सोमदत्त बखोरी का 'बीच में', कालीचरण का 'प्रथम रश्मि', इंद्रदेव भोला का 'वरदान', हेमराज सुंदर के 'चेतना', 'चुनौती', 'एक और ज्वालामुखी', 'सच्ची खबर' तथा 'अस्वीकृति में उठे हाथ' एवं 'शीशे का सच', पूजानंद नेमा के 'आकाशगंगा' एवं 'चुप्पी की आवाज', सुमति बुधन का 'दस्तक', मुनीश्वर चिंतामणि के 'प्रथम किरण', 'शांति निकेतन की ओर', 'नवनिर्माण की बेला', 'सहमी-सहमी-सी आवाज', 'हीरे चमके धूल में', 'छवि सागर की', 'ध्वनन', 'खिलते सुमन' एवं 'अपनी जमीन की तलाश', नौबतसिंह का 'पुष्पांजलि', परमेश्वर बिहारी का 'शिवरत्न की अभिलाषा', ठाकुरदत्त पांडेय के 'निशा', 'पुष्पांजलि', 'आलोक' एवं 'प्रणाम', जयश्री दोसिया का 'सुधा कलश', केशलीकुमारी रागपत का 'वीणावादिनी', रेधी रूपचंद का 'मॉरिशस की अनुपम बहार', अजोध्या 'नेहा' रायजवंती का 'सिंदूरी माँग' आदि। अभिमन्यु अनत के साहित्य-मंच पर आने से काव्य-विधा में नई जागृति आई और अनेक हिंदीकवियों का जन्म हुआ। अनत ने बीस वर्ष तक 'वसंत' त्रैमासिक पत्रिका का संपादन किया और अनेक युवा कवियों को प्रकाश में लाए। अनत के अब तक पाँच कविता-संग्रह छप चुके हैं–'नागफनी में उलझी साँसें', 'कैक्टस के दाँत', 'एक डायरी बयान', 'गुलमोहर खौल उठा' तथा 'अभिमन्यु अनत : समग्र कविताएँ'। अभिमन्यु अनत ने अपनी कविताओं से मॉरिशस की हिंदी कविता को नया आयाम और नई संवेदना दी तथा उसे आधुनिक रूप दिया तथा कविता को विध्वंस, विद्रोह, मुक्ति एवं मानव-कल्याण से जोड़कर वैश्विक रूप प्रदान किया। अनत में राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा भाषिक स्वाभिमान है, जो उन्हें अपने पूर्वजों के भारतीय संस्कारों से मिलता है और जो उन्हें संपूर्ण मानवीयता के लिए संघर्षरत करता है तथा उसे विश्व-मानव की मुक्ति एवं नए सृजन का स्वप्न देता है। अभिमन्यु का कवि इसी कारण हर विध्वंस और तूफान के बाद उसी प्रकार नवनिर्माण में प्रवृत्त होता है।

अनत के 'वसंत' के संपादक बनने के बाद 2010 तक लगभग 100 निजी कविता-संग्रह तथा सामूहिक कविता-संग्रह छप चुके हैं। हीरामन ने अपनी छोटी- छोटी कविताओं में व्यक्ति और समाज में आई विकृतियों, विसंगतियों तथा विद्रूपताओं पर गहरी चोट की है। इसके साथ धनराज शंभू 'आनंद' का 'एहसास', जनार्दन कालीचरण का 'वसंत-बहार', सूर्यदेव सिबोरत का 'एक फूल गन्ने का', बीरसेन जग्गासिंह का 'क्षितिज', कल्पना लालजी का 'सर शिवसागर रामगुलाम', ज्ञानेश्वर रघुबीर 'बैरागी' का 'अलग प्रीत की रीति' भी उल्लेखनीय हैं। सामूहिक

कविता-संकलनों में मानिक बच्छावत द्वारा संपादित 'मॉरिशस की हिंदी कविता' एवं 'मॉरिशस के नौ हिंदी कवि' तथा महेश रामजियावन का 'मॉरिशस के आठ समकालीन कवि' आदि विशेष महत्त्व रखते हैं।

मॉरिशस के हिंदी साहित्य में गद्य की विधाओं का भी समुचित विकास हुआ है। इनमें उपन्यास, कहानी, लघुकथा, नाटक, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण, भेंटवार्ता, निबंध आदि विधाओं में रचनाएँ मिलती हैं। मॉरिशस की हस्तलिखित पत्रिका 'दुर्गा' (1935-38) में इनमें से अधिकांश गद्य-विद्याओं का जन्म हो चुका था, परंतु वहाँ के अधिकांश गद्य-लेखक 'दुर्गा' के अस्तित्व से अपरिचित रहने के कारण इन गद्य-विधाओं से स्वयं को नहीं जोड़ पाए।[15] 'दुर्गा' के सीमित पृष्ठों के कारण उसमें उपन्यास का लेखन नहीं हो सकता था और वैसे भी मॉरिशस में उपन्यास-लेखन का आरंभ सन् 1960 से हुआ, जब कृष्णलाल बिहारी का उपन्यास 'पहला कदम' प्रकाशित हुआ। अभिमन्यु अनत के उपन्यास-लेखन में आगमन से वे ही उसके वास्तविक जनक और विस्तारक बने। यह एक प्रकार से अभिमन्यु युग ही है, जो उनके पहले उपन्यास 'और नदी बहती रही' 1970 से आज तक चल रहा है। अनत के अभी तक बत्तीस उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। उपन्यास के क्षेत्र में मॉरिशस में अभिमन्यु अनत अकेले ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने इतनी बड़ी संख्या में उपन्यासों की रचना की है। अनत ने अपने देश के गूँगे एवं चीखते इतिहास को 'लाल पसीना', 'गांधी जी बोले थे' तथा 'और पसीना बहता रहा' की उपन्यास-त्रयी में प्रस्तुत किया। अभिमन्यु अपने देश के भूमिपुत्र हैं तथा अपनी जातीय परंपरा के राष्ट्र-उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों में लगभग एक हजार पात्र हैं और हर प्रकार के पात्र हैं। उनकी शहरी जीवन पर भी गहरी दृष्टि है और वे नेताओं, व्यापारियों तथा शिक्षितों के समाज तथा देश-विरोधी क्रियाकलापों, षड्यंत्रों तथा औपनिवेशिक दबाव एवं विसंस्कृतीकरण की दुष्प्रवृत्तियों को भी बराबर निरावृत्त करते हैं। वे यथार्थवादी हैं, परंतु वामपंथी नहीं हैं। वे जीवनमूल्यों तथा आदर्शवाद के साथ हैं। यही जीवनदृष्टि उन्हें प्रेमचंद के समरूप बनाती है। अभिमन्यु अनत के अतिरिक्त रामदेव धुरंधर के चार उपन्यास हैं। दीपचंद बिहारी का 'मसीहे नर्क जीते हैं', विष्णुदत्त मधु का 'फट गई धरती', आनंददेवी का 'कूसर किसका', हीरालाल लीलाधर का 'सगाई', वेणीमाधव रामखेलावन के 'अमर प्रेम', 'सोमदत्ता' तथा 'निछावर', परसाद राणापत का 'देवयानी', गोवर्धन ठाकुर का 'दो सखियाँ', दानीश्वर शाम का 'विकलित पागल' एवं 'कमलकांड' आदि प्रकाशित हुए, जिनमें मॉरिशस के व्यक्ति और समाज का बहुविध रूपों में चित्रण हुआ है।

मॉरिशस की हिंदी-कहानी का इतिहास उपन्यास से भिन्न है। यद्यपि कहानी में भी अभिमन्यु सबसे बड़े लेखक हैं, परंतु दूसरे प्रतिभा-संपन्न लेखकों का अभाव नहीं है। मॉरिशस में हिंदी की पहली कहानी के रूप में सूर्यप्रसाद मंगर भगत की कहानी 'विनाश' 1934, वली मुहम्मद की कहानी 'अनबोलती चिड़ियाँ', पं॰ तारकेश्वरनाथ चतुर्वेदी की 'इन्दो' (दिसंबर, 1933) तथा पं॰ जय प्रगास शर्मा की कहानी 'तारा' (1934) का उल्लेख किया जाता है।[16] हिंदी-कहानी में अभिमन्यु अनत के आगमन से पूर्व 'सनातन धर्मार्क', 'दुर्गा', 'आर्य-पत्रिका', 'जागृति', 'वर्तमान' तथा 'मज़दूर' आदि हिंदी-पत्रिकाओं में तीस से अधिक लेखकों की लगभग पचास कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं और हिंदी-कहानी की बुनियाद पड़ गई थी। इन कहानियों पर भारतीय जागरण का प्रभाव था। इनमें प्रमुखतः समाज-सुधार तथा सांस्कृतिक जागरण की

प्रवृत्ति है और अंधविश्वासों, कुरीतियों, विसंगतियों आदि की आलोचना है। विधवा-विवाह, बेमेल-विवाह, वेश्यावृत्ति, दहेज, आर्यसमाज तथा सनातन धर्म के मतभेद और द्वंद्व, निर्धन-धनी का अंतर, भारतीय प्रवासियों पर गोरों के अत्याचार आदि इन कहानियों के विषय हैं। मॉरिशस की हिंदी-कहानी के इतिहास में सन् 1960 से 1968 के आठ वर्ष बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इस कालखंड में अभिमन्यु अनत जैसा सशक्त कहानीकार सामने आया और उनकी दस कहानियाँ भारत की हिंदी-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं और मॉरिशस का कोई कहानीकार पहली बार सागर पार करके भारत के पाठकों तक पहुँचा। 12 मार्च, 1968 को मॉरिशस स्वतंत्र हुआ। इस प्रकार कहानी के साथ राजनीति ने एक नए इतिहास की सृष्टि की। हिंदी-कहानी को स्थायित्व मिला, उसे व्यापकता एवं विस्तार मिला और लेखकों में कहानी रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इस कालखंड के उपरांत अनुराग, दर्पण, हमारा देश, आभा, नये सितारे, त्रिवेणी, निर्माण, पंकज, वसंत, आक्रोश, स्वदेश, इंद्रधनुष, आर्योदय, पंकज, जनवाणी आदि हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इन्होंने हिंदी-कहानी के विकास में उल्लेखनीय योग दिया।

मॉरिशस के हिंदी-कहानीकारों ने अपने निजी कहानी-संग्रह तो प्रकाशित कराए ही, सामूहिक कहानी-संकलनों के लिए भी अपनी कहानियाँ प्रदान कीं। कहानीकारों के निजी कहानी-संग्रहों में ईश्वर गंगाराम का 'एक सपना', ईश्वरदत्त अलिमन का 'नई कहानियाँ', प्रेमचंद भूली का 'चिराग और तूफान', दीपचंद बिहारी के 'सागर-पार' एवं 'स्वर्ग में क्या रखा है', सुनीता अलियार का 'दो शरीर एक आत्मा', ब्रजलाल रामदीन का 'परख', अभिमन्यु अनत के 'खामोशी के चीत्कार', 'इन्सान और मशीन', 'वह बीच का आदमी', 'एक थाली समंदर', 'अभिमन्यु अनत की आरंभिक कहानियाँ', 'बवंडर बाहर-भीतर', 'अब कब आएगा यमराज' एवं 'मातमपुरसी', भानुमति नागदान का 'मिनिस्टर', पूजानंद नेमा का 'नया सफर सहने का', रामदेव धुरंधर के 'विष-मंथन' तथा 'कलयुगी करम-धरम', बीरसेन जागासिंह के 'सैलाबों के बीच' एवं 'त्रिकोण के बीच', धर्मवीर घूरा का 'मॉरिशस की कहानियाँ', मोहनलाल बृजमोहन का 'आदमकद बौने', नेमधारी का 'पश्चात्ताप', राज हीरामन के 'स्वघोषित आचार्य' एवं 'सेवा-आश्रम' मुख्य हैं। इन निजी एवं सामूहिक कहानी-संकलनों में मॉरिशस के समाज का व्यापक संसार है। अभिमन्यु अनत के 'वसंत' पत्रिका के संपादन के बीस वर्षों का समय मॉरिशस की हिंदी-कहानी का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

मॉरिशस में हिंदी-नाटक तथा रंगमंच का उद्‌भव और विकास बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही हो गया था। आरंभ में नाटक का प्रयोजन धार्मिक भावना और मनोरंजन था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में 'रामलीला', 'इंद्रसभा', 'कृष्ण-लीला' आदि धार्मिक नाटकों की धूम थी। इनका मंचन धार्मिक पर्व-उत्सव तथा शादी-विवाह के अवसरों पर होता था। मॉरिशस में जब बंबई की नाटक कंपनियों ने जाना शुरू किया तो खड़ीबोली का विकास हुआ और नाटक एवं रंगमंच की उन्नति हुई। रेडियो तथा सिनेमा के आगमन पर जयनारायण राय, ब्रजेंद्रकुमार भगत 'मधुकर', सोमदत्त बखोरी, जानकी और लक्ष्मणप्रसाद रामयाद आदि ने भारतीय लेखकों की कहानियों पर रेडियो नाटक तथा एकांकी लिखे और उनका प्रसारण हुआ। अभिमन्यु अनत ने सन् 1954 में 'अजंता आर्टस्' संस्था की स्थापना की और 'परिवर्तन' नाटक का मंचन त्रिओले के माहेश्वर मंदिर में किया और सन् 1960 तक एक दर्जन से अधिक नाटकों का मंचन कराया।

इसके बाद 'हिंदी प्रचारिणी सभा', 'हिंदी परिषद्', 'हिंदी लेखक संघ', 'राष्ट्रीय नाटक प्रतियोगिता' के साथ मोहन महर्षि दंपती तथा आस्तानंद सदासिंह आदि ने मॉरिशस के हिंदी-रंगमंच को अपनी पहचान दी और उसकी जड़ें मजबूत कीं। मॉरिशस के प्रथम प्रकाशित नाटक में जयनारायण राय की 'जीवनसंगिनी' 1941 उल्लेखनीय है। इसमें भारतीय मर्यादाओं से पूर्ण एक आदर्श गृहिणी का चरित्र प्रस्तुत किया गया है। अभिमन्यु अनत के छः नाटक प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने नाटकों का निर्देशन तो किया ही है, टेलीविजन के लिए कई धारावाहिक भी बनाए, अनेक नए अभिनेताओं को तैयार किया। अनत के बाद आस्तानंद सदासिंह ने नाटक और रंगमंच के लिए बहुत काम किया है। महेश रामजियावन के 'सात रंग एकांकी', 'सीत वसंत', 'कर्मफल', 'एक मुट्ठी गीत' तथा 'जय चरणदास की', धनराज शंभू का 'प्रतीक्षा एक नई सुबह की' एवं 'और चेतना जाग उठी', ठाकुरदत्त पांडेय का 'पाँच एकांकी' तथा सीता रामयाद के 'पत्थर में लोर' एवं 'बहू आंदोलन' आदि नाटक भी प्रकाशित हुए और उनका मंचन भी हुआ। वास्तव में, मॉरिशस के भारतवंशियों के हिंदी-नाटक एवं रंगमंच-प्रेम ने इसे एक सशक्त विधा के रूप में जीवित रखा है। वहाँ आज भी वार्षिक हिंदी-नाटक प्रतियोगिताएँ होती हैं और सैकड़ों दर्शक उन्हें देखते हैं। यह प्रवासी साहित्य की एक बड़ी उपलब्धि है।

मॉरिशस में हिंदीगद्य की अन्य विधाओं में भी यद्यपि साहित्य लिखा गया है, परंतु उनमें कविता, कहानी एवं उपन्यास जैसा उत्साह नहीं है। 'दुर्गा' (1935-38) हस्तलिखित पत्रिका में लघुकथा, निबंध, गद्य-गीत, संस्मरण, जीवन-चरित्र, भेंटवार्ता, पत्र, पुस्तक-समीक्षा आदि विभिन्न गद्य-विधाओं का बीजारोपण हो चुका था, किंतु किन्हीं कारणों से इनका क्रमिक विकास नहीं हुआ। 'दुर्गा' में दो लघुकथाएँ मिलती हैं–'पागल प्रलाप' तथा 'शरीफ आदमी और मँगते'। इसके बाद जागृति, वर्तमान, कांग्रेस आदि पत्र-पत्रिकाओं में कुछ लघुकथाएँ छपीं। अभिमन्यु अनत का लघुकथा-संग्रह 'इन्सान और मशीन' सन् 1976 में प्रकाशित हुआ। इसमें 44 लघुकथाएँ हैं। इसके बाद रामदेव धुरंधर ने लगभग एक हजार लघुकथाएँ लिखीं, जो उनके तीन लघुकथा-संग्रहों में प्रकाशित हुईं। इसके उपरांत बीरसेन जागासिंह का लघुकथा-संग्रह 'मॉरिशस से 101 लघुकथाएँ' तथा 'मॉरिशस हिंदी लेखक संघ' की 'मॉरिशस की लघुकथाएँ' भी प्रकाशित हुई हैं। राज हीरामन का लघुकथा-संग्रह 'स्वघोषित आचार्य' तथा 'घाव करे गंभीर' भी प्रकाशित हुए। कुछ लेखकों के लघुकथा लेखन में प्रवृत्त होने से यह एक आंदोलन ही बन गया है।

मॉरिशस में निबंध, आलोचना, शोधग्रंथ, भेंटवार्ता, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण, लोकसाहित्य आदि विधाओं पर साहित्य तो मिलता है, किंतु इन विधाओं के लेखकों की संख्या अधिक नहीं है। निबंध में पहला निबंध पं॰ देवदत्त शर्मा का मिलता है, जो 'स्त्री और शिक्षा' शीर्षक से नवंबर, 1921 में छपा था। वैसे 'दुर्गा' (1935-38) हस्तलखित पत्रिका से निबंध विधा का वास्तविक आरंभ होता है। इसमें लगभग पचास निबंध छपे हैं, जो हिंदूधर्म, जाति, भारतमाता, समाज-सुधार, नारीचेतना, अस्मिता-बोध, हिंदी की दुर्दशा, संघर्ष आदि पर लिखे गए हैं। इसके उपरांत प्रो॰ वासुदेव विष्णुदयाल का निबंध-संग्रह 'कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ', 'विष्णुदयाल रचनावली', हिंदी लेखक संघ की 'गांधी-स्मृति', प्रसाद गनपत का 'जीवन-प्रदीप', अनि द्वारिका का 'जगार्ना की जीत', मुनीश्वर चिंतामणि के 'मॉरिशस का हिंदीसाहित्य तथा अन्य निबंध', 'हिंदीसाहित्य का परिचय', 'निबंध-प्रदीप' तथा 'परिक्रमा', शिवलाल मोती का 'मोती निबंध-संग्रह', आचार्य

राममणि का 'दिव्यदृष्टि', भुवनेश्वर सोनू का 'त्रिवेणी से परी तालाब तक', प्रह्लाद रामशरण के 'मॉरिशस-मंजूषा', 'मॉरिशस : हिंदी महासागर में एक नवोदित राष्ट्र', 'रामशरण रचनावली' तथा 'एक मॉरिशस साहित्यकार की आस्था', हेमराज सुंदर का 'माध्यमिक निबंध', अजोध्या तिलक का 'बोधन और निबंध', ठाकुरदत्त पांडेय का 'पंकज' एवं पारिजात', भारत से गए मॉरिशस के नागरिक बने राजेंद्र अरुण की रामायण के पात्रों पर लिखी पुस्तकें 'हरिकथा अनंता', 'प्रेम पिआसे नैन', 'रोम-रोम में राम', 'जग जननि जानकी', 'रघुकुल रीति सदा', 'भरत गुनगाथा' तथा 'अथ कैकेयी कथा' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रो॰ विष्णुदयाल, मुनीश्वरलाल चिंतामणि, प्रह्लाद रामशरण आदि का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है।

आलोचना, शोध, जीवनी, भेंटवार्ता, यात्रा-वृत्तांत, लोकसाहित्य आदि में मॉरिशस के लेखकों ने अपनी सामर्थ्यानुसार योगदान करने का प्रयत्न किया है। मॉरिशस एक बहुत छोटा देश है, वहाँ बारह-तेरह लाख जनसंख्या है और इसमें लगभग आधे भारतवंशी हैं और इसमें लगभग छोटे-बड़े सौ-डेढ़ सौ हिंदी-लेखक हैं। यद्यपि हिंदी-शिक्षकों तथा हिंदी-छात्रों की संख्या हजारों में है। अत: इन विधाओं के उपलब्ध साहित्य को इन हिंदी-लेखकों की संख्या को ध्यान में रखकर उनके बारे में कोई राय बनानी चाहिए। भेंटवार्ता की दृष्टि से पहली रचना 'दुर्गा' (1935-38) में मिलती है, जो 'इंद्रभूषण से इंटरव्यू' शीर्षक से छपी है और संपादक ने 'इंटरव्यू' के लिए 'भेंट' शब्द का प्रयोग किया है, जो इधर हिंदी में खूब प्रचलित है।[17] इसके बाद वसंत, आक्रोश, इंद्रधनुष, पंकज आदि पत्रिकाओं में भी इंटरव्यू छपते रहे हैं। इस विधा में प्रह्लाद रामरशण की पुस्तक 'लेखकों से बातचीत', हेमराज सुंदर की 'डॉ॰ मुनीश्वरलाल चिंतामणि : हिंदी के समर्पित साहित्यकार', डॉ॰ मुनीश्वरलाल चिंतामणि द्वारा संपादित साक्षात्कारों की संकलित पुस्तक 'मॉरिशस का साक्षात्कार साहित्य' तथा राज हीरामन का साक्षात्कार-संग्रह 'पराए जो थे अपने हो गए' आदि का उल्लेख किया जा सकता है, लेकिन अभी इस विधा में और काम करने की आवश्यकता है। यात्रा-वृत्तांत में यात्रा-संस्मरण तो काफी लिखे गए हैं, किंतु पुस्तक रूप में कम ही प्रकाशित हुए हैं। यात्रा-वृत्तांत की पहली रचना 'मेरी मॉरिशस यात्रा' मिलती है, जो 'मॉरिशस मित्र' के जनवरी, 1928 के अंक में छपी थी। इस विधा की पहली पुस्तक है प्रह्लाद रामशरण की 'डॉ॰ सर शिवसागर रामगुलाम की राजस्थान-यात्रा' तथा दूसरी पुस्तक सोमदत्त बखोरी की 'गंगा की पुकार' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इसके उपरांत बीरसेन जागासिंह की दो पुस्तकें आईं-'भारत के आमने सामने' एवं 'त्रिनिडाड के आमने सामने'। इन लेखकों ने भारत को अपनी दृष्टि से देखा है, परंतु उसमें आत्मीयता कम नहीं है।

पत्र-साहित्य में एक पुस्तक छपी है 'मोहनलाल मोहित परिवार के पत्र', जिसका संपादन प्रह्लाद रामशरण ने किया है। बालसाहित्य में 'मॉरिशस की मनोहर बालकहानियाँ', केशवदत्त चिंतामणि की 'मॉरिशस की बालकहानी' (भाग-1 व भाग-2, 2001) तथा मुनीश्वरलाल चिंतामणि की 'मॉरिशस की स्वतंत्रता की कहानी' उल्लेखनीय हैं। मॉरिशस से 'रिमझिम' एवं 'बालसखा' दो बाल-पत्रिकाएँ भी निकलती हैं और कुछ पत्रिकाओं में बालस्तंभ भी छपता है। लोकसाहित्य में अवश्य कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन हुए हैं। भारतीय गिरमिटिया मज़दूर अपने साथ लोककथाओं तथा लोकगीतों का भंडार ले गए थे, जो वहाँ जीवित रहा। इसके साथ वहाँ के मुड़िया पहाड़, मृगकुंड, परी तालाब आदि पर भी लोककथाओं की रचना हुई और वे समाज में

चलती रहीं। मॉरिशस के भारतवंशियों में भोजपुरी भाषा सर्वाधिक है और उन्हें अपनी मातृभाषा से बहुत प्रेम है, अतः वहाँ लोकसाहित्य के विकास में सरिता बुद्धू बड़ा काम कर रही हैं।

गिरमिटिया मजदूरों में देशों में फिज़ी दूसरा महत्त्वपूर्ण देश है, परंतु वहाँ मॉरिशस जैसा हिंदी साहित्य का विकास नहीं हुआ, यद्यपि वहाँ रेडियो, टेलीविजन, स्कूल, पार्लियामेंट आदि स्थानों पर हिंदी मिलेगी। ये प्रवासी मज़दूर भी अपने साथ हिंदूधर्म के धार्मिक ग्रंथ एवं 'प्रेमसागर' आदि पुस्तकें साथ ले गए थे और उन्होंने अपने धर्म, संस्कृति तथा भाषा को बचाकर रखा। फिज़ी के बारे में पहली हिंदी पुस्तक तोताराम सनाढ्य की थी, जो सन् 1914 में 'फिज़ी में मेरे इक्कीस वर्ष' शीर्षक से छपी थी। इससे भारत के लोगों को फिज़ी में गए भारतीय लोगों की दुर्दशा का ज्ञान हुआ। इस पुस्तक के प्रेरक थे पं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी। चतुर्वेदी जी पहले भारतीय हिंदी-लेखक थे, जिन्होंने प्रवासी भारतीयों के विकट समस्याओं से, पुस्तकें लिखकर देश को अवगत कराया। कथा के क्षेत्र में फिज़ी के ज्ञानीदास की चार पुस्तकें प्रकाशित हुईं–'भारतीय उपनिवेश फिज़ी', 'गुप्त-शक्तियाँ', 'फिज़ी-गल्पिका' तथा 'मृदुला'। पंडित कमलाप्रसाद मिश्र की 'भूली हुई कहानियाँ' आज भी वहाँ के घरों में मिल जाती है। जोगिंद्रसिंह 'कँवल' के चार उपन्यास छपे हैं–'करवट', 'सवेरा', 'धरती मेरी माता' एवं 'सात समुद्र पार'। उनका एक कविता-संग्रह 'यादों की खुशबू' तथा 'मेरा देश मेरे लोग' भी प्रकाशित हुए हैं। इन पुस्तकों में फिज़ी के प्रवासी भारतीयों के जीवन का इतिहास है। हिंदी कवियों में कमलाप्रसाद मिश्र (1913-1996) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। डॉ॰ सुरेश ऋतुपर्ण ने उन पर 'कमलाप्रसाद मिश्र की कविताएँ' तथा डॉ॰ विवेकानंद शर्मा ने 'फिज़ी के राष्ट्रीय कवि कमलाप्रसाद मिश्र का काव्य' पुस्तकें प्रकाशित कराईं। प्रो॰ विजयेंद्र स्नातक मिश्र के सहपाठी थे और वे उनकी काव्य-प्रतिभा के बड़े प्रशंसक थे। फिज़ी के प्रवासी साहित्य में अमरजीत कौर के कविता-संग्रह 'चलो चलें उस पार' तथा 'उपहार' तथा जोगिंद्रसिंह 'कँवल' के संपादन में प्रकाशित 'फिज़ी का हिंदीकाव्य-साहित्य' भी उल्लेखनीय है। फिज़ी के कुछ अन्य हिंदी रचनाकार हैं–काशीराम कुमुद, महावीर मिश्र, बाबू हरनाम सिंह, हरनाम, महेंद्रचंद्र शर्मा, विनोद, ज्ञानीदास, ईश्वरप्रसाद चौधरी, रामनारायण, सलीम बख्श, अनुभवानंद आनंद, पं॰ हरीश शर्मा, बलराम वशिष्ठ, बाबू कुँवरसिंह, सुखराम, रामअवतार गुप्त, अक्षैबरसिंह, अमरजीत कँवल, विजयेंद्र सुधाकर, राघवानंद शर्मा, सरस्वती देवी, कल्लू, ए॰ए॰ शमीम, चंद्रदेव सिंह, रामनारायण गोविंद, बाबूराम 'अरुण', आर॰एस॰ प्रसाद मुनि, करुनागरन नायर आदि।[18]

भारत में जिन देशों में गिरमिटिया मज़दूर गए, उनमें सूरीनाम सबसे अधिक दूरी पर है, लेकिन वहाँ भी भारतीय प्रवासियों तथा उनके वंशजों ने हिंदूधर्म, संस्कृति, संस्कार, आचार-व्यवहार आदि को जीवित रखा है। सूरीनाम में रहे भारत के राजदूत बच्चूप्रसाद सिंह ने लिखा है, 'एक सदी से अधिक समय बीत गया, किंतु इस देश के साथ हमारे सांस्कृतिक बंधन कुछ ऐसे सुदृढ़ हैं कि सूरीनाम आकर ऐसा नहीं लगता है कि हम किसी अजनबी देश में आ गए हैं...। वहाँ पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के गीत-संगीत, खान-पान, वेशभूषा और पूरी जीवन- शैली पर अवधी-भोजपुरी क्षेत्र का अमिट प्रभाव है।'[19] मॉरिशस की तुलना में सूरीनाम के प्रति भारतीयों का आकर्षण एवं उत्सुकता काफी देर से उत्पन्न हुई, जिसका संभवतः कारण यही था कि दूरी अधिक होने के कारण संपर्क बहुत ही कम था। बच्चूप्रसाद सिंह जब वहाँ के राजदूत बने तथा फरवरी, 1979 में प्रो॰ विष्णुकांत शास्त्री ने वहाँ की यात्रा की तो भारत में उसके संबंध में चर्चा शुरू हुई, लेकिन

5-9 जून, 2003 को सूरीनाम में सातवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन होने से विश्व के हिंदी समाज को उसकी जानकारी मिली और इस सम्मेलन में देश-विदेश के सैकड़ों हिंदी-लेखक सम्मिलित हुए। इस अवसर पर प्रकाशित 'स्मारिका' तथा 'विश्व हिंदी-रचना' में सूरीनाम के संबंध में लेख तथा वहाँ के हिंदी-लेखकों की विभिन्न विधाओं की रचनाएँ भी प्रकाशित हुईं। डॉ॰ पुष्पिता ने, जो सूरीनाम में पहले से ही हिंदी प्रोफेसर थीं, इस अवसर पर तीन पुस्तकें प्रकाशित करायीं–'सूरीनाम' 2003; इसमें सूरीनाम के भारतवंशियों के जीवन, हिंदी-हिंदू संस्कृति-प्रेम और हिंदी साहित्य का परिचय दिया; 'कविता सूरीनाम' 2003 तथा 'कथा सूरीनाम' 2003; इस दृष्टि से डॉ॰ पुष्पिता का योगदान महत्त्वपूर्ण है कि सम्मेलन के सहभागियों के सम्मुख सूरीनाम के प्रवासी हिंदी साहित्य की एक झाँकी उपस्थित कर दी। इधर पुष्पिता ने 'सूरीनाम का सृजनात्मक साहित्य' पुस्तक भी प्रकाशित कराई है। सूरीनाम में लक्ष्मणसिंह ने अपने भारत-प्रेम के कारण संस्थाएँ बनाईं। वहाँ 'सूरीनाम आप्रवासी संगठन' बना, जो सन् 1910 से 'भारत उदय' के नाम से कार्य करता रहा। वहाँ हिंदीभाषा और साहित्य के विकास में महातमसिंह का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने 'माता गौरी संस्थान' की स्थापना की और 'हिंदी परिषद्', 'सेतुबंध' पत्रिका एवं विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन में उनका सक्रिय योगदान रहा। 'वसंत' अप्रैल, 2003 में प्रकाशित उनकी कविता 'प्रवासी भारतीय' की ये अंतिम चार पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–'भिन्न देशों में उन्होंने बो दिया अनुराग/रक्त का अभिषेक श्रम से कर बहाया स्वेद/धन्य है उनका परिश्रम, धन्य है उपकार/आज भारत राष्ट्र उनका मानता आभार।'[20] सूरीनाम में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित यह कविता उनकी भारतीय प्रवासियों के प्रति समादर की भावना व्यक्त करती है। सूरीनाम में 'शांति-दूत', 'सूरीनाम-दर्पण' तथा पुष्पिता के संपादन में 'शब्द-शक्ति' एवं 'हिंदीनामा' पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं। सूरीनाम में धार्मिक ग्रंथों एवं नाटकों, रेडियो, दूरदर्शन, हिंदी-फिल्मों आदि ने हिंदीभाषा का प्रचार-प्रसार किया। यहाँ सरनामी हिंदी लोकप्रिय है, जिसमें भोजपुरी, अवधी, हिंदी, ब्रज, उर्दू, मगही, डच, अँग्रेजी आदि का मिश्रण है। पुस्तकें यहाँ कम छपी हैं। रहमान खान की दो पुस्तकें मिलती हैं–'ज्ञानप्रकाश' तथा 'दोहा शिक्षावली'। सूरीनाम के कुछ अन्य लेखक हैं–महादेव, खुनखुन, मार्तिन हरिदत्त लछमन, सुरजन पुरोही, चंद्रमोहन, अमरसिंह रमण, रामदेव रघुबीर, रामनारायण झाव, हरिदेव सहतू तथा नई पीढ़ी के पंसुशील बलदेव, उषा गोपी, अमित अयोध्या, तेजप्रसाद खोई आदि।

त्रिनिडाड एवं टुबैगो दो सुंदर द्वीपों का सदाबहार देश है। यह दक्षिण अमेरिका के देश बेनुजुएला के समुद्रतट से कुछ दूरी पर कैरेबियन सागर में स्थित है। यहाँ 30 मई, 1845 को 212 भारतीय मजदूरों को लेकर जलपोत यहाँ के बंदरगाह पोर्ट आफ स्पेन पहुँचा था। यहाँ भी अधिकांश भारतीय पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के थे और उनके पास 'रामचरितमानस' 'हनुमान-चालीसा' आदि धार्मिक ग्रंथ थे। सन् 1870 के आसपास ईसाई मिशनरी यहाँ पहुँचे और धर्म-प्रचार के साथ अँग्रेजी-हिंदी की शिक्षा आरंभ की, लेकिन दूसरी-तीसरी पीढ़ियों तक हिंदी छूटती गई और अँग्रेजी बढ़ती रही। भारत के स्वतंत्र होने पर यहाँ की स्थिति कुछ बदली और सन् 1952 में आनंदमोहन सहाय के भारतीय राजदूत बनकर आने पर 'हिंदी एजुकेशनल बोर्ड' की स्थापना हुई। इसके उपरांत सन् 1966 में प्रो॰ हरिशंकर आदेश, 1979 में प्रो॰ भूदेव शर्मा, 1999 में डॉ॰ प्रेम जनमेजय तथा प्रो॰ जगन्नाथन् एवं डॉ॰ सुरेश ऋतुपर्ण आदि ने त्रिनिडाड जाकर वहाँ

हिंदी-शिक्षण तथा साहित्य-रचना की प्रवृत्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। प्रो॰ हरिशंकर आदेश ने वहाँ 'भारतीय विद्या भवन' की स्थापना की और वहाँ भारतीय संगीत, संस्कृति, साहित्य एवं हिंदीभाषा का एक नया युग आरंभ हुआ। लगभग चार दशकों से चलनेवाली यह संस्था पूरी तरह सक्रिय है और कनाडा एवं अमेरिका में भी सक्रिय है। प्रो॰ आदेश की लगभग तीन सौ पुस्तकें छपी हैं–चार महाकाव्य, अठारह खंडकाव्य, मुक्तक की 50 पुस्तकें, ग्यारह कहानी-संग्रह, दो उपन्यास, इकत्तीस नाटक, चार निबंध-संग्रह, संगीत की 93 पुस्तकें आदि। प्रो॰ हरिशंकर आदेश हिंदी के प्रवासी साहित्य में सर्वाधिक साहित्य की रचना करनेवाले साहित्यकार हैं। उनका साहित्यिक योगदान बहुत अधिक है। खेद है भारत में उनकी चर्चा कम ही हुई है, जिसका एक कारण उनका मौन साधक होना भी है। आदेश जी ने 'जीवन ज्योति', 'ज्योति' तथा 'प्रगति' पत्रिकाएँ निकालीं, हिंदी-शिक्षण की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कीं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति, संगीत, कला, दर्शन तथा हिंदीभाषा-साहित्य को विकसित करने में उनका योगदान अप्रतिम है। इसी प्रकार प्रो॰ भूदेव शर्मा भी त्रिनिडाड गए और गणित पढ़ाते रहे और उन्होंने वहाँ 'हिंदी-निधि' की स्थापना की और हिंदी के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। त्रिनिडाड में हिंदी सुनने तथा हिंदी-शिक्षण पर अधिक जोर है, लिखने में अभिरुचि बहुत कम है। यही कारण है कि छुट-पुट प्रयासों के अतिरिक्त हिंदी में लिखने की कोई परंपरा नहीं बन पाई। जमैका में चिकित्सक डॉ॰ सीताराम पोद्दार ने 'हिंदी-क्लब' बनाकर हिंदी-शिक्षण शुरू किया और वे दूतावास के सहयोग से 10 जनवरी को हिंदी-दिवस मनाते हैं। वे हिंदीछात्रों से कविता, लेख आदि लिखवाते हैं। उनका कार्यक्रम अब लोकप्रिय है।[21]

पड़ोसी देशों का हिंदी साहित्य : भारत के पड़ोसी देशों में हिंदी साहित्य की रचना की स्थिति सुखद नहीं है। पाकिस्तान का उर्दू साहित्य तो हिंदी में खूब अनूदित हुआ है, लेकिन वहाँ किसी लेखक ने देवनागरी लिपि में रचना की हो, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बांग्लादेश की स्थिति भी यही है। वहाँ के बांग्ला लेखकों की रचनाएँ हिंदी में छपती रही हैं। बर्मा (म्याँमार) में एक ऐसा समय था, जब सत्यनारायण गोयनका, चंद्रप्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि' हिंदी साहित्य सम्मेलन, बर्मा, आर्यसमाज, सनातन धर्म, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा (बर्मी शाखा), दीनानाथ, डॉ॰ ओमप्रकाश वर्मा, रामप्रसाद वर्मा, श्यामचरण मिश्र आदि ने हिंदीभाषा एवं साहित्य के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए। चंद्रप्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि' ने 'गोदान' का बर्मी में अनुवाद किया और बर्मी साहित्य की सौ पुस्तकों से भी अधिक हिंदी-अनुवादों को इरावती प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित किया। नेपाल में कई शताब्दियों से पहले से ही हिंदी का प्रयोग होता रहा है तथा वहाँ अनेक हस्तलिखित कृतियाँ मिलती हैं। नेपाल के हिंदी प्रोफेसर सूर्यनाथ गोप के अनुसार नेपाल में हिंदीग्रंथों की संख्या एक हजार से अधिक है, परंतु अधिकांश अप्रकाशित हैं तथा उनकी कोई व्यवस्थित सूची भी उपलब्ध नहीं है।[22] प्रो॰ गोप के अनुसार आधुनिककाल में मोहनराज शर्मा, डॉ॰ ध्रुवचंद्र गौतम, चेतन कार्की, दुर्गाप्रसाद श्रेष्ठ 'उपेंद्र', धुस्वां सायमि आदि प्रमुख हिंदी-लेखक हैं। धुस्वां सायमि का एक कविता-संग्रह भी छप चुका है। नेपाल में डॉ॰ कृष्णचंद्र मिश्र ने भी हिंदी में बहुत काम किया और अब उनके अनुयायी 'हिमालिनी' पत्रिका निकालते हैं। हिंदी के प्रसिद्ध गीतकार गोपालसिंह 'नेपाली' तो नेपाल के ही थे। वहाँ की डॉ॰ उषा ठाकुर ने एक पुस्तक लिखी है–'हिंदी और नेपाली साहित्य के प्रतिनिधि हस्ताक्षर', जो 1998 में छपी थी।

अमेरिका महाद्वीप का हिंदी साहित्य : अमेरिका में भारतीयों के आगमन का पहला लिखित प्रमाण सन् 1670 का मिलता है, फिर 1788 में व्यापार का; 1898 में कुछ भारतीय कृषक प्रवासी के रूप में वहाँ पहुँचे। स्वामी विवेकानंद की सन् 1893 की अमेरिका यात्रा से तो दोनों देशों के संबंधों का नया इतिहास शुरू हुआ। सन् 1908 में तारकनाथ पहले भारतीय थे, जो वाशिंग्टन यूनिवर्सिटी में अध्ययन के लिए अमेरिका पहुँचे। बीसवीं सदी के सातवें दशक से शिक्षित भारतीयों का अमेरिका जाने का नया दौर शुरू हुआ, जब भारतीय वहाँ उच्च शिक्षा के साथ उच्च एवं समृद्ध जीवन के लिए जाने लगे और सन् 1997 में इनकी संख्या 13 लाख थी।[23] इन भारतीयों में हिंदी एवं अहिंदीभाषी सभी प्रदेशों के लोग थे, और काफी लोग अपनी भाषा, धर्म, संस्कृति, साहित्य की रक्षा के प्रति संवेदनशील थे। इसी से प्रेरित होकर वहाँ भारतीय विद्या भवन, चिन्मय शिक्षा, हिंदू मंदिर तथा साहित्यिक एवं भाषिक संस्थाओं की स्थापना हुई। अमेरिका में कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह ने 'अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति' की 1980 में स्थापना की और कवि-सम्मेलनों की परंपरा आरंभ की। उसके बाद रामेश्वर अशांत, गुलाब खंडेलवाल, डॉ॰ भूदेव शर्मा, डॉ॰ वेदप्रकाश 'बटुक', प्रो॰ राम चौधरी, डॉ॰ विजयकुमार मेहता, डॉ॰ सुषम वेदी, डॉ॰ अंजना संधीर, डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा, रेणु गुप्ता राजवंशी, देवेंद्रसिंह आदि हिंदी साहित्यकारों, हिंदी प्रोफेसरों तथा हिंदीप्रेमियों ने वहाँ हिंदीभाषा एवं साहित्य का ऐसा संसार निर्मित कर दिया है कि हिंदी के प्रवासी साहित्य में उसने अपनी अलग पहचान बना ली है। रामेश्वर अशांत न्यूयार्क में थे तो हिंदी के केंद्र थे और लगभग चालीस सदस्य उनकी समिति के साथ जुड़े हुए थे। इनमें अमेरिका में रहनेवाले उद्योगपति अनिमेष गोयनका जैसे हिंदीप्रेमी भी थे, जो अब वहाँ इन दिनों हिंदी-शिक्षण के अनेक स्कूल चलाते हैं। डॉ॰ भूदेव शर्मा ने 'हिंदू एजूकेशन एंड रिलीजियस सोसाइटी ऑफ अमेरिका' बनाई और हिंदी में 'विश्व विवेक' त्रैमासिक पत्रिका निकाली। 'विश्व विवेक' लगभग 12 वर्ष तक निकली। उन्होंने अनेक प्रवासी प्रोफेसरों, इंजीनियरों, डॉक्टरों आदि की हिंदी-रचनाएँ प्रकाशित करके हिंदी का वातावरण निर्मित किया। डॉ॰ कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह ने 'अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति' की स्थापना की और 'विश्वा' त्रैमासिक हिंदी-पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। इसके साथ गुलाब खंडेलवाल जैसे प्रवासी लेखक भी जुड़े और उसके संपादक-मंडल में भी रहे।

अमेरिका के प्रवासी हिंदी साहित्य का अभी कोई वैज्ञानिक सर्वेक्षण नहीं हुआ है। अमेरिका में जो प्रवासी हिंदी-लेखक लिख रहे हैं, उनमें कविता सबसे प्रिय विधा है, उसके बाद कहानी, फिर उपन्यास एवं निबंध। हिंदी-कविता के क्षेत्र में वेदप्रकाश 'बटुक', गुलाब खंडेलवाल, विजयकुमार मेहता, अंजना संधीर, सुधा ओम ढींगरा, रेणु गुप्ता 'राजवंशी', देवी नागरानी, रेखा मैत्र, सुषम वेदी, कल्पना सिंह चिटनिस आदि ने निरंतर काव्य-साधना से अपनी पहचान बनाई है। वेदप्रकाश 'बटुक' प्रवासी कवियों में एक प्रतिष्ठित नाम है। वे लगभग चार दशकों से लिख रहे हैं और उनके 21 कविता-संग्रह छपे हैं। 'बटुक' के कविता-संग्रह 'एक बूँद और' की भूमिका में अज्ञेय ने उकी काव्य-चेतना के मूल्यांकन में लिखा कि 'बटुक' जी की कविताओं में प्रबल ऊर्जा के वेग की कसमसाहट है, दो जीवन-दृष्टियों और संस्कृतियों का तनाव है, अस्मिता की एक छटपटाहट-भरी खोज है।[24] गुलाब खंडेलवाल कई दशकों से अमेरिका में हैं, लेकिन अपनी मातृभूमि की जड़ों से जुड़े हैं। उनके 47 कविता-संग्रह छप चुके हैं और पाँच खंडों में काव्य-रचनावली भी प्रकाशित हो गई है। डॉ॰ विजय मेहता हृदयरोग विशेषज्ञ हैं, लेकिन उनकी सात काव्यकृतियाँ

छपी हैं–'मधुमास के फूल', 'पुष्पांजलि', 'तथागत' (खंडकाव्य), 'भिक्षुणी' (महाकाव्य), 'प्रणय पारिजात', 'सम्राट चंद्रगुप्त' (महाकाव्य) तथा 'सुमन-सुंदरी'।

अमेरिका में हिंदी-कविता के लिखने की प्रवृत्ति सर्वाधिक है, क्योंकि कविता कम समय चाहती है और वहाँ के रचनाकारों के पास समय का अभाव रहता ही है। अमेरिका के इन हिंदी कवियों/कवयित्रियों में से कुछ ने अपने निजी कविता-संग्रहों के साथ सामूहिक कविता-संकलन भी प्रकाशित कराए हैं। इनमें सर्वप्रमुख नाम डॉ॰ अंजना संधीर का है। उनके निजी कविता-संग्रह हैं–'बारिशों का मौसम' (गजल), 'धूप, छाँव और आँगन', 'तुम पापा जैसे नहीं हो', 'अमेरिका हड्डियों में जम जाता है', तथा 'प्रवासिनी के बोल' आदि। अंजना ने 'प्रवासिनी के बोल' कविता-संकलन में 81 कवयित्रियों की 324 कविताएँ प्रकाशित करके अमेरिका के प्रवासी हिंदीकाव्य का एक अज्ञात किंतु महत्त्वपूर्ण क्षितिज खोल दिया। इस प्रकार के सामूहिक कविता-संग्रह डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा ने 'मेरा दावा है' शीर्षक से प्रकाशित कराया। डॉ॰ ढींगरा के निजी कविता-संग्रह हैं–'माँ ने कहा था', 'तलाश पहचान की', 'सफर यादों का', 'धूप से रूठी चाँदनी' तथा 'सरकती परछाइयाँ' आदि। डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा परदेस में स्वदेशानुभूतियों की कवयित्री हैं, जिसे वे 'प्रवासी वेदना' के रूप में अभिव्यक्त करती हैं। अमेरिका के लगभग 35 से अधिक कवि-कवयित्रियों के निजी कविता-संग्रहों के विवरण मिलते हैं। इनमें से अधिकांश के एक-एक कविता-संग्रह तथा कुछ के दो या तीन भी प्रकाशित हुए हैं। इनका विवरण यहाँ देना उचित होगा–अंशु जौहरी का 'खुले पृष्ठ' (खंडकाव्य), अनुराधा चंदर का 'कुछ कहता है मेरा मन', कमल कोठारी व तरुण कोठारी का 'तृप्ति', कमलेश कपूर का 'अस्तित्व के परमाणु', कल्पना सिंह चिटनिस के 'चाँद का पैबंद', 'निशांत' एवं 'तफतीश जारी है', कुसुम सिन्हा का 'भाव नदी से कुछ बूँदें', जयंतीराय एवं सुरेशराय का 'अनुभूति के दो स्वर', देवी नागरानी के 'चरागे-दिल', 'दिल से दिल तक' एवं 'लौ दर्दे-दिल की' (गजलें), प्रतिभा सक्सेना का 'उत्तर कथा' (खंडकाव्य) प्रीतिसेन गुप्ता का 'खंडित आकाश', पूर्णिमा गुप्ता का 'परदेसन' एवं 'मेरे अरमान', धनंजयकुमार के 'अधूरी बात' एवं 'बर्फ की दीवार', अब्दुल्ला का 'रेत की लहरें', अशोककुमार सिन्हा के 'पुष्पधन्वा' (खंडकाव्य) एवं 'बूँदें', ओमप्रकाश गौड़ 'प्रवासी' के 'गीत किसके', 'राधिका' (खंडकाव्य) एवं 'प्रेयसी' (महाकाव्य), रेखा द्विवेदी के 'जागती आँखों के सपने' एवं 'हिरण्यगर्भा', रेखा मैत्र के 'रिश्तों की पगडंडी', 'मुट्ठी-भर धूप', 'बेशर्म के फूल', 'पलकों की परछाइयाँ', 'मन की गली', 'ढाई आखर' एवं 'उस पार'; रेखा रस्तोगी 'कल्प' के 'पाँखुर-पाँखुर' तथा 'धूप का संकेत'; रेणु गुप्ता राजवंशी के 'प्रवासी-स्वर' एवं 'प्रवासी मन'; लावण्य शाह का 'फिर गा उठा प्रवासी'; अनुभव शुक्ल का 'अभिनव अनुभूतियाँ'; देवेंद्रपाल सिंह 'परिहार' द्वारा संपादित 'परिचय की पुरवाई'; राकेश खंडेलवाल के 'अमावस का चाँद', 'अँधेरी रात का सूरज' एवं 'धूप गंध चाँदनी'; रामबाबू गौतम का 'दूर के क्षितिज से' एवं संपादित 'नवतरंग', रमेशचंद्र का 'पोर पोर कविता विभोर'; सुदर्शन प्रियदर्शिनी के 'शिखंडी युग', 'बरहा' एवं 'मुझे बुद्धू नहीं बनना'। इला प्रसाद का 'धूप का टुकड़ा'; निर्मला शुक्ल का 'स्मृतियाँ'; किरण सिन्हा का 'सात समंदर पार'; अनुराग शर्मा का 'पतझड़ सावन वसंत बहार'; सुरेश विज का 'उत्तरार्ध'; सुषमा मल्होत्रा का 'अंगुरी-भर पुष्प'; सुषम बेदी का 'शब्दों की खिड़कियाँ'; सुभाष काक का 'एक ताल का दर्पण'; सुरेंद्रनाथ तिवारी का 'उठो पार्थ गांडीव सँभालो'; सौमित्र

सक्सेना का 'मित्र'; शकुंतला बहादुर के 'मृगतृष्णा' एवं 'बिखुरी पंखुड़ियाँ'; हरिबाबू का 'उरोज', 'उर में ओज'; देवेंद्रनाथ शुक्ल के 'प्रवासी' एवं 'दुरिहा छुट गे गाँव'; हिमांशु पाठक का हास्य कविता-संग्रह 'अमरीकी झरोखे से'; निर्मला शुक्ल का 'स्मृतियाँ', आदि। इस सूची के बाद भी कुछ कविता-संग्रह अवश्य ही छूट गए होंगे, लेकिन इससे यह स्पष्ट है कि अमेरिका में कविता-लेखन की प्रवृत्ति बढ़ रही है और वहाँ के कवि/कवयित्रियाँ अतुकांत कविता, गीत, गजल आदि विभिन्न काव्य-रूपों में अपनी प्रवासकालीन अनुभूतियों को वाणी दे रहे हैं। वहाँ के कवि महाकाव्य, खंडकाव्य आदि प्रबंधकाव्यों की रचना के भी प्रयोग कर रहे हैं। यदि हरिशंकर आदेश को अमेरिका का लेखक मानें (वे त्रिनिडाड एवं कनाडा में भी रहते हैं) तो उन्होंने कई महाकाव्यों, खंडकाव्यों, गीत-संग्रहों एवं मुक्तक-काव्यों की रचना की है और वे अपनी काव्यात्मक प्रतिभा से हिंदी के संपूर्ण प्रवासी साहित्य में सबसे अधिक अवधि तक तथा निरंतर काव्य-साधना करके सबसे अधिक काव्य-कृतियों को प्रकाशित करनेवाले कवि बन जाते हैं।

अमेरिका में कहानी और उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति भी कम नहीं है, लेकिन इन विधाओं में लेखिकाओं का वर्चस्व है। संभवत: इसका कारण यह है कि प्रवासी भारतीय महिलाएँ जिस प्रकार स्वदेश-परदेश तथा दो भिन्न संस्कृतियों के द्वंद्व में जीती हुई घर-गृहस्थी को संचालित करती हैं, वह उनमें अनुभवों एवं संवेदनाओं को कथा एवं पात्रों में पिरोकर अभिव्यक्त करती रही हैं। यदि हम यहाँ उषा प्रियंवदा, कृष्ण बलदेव वैद आदि की चर्चा न करें तो सोमा वीरा, सुषम बेदी, रेणु गुप्ता 'राजवंशी', इला प्रसाद, पुष्पा सक्सेना, सुधा ओम ढींगरा आदि ने विशेष ख्याति प्राप्त की। कहानी में सोमा वीरा की 'धरती की बेटी', 'दो आँखोंवाले चेहरे' तथा 'परछाइयों के प्रश्न' कृतियाँ प्रकाशित हुई; सुषम बेदी की 'चिड़िया और चील'; रेणु गुप्ता 'राजवंशी' के 'कौन कितना निकट', 'जीवनलीला' एवं तमसो मा जयोतिर्गमय'; सुधा ओम ढींगरा के 'वसूली', 'कौनसी जमीन अपनी', कमरा नं॰ 103; इला प्रसाद का 'इस कहानी का अंत नहीं', पुष्पा सक्सेना के 'माटी के तारे', 'प्यार के नाम', 'वेलेंटाइन डे' तथा 'प्यार की शर्त', अमरेंद्रकुमार के 'चूड़ीवाला और अन्य कहानियाँ' तथा 'गांधी जी खड़े देखते हैं'; अंशु जौहरी का 'शेष फिर'; कमलादत्त का 'मछली सलीब रंगी'; कमलेश कपूर का 'पट पर तीन छाया'; रजनीकांत लहरी का 'प्रवासी की माँ'; प्रतिभा सक्सेना के 'सीमा के बंधन' एवं 'घर मेरा है'; पूर्णिमा गुप्ता का 'उदन'; राजश्री का 'उमगते निर्झर'; रेखा रस्तोगी 'कल्प' के 'आक्रोश', 'अनाम रिश्ते' एवं 'लार्वा'; लावण्य शाह का 'अमर युगल कथाएँ'; सुदर्शन प्रियदर्शिनी का 'उत्तरायण'; शालिग्राम शुक्ला के 'काला हंस' और 'कंचन मृग'; नरेंद्रकुमार सिन्हा के 'अधूरे सपने' एवं 'परंपरा'; कुसुम सिन्हा के 'सुख-दु:ख के दोनों तीरे' तथा 'माँ का बेटा'; विशाखा ठक्कर का 'संबोधन की तलाश' और धनंजयकुमार, मधु महेश्वरी एवं गुलशन कुमार के संपादकत्व में प्रकाशित 'कथांतर', (17 कहानीकारों की कहानियों का संकलन) तथा 'दिशांतर', अमेरिका-कनाडा के लेखकों की कहानी, कविता, निबंध व्यंग्य आदि का संकलन), आदि प्रकाशित हुए। उपन्यास के क्षेत्र में सुषम बेदी के सर्वाधिक उपन्यास छपे हैं। उनके उपन्यास हैं-'हवन', 'लौटना', 'कतरा-दर-कतरा', 'इतर', 'गाथा अमरबेल की', 'नवाभूम की रसकथा' तथा 'मोरचे' आदि। बेदी के उपन्यासों में अमेरिका में रहने वाले भारतीयों के जीवन-सूत्रों, तनावों, संबंधों, संघर्षों एवं सरोकारों का बड़ा वास्तविक चित्रण है और उनके नये रिश्तों को खोजने की चेष्टा है। वे मानती

हैं कि प्रवासी लेखकों ने नयी भाव-भूमि दी है, किंतु अभिव्यक्ति का कला-पक्ष अभी कमज़ोर है।[25] रेणु गुप्ता 'राजवंशी' ने अपनी सृजनात्मकता के बारे में लिखा है कि मेरा लेखन भारत-अमेरिका के परिवेश में पला-बढ़ा है। हमारे भारतीय अनुभव अमेरिकी अनुभवों से पोषित होकर नया रूप लेते हैं जो एक नवीन संस्कृति को जन्म देते हैं।[26] सुदर्शन प्रियदर्शिनी के उपन्यासों में भी यही स्वदेश-परदेश का द्वन्द्व है। उनके चार उपन्यास छपे हैं–'सूरज नहीं उगेगा', 'जलाक', 'रेत के घर' तथा 'तुम सुखी हो ना'। अमेरिका के अन्य उपन्यासकारों में रामेश्वर अशांत के 'यशोधर्मन', 'बंदा बैरागी' एवं 'गोवा के क्रांतिकारी', सोमा वीरा का 'तीनी', राजश्री का 'क्षितिज की सन्तान', स्वदेश राणा का 'कोठेवाली', अशोककुमार सिन्हा का 'सुबह का भूला', वेदप्रकाश सिंह का 'आमंत्रण', पुष्पा सक्सेना के 'ऋचा', 'बाहों में आकाश' तथा 'देवयानी', रेणु गुप्ता राजवंशी का 'असतो मा सदगमय', प्रतिभा सक्सेना का 'घर मेरा है' तथा रचना रामया अग्रवाल का 'दिग्भ्रमित' तथा सुधा ओम ढींगरा के दो उपन्यास 'आकाश ढूँढती वह' और 'और गंगा बहती रही' कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

अमेरिका के प्रवासी हिंदी-लेखकों की कुछ रचनाएँ अन्य विधाओं में भी मिलती हैं, यद्यपि इनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। निबंध एवं आलेख-संग्रह में रामेश्वर अशांत की 'गगन की गुफाएँ', 'राजस्थान का इतिहास', 'पृथ्वीराज चौहान' तथा 'स्वर्ग-शिल्पी', तुलसी जयरामन की 'मेरे चिंतन की धारा', प्रो॰ राम चौधरी की 'भारतीय अस्मिता के अग्रदूत', वेदप्रकाश सिंह की 'प्राचीन हिंदूराष्ट्र', सुरेंद्र गंभीर की 'भाषा-चिंतन', उषा गुप्ता की 'अमेरिका प्रवासी भारतीय हिंदी प्रतिभाएँ' (दो खंड), शकुंतला बहादुर की 'विविधा' तथा विजय मेहता की शोध-पुस्तक 'मगध साम्राज्य, चाणक्य और चंद्रगुप्त : एक ऐतिहासिक विश्लेषण' आदि उल्लेखनीय पुस्तकें हैं। आत्मकथा में पूर्णिमा गुप्ता की दो पुस्तकें–'जर्जर नींव : खुला पिंजरा' तथा 'बेरहम रिश्ते : खुला पिंजरा' प्रकाशित हुई हैं। यात्रा वृत्तांत में श्यामनारायण शुक्ल की 'गंगा से मिसिसिपी तक', शकुंतला बहादुर की 'सुधियों की लहरें' एवं त्रिलोचनसिंह गिल की 'देश-प्रदेश' एवं 'और ज़िन्दगी हसीन है' कृतियाँ छपी हैं। व्यंग्य में प्रतिभा सक्सेना की 'फैसला सुरक्षित है' एवं नाटक में सोमा वीरा का नाटक 'साथी हाथ बढ़ाना' और अशोककुमार सिन्हा के रेडियो रूपकों का संग्रह 'नई कविता : पुरानी कविता' प्रकाशित हुए हैं। अमेरिका में कुछ संस्थाओं तथा व्यक्तियों ने वहाँ हिंदी-शिक्षण के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार की हैं। देवेंद्रसिंह की पत्नी रचिता सिंह ने ऐसी बीस पाठ्य-पुस्तकें तैयार की हैं, जो भारतवंशियों की नई नस्ल को हिंदी पढ़ाने के काम में आ रही हैं। अमेरिका की 'सौरभ', 'विश्वा', 'विश्व विवेक', 'हिंदी-जगत', 'क्षितिज', 'भारती', 'हिंदी विश्वभारती' आदि हिंदी-पत्रिकाओं में अपरिमित हिंदी-रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, वे भी अमेरिका के प्रवास हिंदी साहित्य की अंग हैं। इन रचनाओं में गद्य-पद्य की अधिकांश विधाओं का साहित्य मिलता है। इस समय अमेरिका में हिंदी-शिक्षण, कवि-सम्मेलन के आयोजन तथा हिंदी में साहित्य की रचना का जैसे एक आंदोलन ही चल रहा है और इससे नए- नए हिंदीप्रेमी जुड़ रहे हैं। अमेरिका से जुड़े कनाडा में भी हिंदीभाषा और साहित्य प्रवासी भारतीयों को एक सूत्र में बाँधता है और वहाँ भी हिंदी साहित्य की रचना एवं हिंदी तथा पंजाबी आदि भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार का अनुकूल वातावरण बन गया है। कनाडा में हिंदी परिषद्, क्यूबेक हिंदी संघ, विश्व हिंदू परिषद्, हिंदी साहित्य परिषद्, नागरी प्रचारिणी सभा, सद्भावना हिंदी साहित्यिक

संस्था आदि कई संस्थाएँ हिंदूधर्म, संस्कृति एवं हिंदीभाषा साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए वर्षों से कार्य कर रही हैं। 'हिंदी प्रचारिणी सभा' के अध्यक्ष श्याम त्रिपाठी तथा संरक्षक महाकवि प्रो॰ हरिशंकर आदेश हैं। यह सभा कई वर्षों से 'हिंदी चेतना' त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन कर रही है। कामिल बुल्के की जन्म-शताब्दी पर 'हिंदी-चेतना' ने सबसे पहले विशेषांक निकालकर विशेष ख्याति प्राप्त की। कनाडा में ही स्नेह ठाकुर ने 'सद्भावना हिंदी साहित्यिक संस्था' की स्थापना की और चार हिंदी कविता-संकलनों का प्रकाशन किया। वे सन् 2004 में 'वसुधा' त्रैमासिक पत्रिका भी निकाल रही हैं तथा उनके सात कविता-संग्रह, दो नाटक तथा चार संपादित पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। श्रीनाथ प्रसाद द्विवेदी ने 17 कवियों का एक संकलन 'कनैडियन हिंदी काव्यधारा' शीर्षक से प्रकाशित कराया। इनके अतिरिक्त राज माहेश्वरी का कविता-संग्रह 'काव्योपहार', भुवनेश्वरी पांडेय का 'डायल मी माधव', महेश उपाध्याय का 'पूरब-पश्चिम सतसई' एवं भगवतशरण श्रीवास्तव का 'मृगतृष्णा' भी प्रकाशित हुए। कहानी-संग्रह में डॉ॰ हंसादीप का 'चश्मे अपने-अपने' भी मिलता है। वर्तमान में 'हिंदी चेतना' पत्रिका की टीम प्रवासी साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही है। अमेरिका और कनाडा में कई संस्थाएँ और व्यक्ति हिंदीभाषा और साहित्य की उन्नति के लिए कार्यरत हैं। यदि वे सभी मिलजुल कर काम करें तो और भी अच्छा काम हो सकता है।

यूरोपीय महाद्वीप का हिंदी साहित्य

यूरोप महाद्वीप में इंग्लैंड ही एक ऐसा देश है, जहाँ प्रवासी भारतीयों ने कविता, कहानी, नाटक, पत्रकारिता आदि विधाओं में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इधर ब्रिटेन के प्रवासी हिंदी साहित्य पर दो पुस्तकें आई हैं—राधाकांत भारती द्वारा संपादित 'ब्रिटेन में हिंदी रचनाकार' तथा उषा राजे सक्सेना की 'ब्रिटेन में हिंदी'। इनमें उषा राजे की पुस्तक इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वह ब्रिटेन में हिंदीभाषा और साहित्य के विकास और उसके इतिहास को प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करती है। वैसे 'पुरवाई' (1997 से) पत्रिका ने ब्रिटेन के हिंदी संसार के संबंध में काफी सामग्री दी है। ब्रिटेन में हिंदी के प्रति रुचि मिस्टर पिन्कॉट, डॉ॰ एल॰एफ॰ रूनालड हर्नली, डॉ॰ ग्रियर्सन, मैक ग्रेगर आदि ने उत्पन्न की। हरिवंशराय 'बच्चन' के सन् 1951 में अध्ययन के लिए ब्रिटेन जाने पर उनकी प्रेरणा से 'हिंदी परिषद्, लंदन' की स्थापना हुई और पाँच वर्ष तक हिंदी के कई कार्यक्रम हुए और प्रवासी भारतीयों के मन में अपने धर्म, संस्कृति, कला, साहित्य, संगीत के प्रति आकर्षण बढ़ता गया। वहाँ 1962-63 में 'मुसाफिर' एवं 'बड़े साहब' नाटक खेले गए और नरेश भारतीय ने 'चेतक' 1967 पत्रिका निकाली तथा 'प्रवासिनी' एवं 'अमरदीप' आदि हिंदी-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन हुआ। अब हिंदीप्रेमियों ने छोटी-छोटी संस्थाएँ बनाईं, कैम्ब्रिज एवं आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में हिंदी-शिक्षण शुरू हुआ तथा बी॰बी॰सी॰ की हिंदीसेवा का भी आरंभ हुआ। डॉ॰ लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के इंग्लैंड में भारतीय उच्चायुक्त होने पर इस स्थिति में और विकास हुआ और उनकी प्रेरणा से 'हिंदी समिति, यू॰के॰', 'अहिंसम्', 'हिंदीभाषा समिति मैनचेस्टर', 'कथा-यू॰के॰', 'साउथ लंदन गिल्ड ऑफ हिंदी विमेन राइटर्स', 'कृतिः यू॰के॰', 'वातायन' 2003, 'प्रवासी काव्यधारा' आदि की स्थापना हुई और इंग्लैंड की विभिन्न दिशाओं-क्षेत्रों में हिंदीभाषा-साहित्य के लिए काम होने लगा। पत्रिकाओं में अब 'पुरवाई', 'प्रवासी : टुडे', 'लंदन टाइम्स' आदि का

प्रकाशन हो रहा है। पद्मेश गुप्त और उनके साथियों ने लंदन में 'छठा विश्व हिंदी सम्मेलन' का आयोजन करके अँग्रेजी के किले पर हिंदी का झंडा फहरा दिया और अनेक हिंदी लेखक सामने आए। ब्रिटेन में प्रवासी भारतीय प्राय: उच्च शिक्षा प्राप्त हैं, उच्च पदों पर कार्यरत हैं, उनकी पत्नियाँ भी शिक्षित हैं, हिंदी-गुजराती आदि उनकी मातृभाषाएँ हैं, लेकिन इनके मन में भारत और भारतीय संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि से प्रेम है और वे दो भिन्न संस्कृतियों तथा जीवन-शैलियों के तनावों और विसंगतियों के द्वंद्व में जी रहे हैं। ये वे लोग हैं, जो बेहतर भौतिक जीवन के लिए स्वेच्छा से ब्रिटेन आदि देशों में गए, लेकिन गोरों के सम्मुख हीनता-बोध में रह रहे हैं। इन भारतीयों में से कुछ ने अपनी अनुभूतियों, संवेदनाओं को हिंदीभाषा में अभिव्यक्त करना शुरू किया तो वह भारत के हिंदी-समाज तक पहुँचने लगे। ब्रिटेन में हिंदी-लेखकों का जाना आरंभ हुआ, कवि-सम्मेलन तथा गोष्ठियाँ होने लगीं, नेहरू सेंटर में पुस्तकों का विमोचन एवं गोष्ठियाँ आयोजित हुईं और वहाँ के प्रवासी हिंदी-लेखकों की पुस्तकें भारत में छपने लगीं। ब्रिटेन के प्रवासी हिंदी लेखकों को भारत आना होता रहा और साहित्य अकादमी ने तो उनके स्वागत-सम्मान में 'प्रवासी मंच' ही शुरू कर दिया। इस प्रकार तीन-चार दशकों से प्रवासी हिंदी लेखकों की कृतियाँ सामने आने लगीं और विशेष रूप से कविता और कहानी में प्रवासी सर्जनात्मकता अपनी विशिष्ट संवेदनाओं को हिंदीभाषा में अभिव्यक्त करने लगी।

इंग्लैंड में कविता के क्षेत्र में पचास से अधिक ही कवि मिलेंगे, लेकिन इनमें बीस के लगभग ऐसे कवि हैं, जिनकी काव्यकृतियाँ प्रकाश में आई हैं और अपनी पहचान बनाई है। इनमें 'खुले आसमान के नीचे' एवं 'कीर्ति चौधरी की कविताएँ' आदि कविता-संग्रह तथा सत्येंद्र श्रीवास्तव के 'स्थिर यात्राएँ', 'मिसेज जोंस और वह गली', 'सतह की गहराई', 'कुछ कहता है यह समय' एवं 'आज स्थिर है ज्वार' तथा चार अँग्रेजी में लिखी मूल कविताओं के संग्रह छपे हैं। श्रीवास्तव के पास अनुभूतियों का व्यापक तथा घनीभूत संसार है तथा उनकी कुछ कविताएँ काफी प्रसिद्ध हुई हैं। इंग्लैंड की दिव्या माथुर, गौतम सचदेव, कृष्णकुमार, उषा राजे, पद्मेश गुप्त, प्राण शर्मा, रमा भार्गव, भारतेंदु विमल, कृष्णा अनुराधा, स्वर्ण तलवाड़, रमा जोशी, कृष्ण कन्हैया, शैल अग्रवाल, श्यामा कुमार, देवी मिश्रा, सरोज श्रीवास्तव, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, पुष्पा भार्गव के काव्य-संकलन प्रकाशित हुए। इनमें अधिकांश कविता-संग्रह डॉ॰ लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के इंग्लैंड में भारतीय उच्चायुक्त होने के बाद प्रकाशित हुए हैं।

इंग्लैंड में कविता की तुलना में कहानी में सर्जनात्मकता इतनी व्यापक नहीं है और न कहानीकारों की संख्या भी कवियों की तुलना में अधिक है, लेकिन कुछ ऐसे कहानीकारी अवश्य हैं, जिन्होंने भारत ही नहीं विश्व के हिंदी-संसार में अपनी पहचान बनाई है और पाठक उनकी कहानियों को उत्सुकता से पढ़ते हैं। इन कहानीकारों में कीर्ति चौधरी, उषा राजे सक्सेना, तेजेंद्र शर्मा, दिव्या माथुर, गौतम सचदेव, उषा वर्मा, महेंद्र दवेसर 'दीपक' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। कीर्ति चौधरी की कहानियाँ इसी शीर्षक से सन् 2004 में छपी थीं; यद्यपि वे काफी पहले से लिखती रही थीं। उषा राजे सक्सेना के 'प्रवास में', 'वर्किंग पार्टनर', 'वह राज और अन्य कहानियाँ' कहानी-संग्रहों के अतिरिक्त उनके संपादन में 'मिट्टी की सुगंध' का भी प्रकाशन हुआ है। तेजेंद्र शर्मा के अभी तक सात कहानी-संग्रह छपे हैं। महेंद्र दवेसर 'दीपक' के तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। दिव्या माथुर के दो कहानी-संग्रह, उषा वर्मा का 'कारावास' तथा

दो संपादित कहानी-संग्रह, गौतम सचदेव के 'साढ़े सात दर्जन' एवं 'अटका हुआ पानी', शैल अग्रवाल का 'ध्रुवतारा', कादंबरी मेहरा का 'कुछ जग की', 'पथ के फूल' तथा 'रंगों के इस पार', अरुणा सब्बरवाल का 'कहा-अनकहा' आदि कहानी-संग्रह हिंदी साहित्य के अंग बन चुके हैं। उपन्यास में नरेश भारतीय के दो उपन्यास 'सिमट गई धरती', 'दिशाएँ बदल गई', भारतेंदु विमल का 'सोन मछली', विजया मायर का 'रिश्तों का बंधन', प्रतिभा डाबर के 'वो मेरा चाँद' एवं 'दो चम्मच चीनी के' तथा नीना पॉल की 'रिहाई' तथा 'तलाश' आदि प्रकाशित हुए हैं। नाटक में अचला शर्मा के 'जड़ें' एवं 'पासपोर्ट', सत्येंद्र श्रीवास्तव के 'मिस वर्ल्ड अनडिक्लेयर्ड', तेजेंद्र शर्मा का 'हनीमून', निबंध-आलोचना-संस्मरण में नरेश भारतीय की 'टेम्स के तट से', 'उस पार इस पार' तथा 'आतंकवाद', सत्येंद्र श्रीवास्तव के 'टेम्स में बहती गंगा की धारा' एवं 'कंधे पर इंद्रधनुष' (यात्रा-डायरी), ओंकारनाथ श्रीवास्तव की 'हिंदी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष' एवं 'चलते-चलते', उषा राजे सक्सेना की 'ब्रिटेन में हिंदी', शैल अग्रवाल की 'लंदन पाती', श्रीमती वीरेंद्र संधु की 'युगद्रष्टा भगतसिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे' एवं रमेश वैश्य मुरादाबादी की 'विलायत में भारतीय संस्थाएँ', गौतम सचदेव का व्यंग्य-संग्रह 'सच्चा झूठ' तथा जीवन-चरित्र में नरेश भारतीय की पुस्तक 'युग भगीरथ श्रीगुरु जी' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बालसाहित्य में वेद मोहला ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मोहला ने अँग्रेजी माध्यम से हिंदी-शिक्षण के लिए 'समूची हिंदी शिक्षा' (चार भाग) पुस्तक तैयार की और बच्चों के लिए 'धरती की दौलत', 'इस माटी के लाल', 'खेत खेत को पानी', 'विज्ञान के झरोखे से', 'संसार के अनोखे पुल', 'आई जी सी एस ई हिंदी' एवं 'बुलबुले' प्रकाशित कराईं।

यह ब्रिटेन के प्रवासी साहित्य की एक झलक है। इससे स्पष्ट है कि ब्रिटेन में हिंदीभाषा एवं साहित्य का एक संसार निर्मित हुआ है और लेखकों की प्रतिभावान पीढ़ी सामने आई है। पद्मेश गुप्त और उनके साथियों ने लंदन में विश्व हिंदी सम्मेलन की आयोजना करके तथा सुरेंद्र अरोड़ा, अनिल शर्मा जैसे हिंदी अधिकारियों ने हिंदी-शिक्षण, हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन, कवि-सम्मेलन एवं 'हिंदी ज्ञान प्रतियोगिता' आदि कार्यक्रमों से ब्रिटेन में हिंदी का वातावरण बनाने में उल्लेखनीय योग दिया। यूरोप, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका आदि में ब्रिटेन जैसा हिंदीप्रेमियों तथा लेखकों का समुदाय नहीं बन सका, जिसका एक प्रमुख कारण यही है कि इन महाद्वीपों तथा देशों में भारतीयों की संख्या बहुत कम है। नार्वे में असित जोशी अनेक वर्षों से 'शांतिदूत' त्रैमासिक पत्रिका निकालते हैं और नार्वे में ही सुरेशचंद्र शुक्ल 'स्पाइल' (हिंदी-नार्विजन भाषा में) त्रैमासिक पत्रिका निकालते हैं। उनके 'वेदना', 'रजनी', 'नंगे पाँवों का सुख', 'दीप जो बुझे नहीं', 'संभावनाओं की तलाश' तथा 'नीड़ में फँसे पंख' कविता-संग्रह; 'तारूफी ख़त' एवं 'प्रवास कहानियाँ' तथा 'अर्धरात्रि का सूरज' (कहानी-संग्रह) प्रकाशित हुए हैं। जर्मन में डॉ॰ बहादुरसिंह, डॉ॰ इंदुप्रकाश पांडेय कई दशकों से हिंदीभाषा एवं साहित्य का अध्यापन करते रहे हैं। डॉ॰ पांडेय की अब तक विभिन्न विधाओं की बारह पुस्तकें छप चुकी हैं। डॉ॰ पांडेय की पत्नी हाइडेमरी पांडेय ने 'चितकोबरा, 'अनारो' एवं 'मित्रो मरजानी' का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। वसुधा डालमिया ने जर्मन में रहते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र पर अँग्रेजी में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी। डॉ॰ पुष्पिता ने सूरीनाम और नीदरलैंड में रहते हुए अनेक पुस्तकों की रचना की। उनके पाँच कविता-संग्रह, कहानियों में 'गोखरू' तथा संपादित कृतियाँ 'कविता सूरीनाम' एवं 'कथा सूरीनाम', शोध-आलोचना में

'गैरीयिाई देशों में हिंदी-शिक्षा का इतिहास' एवं भेंटवार्ता संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। सूरीनाम के प्रवासी साहित्य पर उनका कार्य सर्वथा मौलिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व का है। यूरोप के फ्रांस, हंगरी, चेक, पोलैंड, रूमानिया आदि देशों में हिंदी-शिक्षण होता है, पाठ्यपुस्तकें भी तैयार की गई हैं, परंतु किसी भारतीय प्रवासी की रचना की जानकारी नहीं है। डेनमार्क में अर्चना पैन्यूली के दो उपन्यास 'परिवर्तन' एवं 'वेअर डू आई बिलोंग' प्रकाशित हुए। सतीकुमार ने बुल्गारिया एवं स्वीडन में वहाँ की कविताओं का हिंदी में अनुवाद किया। डॉ॰ लक्ष्मीप्रसाद मिश्र ने इटली में रहते हुए 'इतावली कहानियाँ' नाम से एक संकलन प्रकाशित कराया और वर्षों तक वहाँ हिंदी-शिक्षण किया। रूस में डॉ॰ मदनलाल 'मधु' ने कई दशकों तक रहकर रूसी कृतियों का हिंदी में अनुवाद किया और 'गोर्की और प्रेमचंद : दो अमर प्रतिभाएँ' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी। सन् 1928-29 में केशोराम सब्बरवाल ने प्रेमचंद की कई कहानियों का जापानी में अनुवाद किया। प्रो॰ सत्यभूषण वर्मा ने 'हिंदी-जापानी कोश' तैयार किया। जापान में डॉ॰ लक्ष्मीधर मालवीय, राज बुद्धिराजा, बदरीनाथ कपूर, इंदुजा अवस्थी, सत्यप्रकाश मिश्र, मंजुला दास, मीरा श्रीवास्तव, इंदु जैन, कृष्णदत्त पालीवाल, सुरेश ऋतुपर्ण आदि ने हिंदीभाषा का शिक्षण किया और वहाँ रहते हुए कविता, लेख, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, डायरी आदि लिखीं। रमेश दिविक, कर्णसिंह चौहान आदि दक्षिण कोरिया में हिंदी अध्यापक बनकर गए। दिविक ने वहाँ की कविताओं का हिंदी में अनुवाद किया। जमैका (वैस्टइंडीज) में डॉ॰ सीताराम पोद्दार ने 'हिंदी क्लब' बनाया तथा हिंदी पढ़ाने के लिए पाठ्य-पुस्तक तैयार की। इस्लामिक देशों में, साइप्रस में डॉ॰ ममता जैन ने अपना कविता-संग्रह 'साइप्रस नहीं लुभाता' प्रकाशित कराया। आबूधाबी में कृष्णबिहारी ने व्यापक रूप से साहित्य-सर्जना की है। उनके छः कहानी-संग्रह छपे हैं। पूर्णिमा वर्मन का एक कविता-संग्रह 'वक्त के साथ' छपा है। वह 'अभिव्यक्ति' तथा 'अनुभूति' दो वेबसाइटें वर्षों से चलाती हैं तथा प्रवासी हिंदी साहित्य के विकास में उल्लेखनीय योग दे रही हैं। ये वेबसाइटें देश-विदेशी हिंदी-लेखकों को एक मंच पर लाकर हिंदी की एक नई दुनिया बना रही हैं। आस्ट्रेलिया के प्रवासी हिंदी-कवियों का एक संकलन 'बूमरैंग' छपा है, जिसे रेखा राजवंशी ने संपादित किया है। हिमांशु जोशी के संपादन में साहित्य अकादमी से प्रवासी हिंदी कहानियों का संकलन 'प्रतिनिधि आप्रवासी हिंदी कहानियाँ' छपा है, जिसने प्रवासी साहित्य के महत्त्व को बढ़ाया है।

हिंदी के इस प्रवासी साहित्य के इस सर्वेक्षण से हम कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं। इस प्रवासी साहित्य ने हिंदी को वैश्विक रूप प्रदान किया है। हिंदी का प्रवासी साहित्य भारतेतर देशों को भारत से जोड़ने का एक सेतु बनाता है, जिसके मूल में भारतवंशियों के स्वदेश-प्रेम, भाषा-प्रेम, संस्कृति-प्रेम उनकी संलग्नता, सहभागिता एवं सहयोग अटूट रूप में संबद्ध है। यह सेतु विश्वव्यापी हिंदी साहित्यिक समाज का निर्माण करता है, विभिन्न देशों के हिंदी- लेखक एवं हिंदी-समाज भारत के हिंदी-समाज से जुड़ते हैं और परस्पर एक-दूसरे के निकट आकर हिंदी-विश्व को स्थायित्व प्रदान करते हैं। भारतेतर देशों में भारतवंशियों के इस हिंदी साहित्य ने अपना एक भरा-पूरा संसार निर्मित किया है। इस प्रवासी हिंदी साहित्य ने परदेश में रहते हुए स्वदेश को देखने का दृष्टिकोण बदला है और वहाँ की परिस्थितियों, जीवन-संघर्ष आदि को देखने, समझने, जीने के दृष्टिकोण में क्रांतिकारी रूप से उद्वेलन एवं परिवर्तन उत्पन्न किया है। प्रवासी लेखक अनेक बार स्वदेश-परदेश के द्वंद्व में जीता है, नई-नई अनुभूतियों, तनावों

और विसंगतियों से गुजरता है और उसकी रचना में नए भाव-बोध, नया दृष्टिकोण तथा नए जीवनमूल्यों की सर्जना होती है। यह ठीक है कि प्रवासी लेखक में अपनी मातृभूमि और अपने देश का मनोभाव रहता है, किंतु विदेशी भूमि के संस्पर्श से ही उसमें एक मौलिकता एवं विशिष्टता की चमक उत्पन्न होती है। अपने देश से बाहर जाकर भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृतियों, जीवन-शैलियों एवं मूल्यों तथा जीवन-संघर्षों तथा चुनौतियों से जो टकराहट उत्पन्न होती है, उससे एक नई संवेदना, एक नई जीवनदृष्टि एवं जीवन का एक नया स्वप्न जन्म लेता है। हिंदी का प्रवासी साहित्य इसी जीवन-संघर्ष तथा इसी नए जीवन-स्वप्न का साहित्य कहा जा सकता है और इसी रूप में उसकी अलग पहचान बनती है और इसी रूप में वह हिंदी की मुख्य साहित्यिक धारा का अंग बनते हुए अपनी विशिष्ट पहचान बनाए रख सकता है। हिंदी के कुछ प्रवासी साहित्यकारों का विचार इससे कुछ भिन्न है। अमेरिका के वेदप्रकाश 'बटुक' तथा इंग्लैंड के सत्येंद्र श्रीवास्तव इसे प्रवासी साहित्य न मानकर हिंदी साहित्य का विस्तार मानते हैं। उनका विचार है कि दोनों में कोई अंतर नहीं हे, किंतु इससे हमारी असहमति है, क्योंकि मॉरिशस हो या फिज़ी, अमेरिका हो या इंग्लैंड, सभी का इतिहास, परिवेश, प्रकृति, समाज, रीति-रिवाज, विश्वास-मूल्य तथा जीवन-शैली आदि सभी भारत से भिन्न हैं, अंत: इन देशों में रचा गया साहित्य भारत में रचे साहित्य के समरूप नहीं हो सकता। यहाँ तक कि मॉरिशस में रचा हिंदी साहित्य और अमेरिका में प्रवासी हिंदी-लेखकों का लिखा साहित्य भी एकरूप नहीं है, क्योंकि दोनों की देशीय स्थिति, जीवन और समाज, संघर्ष और सरोकार नितांत भिन्न-भिन्न हैं। अभिमन्यु अनत ने लिखा है कि मॉरिशस के हिंदी साहित्य की अपनी मौलिकता है और यह उसके देशीय संस्कृति के चित्रण में है। यही स्थिति अमेरिका, इंग्लैंड, दुबई-आबूधाबी आदि देशों के प्रवासी हिंदी साहित्य की है।

हिंदी के प्रवासी साहित्य ने हिंदी साहित्य की एक नई दिशा खोली है, एक नया साहित्यिक संसार हमें मिला है, एक नया विचार, नई संवेदना, नई जीवनदृष्टि तथा नया सरोकार प्रवासी साहित्य ने प्रस्तुत किया है। हिंदी पाठक इससे समृद्ध हुआ है और से हिंदी के माध्यम से वैश्विक चेतना की अनुभूति करने का अवसर मिला है। अब यह हिंदी साहित्य का ही अंग है और इसे हिंदी साहित्य के इतिहास में समुचित स्थान मिलना ही चाहिए।

संदर्भ

1. 'गगनांचल' मार्च-अप्रैल, 2010, पृ॰ 5-9
2. 'वसंत' त्रैमासिक, महात्मा गांधी संस्थान, मॉरिशस की पत्रिका, 'आप्रवासी विशेषांक', अंक-41, 1984, पृ॰ 50-51
3. वही, पृ॰ 66
4. 'वसंत' त्रैमासिक, 'आप्रवासी विशेषांक', अंक-41, 1984, पृ॰ 5
4. (क) बनारसी चतुर्वेदी ने काशी में 1924 में 'अखिल भारत प्रवास मंडल' बनाया था और प्रवासी भवन के निर्माण की अपील मॉरिशस के हिंदू भाइयों से की थी जो 'मॉरिशस इंडियन टाइम्स' में, 31 मई, 1924 को छपी थी।
5. 'प्रवासी संसार त्रैमासिक, जुलाई-सितंबर, 2008, राजेंद्र अरुण के लेख 'मॉरिशस: राम का सुयश' से, पृ॰ 50
6. 'प्रवासी संसार', डॉ॰ लक्ष्मीमल्ल सिंघवी का लेख, जुलाई-सितंबर, 2009, पृ॰ 6

7. 'वसंत' त्रैमासिक, मॉरिशस अंक : 105, अप्रैल, 2003, पृ॰ 3
8. 'विश्व हिंदी-रचना', संपादक : कमल किशोर गोयनका, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ॰ 14
9. 'विश्व हिंदीभाषा', केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, प्रथम संस्करण 1999, पृ॰ 25
10. 'वसंत' त्रैमासिक, अप्रवासी विशेषांक, अंक : 41, वर्ष : 1984, पृ॰ 1; प्रो॰ उत्तम विष्णुदयाल के वक्तव्य से।
11. वही, पृ॰ 66
12. वही, पृ॰ 10, पूजानंद नेमा के लेख 'बैठका : भारतीय आप्रवासियों का सर्वोदय स्रोत' से
13. 'मॉरिशस का आदि काव्य-कानन', पृ॰ 23
14. 'अभिमन्यु अनत : समग्र कविताएँ', संपादक : कमल किशोर गोयनका, पृ॰ 30-31 से उद्धृत।
15. 'दुर्गा' हस्तलिखित मासिक पत्रिका (1935-38) के पहले वर्ष की जिल्द विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली के कबाड़ से उसकी मालिक संस्था 'हिंदी प्रचारिणी सभा' को वापिस कराने का श्रेय इन पंक्तियों के लेखक को है।
16. 'मॉरिशस की हिंदी कहानियाँ', संपादक : कमल किशोर गोयनका, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000, भूमिका से, पृ॰ 15
17. मॉरिशस की पहली हस्तलिखित पत्रिका 'दुर्गा' : हिंदू-हिंदी और मॉरिशसीयता का शंखनाद', कमल किशोर गोयनका, हिंदी प्रचारिणी सभा, मॉरिशस, 2001, पृ॰ 26
18. इस विषय में 'गगनांचल', जुलाई-सितंबर, 2004 में डॉ॰ विमलेशकांति वर्मा का लेख 'फिज़ी में हिंदी की साहित्यिक परिधि', पृ॰ 110-134 तथा फिज़ी के संबंध में जोगिन्द्रसिंह कँवल की पुस्तक 'फिज़ी का हिंदी काव्य-साहित्य' (भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली) भी देखनी चाहिए।
19. 'स्मारिका', सातवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन, सूरीनाम, संपादक : कमलकिशोर गोयनका, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2003, पृ॰ 317
20. 'वसंत' त्रैमासिक (मॉरिशस), अंक : 105, अप्रैल, 2003, पृ॰ 18
21. 'विश्वा' त्रैमासिक (अमेरिका), जुलाई, 2008 में प्रकाशित डॉ॰ सीताराम पोद्दार के लेख 'जमैका में हिंदी शिक्षण एवं प्रचार : मेरा अनुभव' से, पृ॰ 17-19, प्रबंध संपादक : शैलेंद्र गुप्ता, 'अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति', अमेरिका।
22. 'गगनांचल', विश्व हिंदी अंक, जनवरी-मार्च, 1996, पृ॰ 250
23. 'विश्व विवेक' त्रैमासिक, दिसंबर, 1997, पृ॰ 7-9 पर डॉ॰ अरविंदकुमार के लेख 'अमेरिका में भारतीय आप्रवासियों का इतिहास' से, संपादक : डॉ॰ भूदेव शर्मा
24. 'एक बूँद और', अज्ञेय की भूमिका से, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ
25. 'वर्तमान साहित्य', प्रवासी साहित्य विशेषांक, जनवरी-फरवरी, 2006, पृ॰ 58 'कौन कितना निकट' कहानी-संग्रह, आत्मकथन से, पृ॰ 5
26. 'कौन कितना निकट' कहानी-संग्रह, आत्मकथन से, पृ॰ 5

ए 98, **अशोक विहार, फेज**-1
दिल्ली 110052
मो॰ 09811052469

हिंदी प्रेमाख्यानकों का उद्‌गम-स्रोत

डॉ॰ अशोक उपाध्याय

प्रेमाख्यान में प्रेम और आख्यान की समन्वित अनुभूति अपनी समस्त अभिव्यंजना के साथ साकार होती है। प्रेम का अर्थ है प्यार, मुहब्बत, कृपा, आनंद, केलि, क्रीड़ा, हास्य, माया, लोभ और रूप, गुण, कर्म, वर्ण, भाव, स्वभाव तथा प्रभाव इत्यादि के कारण उत्पन्न होने वाला वह आकर्षण एवं सुखद मनोभाव, जिससे प्रभावित होकर स्त्री-पुरुष आमोद-प्रमोदपूर्ण आदान-प्रदान हेतु एक साथ आनंदपूर्वक रहना चाहते हैं। दैहिक आलिंगनपाश में निबद्ध स्त्री-पुरुष लौकिक स्तर से ऊपर उठकर आध्यात्म की उन सीमाओं तक पहुँचने में भी सफल हो सकते हैं, जो अद्‌भुत अगम और अगोचर है। दैहिक संयोग-वियोग से उद्‌भूत आनंद के इस स्वरूप में योग की मधुमती भूमिका जैसा इंद्रियातीत अनुभव ही प्रेम है। इसी का दूसरा नाम रति है, जो कि शृंगाररस का स्थायी भाव है। इसके दो पक्ष हैं–संयोग और वियोग। संयोगावस्था में अपार आनंद है, तो वियोगावस्था में पीड़ा की पराकाष्ठा का मधुमय संस्मरण। दो हृदयों का एकीकरण अपार स्वर्गिक आनंद का आगार बन जाता है। जो कुछ प्रिय द्वारा अनुभव किया जाता है, वही प्रेमी के अनुभव का विषय होता है। संयोग की अवस्था में उन्हें संसार के सभी पदार्थ अपेक्षाकृत अधिक रुचिकर तथा सुखदायक प्रतीत होते हैं और वियोग की अवस्था में ये सब उतने ही कष्टकारक बन जाते हैं। दोनों को परस्पर आनंद के अतिरिक्त कहीं और आनंद नहीं दिखाई देता है। उनके हृदयों की एकनिष्ठता मानव-जीवन की एकात्मकता का पथ प्रशस्त करते हुए विधाता के रहस्यमय वरदान के रूप में प्रतिफलित होकर जीवन के आनंदमय स्रोतों का अवगाहन करती है। इससे जीवन-यात्रा भी निष्क्लांत और आलोकपूर्ण बन जाती है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'प्रेमी जगत के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप भी करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आस-पास चारों ओर सौंदर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौंदर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौंदर्य जगत के बीच दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंत:प्रवृत्ति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है, वह है सृष्टि के बीच सौंदर्य-विधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्यशक्ति के रूप में।'[1] प्रेम के एकांतिक प्रभाव के कारण प्रेमी अंतर्मुखी हो जाता है। वह केवल अपने प्रिय के प्रणय-संसार की छोटी-सी परिधि में सिमट जाता है। उसके जीवन के समस्त कार्य उसी में बँधकर रह जाते हैं। उसके द्वारा इस परिधि के बाहर प्रभाव उत्पन्न के लिए कोई प्रयास नहीं किया जाता। उसके आचरण में विकसित धैर्य, साहस, दयाशीलता, दृढ़ता, कष्ट सहने की क्षमता, वीरता इत्यादि लोकरक्षा अथवा लोकसेवा की कर्त्तव्यनिष्ठा की अपेक्षा प्रेमोन्माद के रूप में सबसे अधिक परिलक्षित होती है। प्रेम का यह अनन्य एवं एकांतिक रूप भक्तिमार्ग का परम पाथेय माना जाता है। इससे जुड़े 'आख्यान' से

तात्पर्य है–कथन, वर्णन, विवेचन, वृतांत, कथा, कहानी, पौराणिक वृतांत, महाकाव्य का सर्ग अथवा वह कथा जिसका वर्णन कवि या लेखक के द्वारा स्वयं किया जाए। 'आख्यानों का रूप स्वभावत: वर्णनात्मक हुआ करता है और उनमें आई हुई कथा को इतिवृत्तात्मक रूप में दिया जाता है। उनके कथानकों का किसी रचयिता द्वारा कल्पित किया जाना ही आवश्यक नहीं; क्योंकि वे साधारणत: लोकप्रचलित और ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। इनमें मुख्य अंतर केवल इसी बात का रहता है कि प्रथम वर्ग वालों के पात्र कल्पना-प्रसूत ही होते हैं तथा उनसे संबंधित घटनाओं के परिवर्तन या विकास में जहाँ कवि को किसी प्रकार के बंधन का अनुभव नहीं करना पड़ता, वहाँ दूसरे वर्ग वाली रचनाओं में ऐसी कम गुंजाइश रहा करती है।'[2]

इस प्रकार प्रेमाख्यानक का अर्थ है–ऐसी प्रेम-कहानी, जिसमें प्रेम-भाव की प्रधानता हो और किसी पुरुष का स्त्री के प्रति अथवा किसी स्त्री का पुरुष के प्रति प्रेमासक्त होना विषयवस्तु का मूल आधार हो। प्राय: इस प्रकार के आख्यानकों में समाजगत, धर्मगत, परंपरागत अथवा योनिगत विभेदों पर विचार नहीं किया जाता है। यही कारण है कि इनमें प्रासंगिक कथा के रूप में अवतरित समस्त पात्र एक-जैसा व्यवहार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। प्रेम मस्तिष्क से नहीं, हृदय से किया जाता है और हृदय का संबंध अंतरात्मा अथवा अध्यात्म से है। प्रेमाख्यानकों में इसका ऐसा व्यापक और मार्मिक चित्रण किया जाता है कि संसार के समस्त पदार्थ एवं कार्य-व्यापार देवी-देवता इत्यादि भी इनके पात्रों के सहयोगी बनकर भावोत्कर्ष में सहायक होते हैं। यही शृंगार के रसराजत्व का आधार है। इस संदर्भ में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं–एक तो यह कि शृंगाररस की व्याप्ति मानव-जीवन में आदि से अंत तक रहती है और दूसरी यह कि शृंगार से अन्य सभी रसों की उत्पत्ति हो सकती है, जबकि अन्य सभी रसों में यह शक्ति नहीं है। यही कारण है कि सभी भाषाओं और सभी देशों के साहित्य में इस रस की रचनाएँ प्रचुरता से की गई हैं। हिंदी साहित्य भी इस सर्वमान्य नियम का अपवाद नहीं है।[3] इसके मध्यकाल में ऐसी अनेक प्रबंधात्मक रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें प्रेम का अत्यंत भव्य, उदात्त तथा लोकोत्तर रूप में व्यापक निरूपण हुआ है। इनमें निहित लौकिक भावनाओं की मांसल मादकता का अद्‌भुत सौष्ठव अश्लीलता की सीमाओं से काफी ऊपर उठ गया है और बहुत कुछ लौकिक होते हुए भी अलौकिक रूप में प्रतिष्ठित हो गया है–

प्रीति बेलि जिनि अरुझैं कोई, अरुझै मुए न छूटै सोई।
प्रीति बेलि ऐसे तन डाढ़ा, पलुहत सुख, बाढ़त दुख बाढ़ा।
प्रीति बेलि कै अमर को बोई, दिन दिन बढ़ै छीन नहीं होई।
प्रीति बेलि संग बिरह अपारा, सरग पतार जरै तेहि झारा।
प्रीति अवेलि बेलि चढ़ि छावा, दूसरि बेलि न सँचरै पावा। [4]

भारतीय समाज एवं संस्कृति में सभी प्रकार के प्रेम का संबंध गृहस्थ जीवन से माना गया है। इसमें विवाहेतर प्रेम को ही आदर्श रूप में लोकस्वीकृति प्रदान की गई है। इसका संपूर्ण रूप विवाह संपन्न हो जाने के उपरांत विकसित होता है और समस्त उत्कर्ष जीवन की भयंकर कष्टदायक परिस्थितियों में प्रकट होता है। उदाहरणार्थ राम और सीता के गृहस्थ जीवन को लिया जा सकता है। इसमें सीता के प्रेम का विशेष स्फुरण राम के वनगमन के अवसर पर होता है और सीता का अपहरण होने पर उनके प्रेम का उद्‌दीप्त रूप विस्फोटित हो उठता है–'वन के जीवन में इस प्रेम की आनंदविधायिनी शक्ति लक्षित होती है और लंका की चढ़ाई में इसका तेज साहस और पौरुष। यह प्रेम अत्यंत स्वाभाविक शुद्ध और निर्मल है। यह विलासिता या कामुकता

के रूप में हमारे सामने नहीं आता, बल्कि मनुष्य-जीवन के बीच एक मानसिक शक्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। उभयपक्ष सम होने पर भी नायक-पक्ष में यह कर्त्तव्य-बुद्धि द्वारा कुछ संयत सा दिखाई पड़ता है।'[5] यह नैतिक आदर्श उस व्यापक प्रेमतत्त्व का एकांगी संकेत भी है, जोकि उर्वशी-पुरुरवा, नल-दमयंती, उषा-अनिरुद्ध, प्रभावती-प्रद्युम्न एवं राधा-कृष्ण इत्यादि के आख्यानों के माध्यम से वैदिक एवं पुराण-साहित्य में अवतरित हुआ है। इनमें विवेचित प्रेम का स्वच्छंद रूप विवाहपूर्व की सौंदर्यानुभूतियों के साथ-साथ नायिका की प्राप्ति के लिए नायक द्वारा किए गए युद्ध इत्यादि के शौर्यपूर्ण प्रयासों से अभिमंडित है। 'साधारणत: प्रेमकाव्यों का नाम उनकी नायिकाओं के नाम पर रखने की प्रथा बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही थी। रत्नावली, पद्मावती, वासवदत्ता, कुवलयमाला आदि नायिकाओं के नाम पर गद्यकाव्य, नाटक, पद्यबद्ध काव्य और चंपू जाति की ऐसी रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें एक शब्द में 'रोमांस' कहा जा सकता है। कवियों ने लोक में प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ये कथाएँ लिखी होंगी।'[6] ये 'रोमास काव्य' ही प्रेमाख्यान काव्य हैं। प्रेमाख्यानकों का एक विशाल संकलन गुणाढ्य कवि द्वारा प्राकृत में रचित 'वृहत्कथा' के रूप में मिलता है। इस वृहत् आकार के ग्रंथ का मूल रूप अब उपलब्ध नहीं है। क्षेमेंद्र और सोमदेव द्वारा रचित 'वृहत्कथा मंजरी' एवं 'कथासरित्सागर' में इसका संस्कृत रूपांतरण बहुत कुछ सुरक्षित है। इनमें कुछ ऐतिहासिक नामों के अतिरिक्त शेष सभी तथ्य कवि-कल्पना प्रसूत हैं। उदयन की कथाएँ तत्कालीन समाज में बहुत लोकप्रिय थीं। नरवाहन, दत्त, शूद्रक, हाल, सातवाहन, विक्रमादित्य, भोज आदि राजाओं के नाम भी उस समय की लोककथाओं में काफी प्रसिद्ध थे। महाभारत और हरिवंशपुराण से उद्भूत प्रेमाख्यानक परंपरा का व्यापक एवं विस्तृत प्रयोग सर्वप्रथम 'वृहत्कथा' के माध्यम से हुआ है। 'ऐसा प्रतीत होता है कि वृहत्कथा की कथाओं के पीछे उस समृद्ध एवं वृहत्तर भारत की पृष्ठभूमि है, जब भारत के व्यापारी दूर-दूर द्वीपों में व्यापार करने के लिए जाते थे एवं वहाँ से अपने साथ गौरांगनाएँ लेकर लौटते थे। वृहत्कथा की नायिकाओं का द्वीपवासिनी होना, समुद्र-यात्रा, जहाज का टूटना आदि प्रसंगों से संबंधित अनेक नवीन कथानक-प्रवृत्तियों का उपयोग इसी पृष्ठभूमि को ध्वनित करता है।'[7] पुष्पदंत काणायकुमारचरिउ एवं जसहरचरिउ, धनपाल की भविसयत्तकहा, नयनं दीका सुंदसण चरिउ, मुनि कनकामर का करकंड चरिउ, धाहिलका पउमसिरीचरिउ, श्रीधरकामविसयत्त चरिउ, सेवसेन का सुलोचना चरिउ, लक्खन का जिनदत्तचरिउ आदि इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें नायक-नायिका के प्रेमवर्णन के अतिरिक्त प्रकृति, जलक्रीड़ा, युद्ध, यात्रागमन इत्यादि के अत्यंत सुंदर वर्णन मिलते हैं। णायकुमार चरित में पुष्पदंत ने जलक्रीड़ा का वर्णन करते हुए अत्यंत प्रभावशाली दृश्य निरूपित किया है। इसमें कोई स्नान करती हुई रमणी लज्जावश अपने वस्त्र-विहीन शरीर को जल में विलीन करने का प्रयास कर रही है। किसी का अर्द्धउन्मीलित अग्रभाग प्रकट हो रहा है। हारावली धारण किए हुए किसी का स्वरूप जलबिंदुयुक्त कमल-पत्र के समान प्रतीत होता है। भ्रमवश भ्रमर कमलपुष्प को भूलकर किसी के सुगंध बहुल मुख पर बैठा हुआ दिखाई देता है। किसी का जल से भीगा हुआ वस्त्र मेघाकाश के समान दृष्टिगोचर होता है और किसी का जल में निहित वस्त्र नीहार के समान लोक के दृष्टिविलास का विषय बन गया है–

गयणिवसण तणुजले ल्हिकावइ अद्धमिल्लु का विथणुदावह
पउमणि दल जलबिंदुवि जो यह कावितहिं जि हारावलिढोयइ
कावितरंगहि तिवलिउ लक्खइ सारिच्छउ तहो सुहुयहो अक्खइ

काहे वि महुयरु परिमल बहलहों कमलुमुएवि जाइमुह कमलहो
मुहुमु जालोल्ल विट्ठणउहमग्गउ काहे विअंबरू अंगविलगाउ
काहे विउपरियणु जले धोलइ पाणिय छल्लिव लोउणिहालइ।[8]

उपर्युक्त सभी रचनाओं में नायक के प्रेम एवं संघर्ष के वृतांत को अत्यंत प्रभावपूर्ण शैली में विवेचित किया गया है। इनमें निहित कथानक प्रवृत्तियों का उपयोग इस परंपरा के परवर्ती कवियों ने यथासंभव सफलता की दृष्टि से किया है। प्रायः सभी प्रेमाख्यानकों की नायिकाओं के नाम के अंत में 'वती' प्रत्यय मिलता है। मृगांकवती, शशांकवती, रत्नवती, हिरण्यवती, धनवती, मलयवती, अलंकारवती, पद्मावती, लावण्यवती, मदिरावती, मंदारवती, कलावती, कनकावती इत्यादि इस प्रकार के नाम हैं, जिनका उपयोग परवर्तीकाल के कवियों ने अपनी काव्य-प्रसिद्धि के लिए किया है। एक बात और महत्त्वपूर्ण है कि ये किसी-न-किसी द्वीप की निवासिनी होती हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए नायक को जहाज से यात्रा करते समय विभिन्न संकटों का सामना करना पड़ता है। नायक का जन्म देवी-देवताओं या आराध्य पुरुषों के आशीर्वाद तथा विशिष्ट अनुष्ठान इत्यादि के द्वारा होता है। वह ब्राह्मण, भिक्षुक अथवा साधु-संन्यासी का वेश धारण करके नायिका से मिलने के लिए बिना किसी प्रकार की चिंता किए हुए घर से निकल जाता है और अनेक संकटों में विचलित हुए बिना उस तक पहुँचने में समर्थ होता है। उसकी नायिका के प्रति अनुरक्ति या प्रेमासक्ति में स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, गुणश्रवण अथवा अकस्मात प्रथम दर्शन आदि का विशेष योगदान रहता है। वह किसी तपस्वी-संन्यासी, पशु-पक्षी अथवा दैवीशक्ति की सहायता से नायिका की खोज करता है। उसकी नायिका से प्रथम भेंट किसी मंदिर, पुष्पवाटिका, सरोवर, स्नानस्थल अथवा दुर्गम वन में होती है। वह नायिका की प्राप्ति के लिए उसके संरक्षकों से संघर्ष करके अपने शौर्य तथा साहस से विजय प्राप्त करता है। ऐसे सफल प्रयासों के साथ ही वह दूसरों की सहायता के लिए भी सदैव तत्पर रहता है। किसी सिद्धयोगी, देवता, वैताल इत्यादि का सहयोग भी उसे यथावसर मिलता रहता है। कुछ काव्यों पूर्ववर्ती कथाओं की आवृत्ति भी द्रष्टव्य है। लौकिक प्रेमाख्यानकों में संयोग के साथ-साथ वियोग का अत्यंत प्रभावशाली वर्णन हुआ है। 'संदेश रासक' की निम्न पंक्तियाँ इस संदर्भ में अवलोकनीय हैं। इनमें विरहिणी नायिका के लिए नायक के अभाव में रात और दिन व्यतीत करना अत्यंत कष्टकारक बन गया है। उत्तरायण में दिन का समय बढ़ता है और दक्षिणायन में रात्रिकाल की अभिवृद्धि होती है, किंतु विरहविदग्धा नायिका के लिए तो दिन और रात सदैव बड़े होने के कारण इन दोनों के प्रभाव से उत्तरायण तथा दक्षिणायन के उपरांत तीसरे प्रकार का विरहायणकाल उपस्थित होकर संतप्त कर रहा है–

उत्तरायणि बद्धिढहि दिव, णिसि दक्खिण इहु पुब्ब णिउहउ
दुच्चिय वढ्ढहि जत्थपिय, इहुतीयउ विरहायणु होइयउ।[9]

जैनकवियों ने इस काव्य-परंपरा को लगभग तीन सौ वर्ष तक अग्रसर करने में सफलता अर्जित की। उन्होंने इसमें मनोरंजन के साथ-साथ धर्म-प्रचार के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए विभिन्न धार्मिक तत्त्वों से समन्वित किया। इसके पूर्ववर्त्ती प्रेमाख्यानकों में किसी दैवी शक्ति अथवा सिद्धपुरुष आदि के माध्यम से नायक को अभीष्ट फल या नायिका की प्राप्ति होती है। इनमें जैन-धर्मसंबंधी व्रत, अनुष्ठान अथवा किसी जैन तीर्थंकर की उपासना से नायक की कार्य-सिद्धि होती है। इसके कारण जैनधर्म का महत्त्व प्रमाणित होते हुए भी कथा की मूल प्रवृत्ति प्रेमाख्यानमय रहती है। धार्मिकता उसे और अधिक महत्त्वपूर्ण बना देती है। वास्तविकता यह है कि जैनकवियों

ने प्रेम, विरह और सौंदर्य का आख्यान रोमांटिक दृष्टिकोण से किया है, धार्मिक दृष्टि से नहीं। इसीलिए धार्मिकता से परिपूर्ण होने पर भी इस प्रकार की रचनाओं को प्रेमकाव्य ही कहा जाएगा, धर्मोपदेश नहीं। इनमें एक और विशेष बात यह दिखाई देती है कि कथा की चरम परिणति नायक-नायिका के मिलन-बिंदु पर न होकर यौवनावस्था से आगे निकलकर प्रौढ़ावस्था में सांसारिक सुखों की निस्सारता के अनुभव से उत्पन्न वैराग्य या संन्यास-ग्रहण से होती है। जैनकवियों की प्रेमगाथाएँ पद्य में लिखी गई हैं। इनमें संयोग शृंगार के साथ-साथ शांतिपूर्ण वैराग्य को भी महत्त्व प्रदान किया गया है। स्पष्ट है कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक प्रेमाख्यानकों का वह रूप विकसित हो चुका था, जिसे आगे चलकर हिंदीकवियों ने अपनी लेखनी से गौरव प्रदान किया।

ज्ञातव्य है कि अदम्य सौंदर्य-लालसा, उन्मुक्त प्रणय-भावना, वैवाहिक प्रगतिशीलता, साहस एवं शौर्य-प्रदर्शन से लक्ष्य की प्राप्ति आदि प्रेमाख्यानकों के आधारभूत तत्त्वों की प्रारंभिक अभिव्यक्ति महाभारत के उपाख्यानों में प्रचुर मात्रा में मिलती है। श्रीमद्भागवत तथा हरिवंशपुराण में स्वप्न एवं चित्रदर्शन से प्रेमासक्ति का उद्भव और विकास मिलता है। वृहत्कथा इत्यादि में विषयवस्तु अत्यधिक विस्तार के साथ-साथ समुद्र-यात्रा आदि की कथानक रूढ़ियों का विकास हुआ है। संस्कृत में विकसित काव्यात्मक शैली और जैनकवियों द्वारा रचित अपभ्रंश के चरित काव्यों में धार्मिकता, वैराग्य तथा पद्यात्मकता के कलेवर में परिपुष्ट इनका अनुकरणीय स्वरूप प्रकट हुआ है। सभी प्रकार के परवर्त्ती हिंदीकवियों ने प्रेमाख्यानकों के संदर्भ में इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से ग्रहण किया है। सूफी प्रेमाख्यानकों में अभारतीय स्रोतों से लिए गए कथानकों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में मिलती है।

संदर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि, पृ॰ 71, इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्रा॰लि॰, प्रयाग, 1971
2. पं॰ परशुराम चतुर्वेदी, सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य, हिंदी साहित्य, द्वितीय खंड, पृ॰ 245-246, संपादक धीरेंद्र वर्मा, भारतीय हिंदी परिषद्, प्रयाग, प्रथम संस्करण
3. डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त, छिताईवार्त्ता, परिचय, पृ॰ 12, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण 2015 वि॰
4. जायसी, जायसी ग्रंथावली, पृ॰ 103, संपादक आचार्य रामचंद्र शुक्ल, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2005
5. वही, भूमिका, पृ॰ 24
6. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य, पृ॰ 259-260, अतरचंद कपूर एंड संस दिल्ली, 1955
7. गणपतिचंद गुप्त, हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ॰ 311, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद
8. पुष्पदंत, णायकुमारचरित, छंद सं॰ 8, संपादक डॉ॰ हीरालाल जैन, कारंजा सीरीज, बरार, 1933
9. अद्दहमाण (अब्दुलरहमान) संदेशरासक, अध्याय 2, छंद सं॰ 112, संपादक श्रीमुनि जिन विजय तथा श्रीहरिबल्लभ भायाणी, बंबई, 2001 वि॰

द्वारा श्रीमती रजनी उपाध्याय
197/1, **मेहरा स्टेट, डॉक्टर्स कालोनी**
सिविल लाइंस, बरेली (उ॰प्र॰)
मो॰ 09927373723

बालमनोविज्ञान और बालसाहित्य

(हिंदी और पंजाबी बालसाहित्य का संदर्भ)

डॉ॰ सुधा जितेंद्र
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर।
दीपिका सूद
शोध छात्रा, हिंदी-विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर।

साहित्य के विकास के साथ ही मनुष्य की कई स्थितियों से साहित्य को जोड़ा गया। व्यक्ति से लेकर देशकाल के विशाल फलक पर साहित्य का निर्माण हुआ। समय के साथ-साथ साहित्य के कई वर्गीकरण हुए। इसी के अंतर्गत बालसाहित्य का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिंदीभाषा में यदि बालसाहित्य की बात की जाए तो इसकी एक विशाल परंपरा मौखिक रूप से लेकर लिखित रूप तक साहित्य को समृद्ध किए हुए है। एक स्वतंत्र साहित्य के रूप में बालसाहित्य की अपनी एक अलग पहचान है।

बच्चों के लिए लिखे गए साहित्य को बालसाहित्य कहा जाता है जो कि बालमन, बालस्वभाव, बाल-मनोविज्ञान, बालरुचियों और बालस्तर को केंद्र में रखकर लिखा जाता है। प्रसिद्ध बाल साहित्यकार हरिकृष्ण देवसरे के अनुसार, 'बालसाहित्य बच्चों के उन अंकुरों को पुष्ट करता है, जो बड़े होकर उन्हें जीवन के सत्य को पहचानने में सहायता करता है।'[1]

बालसाहित्य में बाल मनोविज्ञान का होना अपेक्षित है, क्योंकि बाल-मनोविज्ञान के बिना बालसाहित्य अधूरा है।

बालसाहित्य में बालक को ही समाज का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। बच्चे ही मानव-जीवन की प्रारंभिक अवस्था होते हैं। इनके बिना मानव-जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इसका सृजनात्मक रूप बड़ों के साहित्य से बिल्कुल अलग होता है, क्योंकि बालसाहित्य के केंद्र में केवल बालक और उसकी बालप्रवृत्तियों बालरुचि, बालस्वभाव, बालस्तर के साथ-साथ बाल-मनोविज्ञान को ही रखा जाता है। बालसाहित्य बच्चों के लिए लिखा गया एक ऐसा साहित्य है जो बाल-मनोरंजन और बाल-मनोविज्ञान के बिना अधूरा है।

बच्चों के लिए बालसाहित्य लिखना एक कठिन कार्य है, क्योंकि बच्चों के लिए साहित्य लिखने के लिए लेखक को स्वयं भी बच्चा बनना पड़ता है। अर्थात् बालसाहित्य का सृजन करने के लिए बाल-साहित्यकार को बच्चों जैसी कल्पना करनी पड़ती है। बाल स्तर के अनुसार, अपनी सोच-शक्ति उत्पन्न करनी पड़ती है। इन सबके लिए बाल-साहित्यकार को बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। बालरुचियों, बाल-कल्पनाओं आदि को वास्तविक रूप से समझने के लिए तथा बच्चों की बालक्रियाओं, गतिविधियों आदि का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने के लिए बाल-मनोविज्ञान का ही आश्रय लिया जाता है। बाल-मनोविज्ञान मनोविज्ञान की एक ऐसी

शाखा है, जिसके माध्यम से बालकों की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है तथा उन्हें समझने का सफल प्रयास किया जाता है। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ साइकोलोजी के अनुसार: 'Child Psychology is concerned with the development of psychological process in the child from birth and before through infancy and childhood to adolescence and maturity.'[2]

क्रो एवं क्रो के अनुसार 'बाल-मनोविज्ञान एक वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें बालक के जन्म, पूर्वकाल से लेकर किशोरावस्था तक का अध्ययन किया जाता है।'[3] बाल-मनोविज्ञान के माध्यम से ही बालक की आरंभिक अवस्था अर्थात् शैशवास्था से लेकर किशोरावस्था तक बालक के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकास आदि का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त बाल प्रवृत्तियों–कल्पना, जिज्ञासा, अनुकृति, बाल-संवेग, सृजनात्मकता, बालक्रिया-प्रतिक्रिया आदि का बाल-मनोविज्ञान के आधार पर ही अध्ययन किया जाता है। बच्चों की इन्हीं प्रवृत्तियों को बालसाहित्य के महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी माना जाता है, जिनके आधार पर बालसाहित्य का सृजन किया जाता है। वास्तव में बालसाहित्य बालक की इन मूलप्रवृत्तियों को ही संतुष्ट करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बालकों की इन मूल प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

कल्पना : कल्पना बाल-मनोविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसे बालसाहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। बाल-साहित्यकार बच्चों की कल्पनाशक्ति को ध्यान में रखकर ही अपनी बालरचनाओं का सृजन करता है। बच्चों की कल्पनाशक्ति बहुत प्रबल होती है। वह प्रत्येक वस्तु आदि को लेकर कल्पना की उड़ान भरने लग जाते हैं। अपनी कल्पना के माध्यम से ही वह असंभव को संभव करने का प्रयास करते हैं। वह अपने कल्पना के समुद्र में कभी स्वयं पक्षी बन जाते हैं और कहीं अपने पसंदीदा खाने-पीने की चीजों की भी कल्पना कर लेते हैं। उदाहरण के लिए–

अगर कहीं मैं तोता होता,
तो न बंद पिंजड़े में होता,
पिंजड़ा तोड़ तुरंत उड़ जाता,
अगर कहीं मैं तोता होता।[4]

कहीं मिठाई की हो खान,
अच्छे-अच्छे हों पकवान,
रबड़ी, चमचम, रसगुल्ले का,
जमकर भोग लगाऊँ,
मन करता है।[5]

जिज्ञासा : बच्चों में किसी भी बात को जानने की इच्छा/ जिज्ञासा-शक्ति बहुत प्रबल होती है। उनके प्रश्नों की शृंखला बहुत लंबी होती है। उनके मन में कई तरह के प्रश्न उमड़ते रहते हैं, जिनका उत्तर वह बड़ों से जानना चाहते हैं। यही जिज्ञासा उन्हें कुछ नया करने की प्रेरणा देती है। उनकी बालमनोवृत्ति उनकी जानने की इच्छा को बढ़ाती है। जब तक वे अपनी जिज्ञासाओं को शांत नही कर लेते, तब तक उनका मन शांत नहीं होता। इसलिए बाल-जिज्ञासाओं को भी

बाल- साहित्यकारों ने अपनी बाल-रचनाओं का हिस्सा बनाया है। निरंकारदेव सेवक ने बाल-जिज्ञासा को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

मछली-मछली कितना पानी,
किस राजा की हो तुम रानी,
कहाँ तुम्हारा बना महल है,
जिसमें भारी चहल-पहल है।[6]

सुप्रसिद्ध बाल-साहित्यकार प्रकाश मनु ने भी अपनी बालकविता के माध्यम से बच्चों की जिज्ञासा-प्रवृत्ति को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

आसमान क्यों नीला लगता?
तारों में क्या जादू जगता?
कैसे इंद्रधनुष उठता है,
कहाँ छिपी परियों की रानी?
मुझको जरा बताओ नानी!

चिड़िया गाती है जो गाना,
लगता है क्यों खूब सुहाना,
कोयल क्यों अच्छी लगती है,
कौंआ क्यों इतना अभिमानी?[7]

सुप्रसिद्ध पंजाबी बाल-साहित्यकार दर्शनसिंह आशट द्वारा लिखित बालकहानी 'दूर होइया हनेरा' में भी बाल-जिज्ञासा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बालक बोबी अपने मन की जिज्ञासा को शांत करने के लिए अपनी मम्मी से कितने ही प्रश्न पूछता है–

'मम्मी जी दशहरे दा तों मैनू पता लग गया कि क्यों मनाया जादा है। इस दिन श्री रामचंद्र जी ने दुष्ट रावण नू मारिआ सी। की दीवाली वाले दिन वी रामचंद्र जी ने किसे नू मारिआ सी? मम्मी बनवास किसनू कहिन्दे ने? ऊजोन परत की हुन्दी?'[8] यह बाल-जिज्ञासा ही है, जो बच्चों के मन में सदैव बनी रहती है।

सृजनात्मक प्रवृत्ति :

प्रत्येक बच्चे में सृजनात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। हम अक्सर देखते हैं कि वह स्वयं अपने खिलौनों के साथ तोड़-फोड़ अवश्य करते हैं और फिर उन्हें जोड़ने का भी प्रयास करते हैं। आरंभ में तो बच्चे कागज पर ही रंगों से कुछ-न-कुछ बनाने लग जाते हैं। रंग-बिरंगे चित्र बनाना बच्चों को बहुत प्रिय होता है। वह अपनी कल्पना की सृजना को कागज पर चित्रों के माध्यम से सहज ही उतार देते हैं। धीरे-धीरे रंग-बिरंगे कागज से भी कुछ-न-कुछ चीजें जैसे–गेंद, कश्ती, जहाज आदि का भी सृजन कर देते हैं–

सुंदर सजीला, चटकीला वायुयान एक,
भैया हरे कागज़ का आज मैं बनाऊँगा,
चढ़ के उसी पे सैर नभ की करूँगा खूब,
बादल के साथ-साथ उसको उड़ाऊँगा।[9]

खिलौनों आदि के अतिरिक्त बच्चे अपनी तीव्र बुद्धि और कल्पना के माध्यम से छोटी-छोटी कविताओं का भी सृजन करने लग जाते हैं। प्रकाश मनु द्वारा रचित 'श्यामा चिड़िया' नामक बाल-कविता में से बालसृजन की एक उदाहरण प्रस्तुत है। जो कि बाल चुनमुन के मन में चिड़िया को देखकर सहज ही बन जाती है–

शीशे में क्यों देखे चिड़िया,
ओ रे मेरी प्यारी चिड़िया,
शीशे में भी तू ही तू है,
शीशे में भी चीं-चीं-चूं है,
समझ गई क्या श्यामा चिड़िया।[10]

बाल-सृजन का एक उदाहरण गुरबख़्शसिंह प्रीतलड़ी की बाल-कहानी 'निक्का शीले ते कड़ाहीयाँ पतीले' से भी मिलता है। इसमें बालक शीला राजमहल के रसोईघर में बड़े पतीले, कड़ाही धोने का काम करता है, वह अपना काम पूरे मन से करता और काम करते-करते उसके मन में एक गीत निरंतर चलता रहता, जिसे वह कागज़ पर इस प्रकार लिखता है–

पतीले कड़ाहीओं, ओ पतीले कड़ाहीओं
तुसीं निक्के शीले दा गीत गाईओ।[11]

उसकी इसी सृजनात्मक प्रवृत्ति के कारण शहजादी उसे रसोईघर से हटाकर अपने महल में रख लेती है। यहाँ वह सुंदर-सुंदर गीतों का सृजन करता है और कभी-कभी रसोईघर में बर्तन भी धोने लग जाता है।

आवर्त्तन :

बच्चे शिशु रूप में ही लोरियाँ आदि सुनते रहे होते हैं, जिस कारण उन्हें गेयता बहुत प्रिय होती है। जैसे-जैसे वे बड़े होते हैं, वे छोटी-छोटी कविताओं आदि को उठते-बैठते, खेलते बार-बार गुनगुनाते रहते हैं। बच्चों द्वारा किसी भी गीत-कविता आदि को बार-बार दुहराना-गुनगाना को आवर्त्तन-प्रवृत्ति कहते हैं। बालसाहित्य में बच्चों की इसी आवर्त्तन प्रवृत्ति को मुख्य रखकर उनके लिए बहुत ही सरल भाषा में दो या चार पंक्तियों में गीत/ खेलगीत आदि का सृजन किया जाता है, जो कि बच्चों को बहुत प्रिय होते हैं और जिन्हें वह आसानी से कंठस्थ कर बार-बार गुनगुनाते रहते हैं। खेलगीत का एक उदाहरण द्रष्टव्य है, जो कि मौखिक रूप में प्रचलित है और आज भी खेलते समय बच्चे इसे बोलते हैं–

हरा समुंदर गोपी चंदर,
बोल मेरी मछली कितना पानी।

इसके अतिरिक्त लिखित रूप में भी बच्चों के लिए बहुत से खेलगीत प्रचलित हैं, जो अपनी लयात्मकता और गीतात्मकता के कारण इतने अधिक रुचिकर होते हैं कि बच्चे उन्हें एक ही बार कंठस्थ कर लेते हैं। ऐसे खेलगीतों में निरंकारदेव सेवक कृत 'मेरा घोड़ा' गीत द्रष्टव्य है, जिसे बच्चे खेलते समय बार-बार गुनगुनाते हैं–

चल मेरे घोड़े टिक-टिक-टिक,
दौड़ सड़क पर इधर-उधर,
सरपट मैं ले चलूँ जिधर,

चल मेरे घोड़े टिक-टिक-टिक,
ले चल ले चल मुझे वहाँ,
रेल जहाज न जाए जहाँ,
चल मेरे घोड़े टिक-टिक-टिक।[12]

बालगीतों के माध्यम से जो बात बच्चों से रोचक और मनोवैज्ञानिक ढंग से कही जाती है, वह उनके मन को अवश्य प्रभावित करती है और वह गीत/ कविता को जीवन-भर नहीं भूलते। स्कूलप्रार्थना में जो गीत बच्चों को बार-बार याद करवाए जाते हैं, वे बच्चों में आत्मविश्वास, साहस, आत्मनिर्भरता आदि के भावों को अवश्य जाग्रत करते हैं। उदाहरण के लिए–

इतनी शक्ति हमें देना दाता,
मन का विश्वास कमजोर हो ना।

ऐसे गीत/ कविता/ प्रार्थना आदि को बच्चे अवश्य बार-बार दुहराते-गुनगुनाते हैं।

बाल संवेग :

बालक का रूठना, मनाना, क्रोध, प्रेम, ईर्ष्या, शिकायत करना आदि प्रवृत्तियाँ बाल-संवेग के अंतर्गत आती हैं और ये प्रवृत्तियाँ बालकों में सहज ही होती हैं। बच्चों के लिए लिखे गए बालसाहित्य में ये प्रवृत्तियाँ अनायास मिल जाती हैं। उदाहरण के लिए–

शिकायत प्रवृत्ति :

पापा,
दीदी बहुत बुरी है।
बिना बात करती है कट्टी,
सीधे मुँह न करती बात।[13]

सुप्रसिद्ध पंजाबी बाल-साहित्यकार दर्शनसिंह आशट की बाल-कहानी 'प्यार दा धागा' में भी बच्चों की शिकायत-प्रवृत्ति का उदाहरण मिलता है। इसमें भाई-बहन आपस में पानी न देने के कारण नाराज़ हो जाते हैं और एक-दूसरे की शिकायत मम्मी से इस प्रकार करते हैं।

मम्मी मैं सुखन दे रखड़ी नहीं बन्नागी। अज्ज मैं इस तो पानी मंगिआ तां इसने साफ जवाब दे दिता। इहो जिहे हुन्दे ने भरा?

ते मम्मी मैं वी नहीं बन्नवऊनी इहतों रखड़ी। इह मैनू वी पानी दे सकदी सी। मैं वी तां इहदों नाल ई स्कूलों आया सी। इहो जिहीआ हुन्दीया ने भैणां?[14]

बालक बहुत भोले-भोले होते हैं। छोटी-छोटी बातों पर रूठ जाना और फिर जल्दी मान भी जाना उनके बाल-मन की सहज प्रवृत्ति है। बच्चों को मनाने के लिए चंदामामा की कविता मौखिक रूप में तो आज के युग में भी प्रचलित है, जिसे हम भी बच्चों को मनाने के लिए गाते हैं।

रूठने-मनाने की प्रवृत्ति :

चंदा मामा दूर के, लडडू मोती चूर के,
आप तो खाते थाली में,
मुन्ना को दे प्याली में
प्याली गई टूट, मुन्ना गया रूठ,
नई प्याली लाएँगे, मुन्ना को मनाएँगे।

प्रेम-भाव की प्रवृत्ति :

'बच्चे भोले भाले होने के साथ-साथ बहुत प्रिय भी होते हैं और अपनी प्यारी-प्यारी बातों से सबका मन मोह लेते हैं, जिस कारण सभी उनसे बहुत स्नेह करते है। बड़ों का बच्चों के प्रति अधिक स्नेह होने के कारण ही उनके मन में भी सभी के प्रति प्रेम भाव जाग्रत हो जाता है, जिस कारण उन्हें अपने भाई-बहन के अतिरिक्त अपनी पसंद के खिलौनों से भी इतना अधिक प्रेम हो जाता है कि वह उन्हें ही अपना दोस्त मान उनसे बात करते हैं, खेलते हैं। विशेषत: लड़कियों को अपनी गुड़िया (खिलौने) से बहुत लगाव होता है। वह अपनी गुड़िया को सुंदर वस्त्र पहनाती, सजाती/ सँवारती और यहाँ तक कि उसकी गुड्डे साथ शादी भी करती है। बच्चों के खिलौनों के साथ प्रेम-भाव की प्रवृत्ति को बाल-साहित्यकार कल्याणकुमार जैन शशि ने अपने बाल-लेखन का आधार बनाया है। प्रेम-प्रवृत्ति का उदाहरण प्रस्तुत है–

मेरी गुड़िया बड़ी सयानी,
पढ़कर आई है हलदानी,
सूरत से लगती सेठानी,

उसके पीले हाथ करूँगी,
अब उसकी शादी कर दूँगी।[15]

अनुकृति :

बड़ों की नकल करना तो बच्चों की जन्मजात प्रवृत्ति है। बड़े बच्चों के सामने जैसा करते हैं, वह वैसा ही करने लग जाते हैं। विशेषत: आरंभिक अवस्था में तो बच्चे अपने माता-पिता, दादा-दादी, बड़े भाई-बहन और अपने स्कूल शिक्षक का अनुकरण तो अवश्य ही करते हैं। अधिकतर देखा जाता है कि बड़े ही बच्चों को किसी-न-किसी की नकल करने को प्रेरित करते हैं। यही अनुकरण की प्रवृत्ति आगे चलकर बच्चों को कुछ नया करने के लिए दिशा देती है। बच्चों में अनुकृति की भावना इतनी प्रबल होती है कि वे महान महापुरुषों महात्मा गांधी, नेहरू, भगतसिंह आदि से इतने प्रभावित होते हैं कि उनकी ही नकल करने लग जाते हैं। प्रसिद्ध बाल-साहित्यकार कमला चौधरी की कविता 'मैं गांधी बन जाऊँ' का उदाहरण द्रष्टव्य है–

मां, खादी का कुर्ता दे-दे, मैं गांधी बन जाऊँ
सब मित्रों के बीच बैठकर, फिर रघुपति राघव गाऊँ।

आज्ञा तेरी मैं मानूँगा, सेवा का प्रण मैं ठानूँगा
मुझे रूई की पूनी दे-दे, चरखा खूब चलाऊँ।
मां, खादी का कुर्ता दे-दे, मैं गांधी बन जाऊँ।[16]

बड़ों की नकल या अनुकरण करने के अतिरिक्त बच्चे निर्जीव वस्तुओं–सूरज, चाँद, तारा, दीपक, फूल आदि भी बनना चाहते हैं। अर्थात् उनकी भी नकल/ अनुकरण करना चाहते हैं कि सूरज/ दीपक आदि बनकर सबको रौशनी दी जाए, सबकी सहायता की जाए। बच्चों के मन में ऐसे भाव सहज ही जाग्रत हो जाते हैं कि बड़े महान पुरुषों जैसा बनने के साथ-साथ अन्य उपयोगी वस्तुओं जैसा भी बना जाए। सुप्रसिद्ध बाल-साहित्यकार सोहनलाल द्विवेदी कृत 'आकांक्षा' कविता

का उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें बच्चे तारा और दीपक जैसे बनना चाहते हैं अर्थात् उनका अनुकरण करना चाहते हैं।

सूर्य चंद्र यदि न बन सकूँ मैं,
ज्योति और भी भर न सकूँ मैं,
तो नन्हा तारा बना जाऊँ,
जितना हो प्रकाश फैलाऊँ,
बड़ा अँधेरा जब छा जाए,
खाई-खंदक नहीं दिखाए,
तब मैं दीपक बनकर आऊँ,
बटोहियों को राह दिखाऊँ।[17]

सुप्रसिद्ध पंजाबी बाल-साहित्यकार गुरदयालसिंह के बाल-नाटक 'आओ नाटक खेडीऐ' में से बाल-अनुकरण का एक उदाहरण द्रष्टव्य है। इसमें बच्चे पुस्तक से नाटक पढ़कर उसका अनुकरण करते हैं। अर्थात् नाटक के पात्र स्वयं बनकर उनकी संवाद सहित हू-ब-हू नकल करते हैं। इसमें बच्चे पाखंडी बाबे की नकल करते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

बिल्लू (पाखंडी बाबे का चेला)–'खैर होवे वड्डया बूहिया दी। माई भक्तनी राजी राहे। की गल्ल इंज उदास क्यों बैठी?... असी तेरे सब कष्टां दा उधार करागे।

सुमिति (माई भक्तनी) : मेरे धन्न भाग चेला जी जो तुसी आप ही आ गए। मैं तां आप तुहाड़े कोल आना सी। मैं महाराज बहुत दुखी हां मेरे दुख दी निवृत्ति करो जी।[18]

यह बच्चों की अनुकरण प्रवृत्ति ही है, जो वह चेला और माई भक्तनी की हू-ब-हू नकल करते हैं।

बाल-संचय प्रवृत्ति :

संचय का अर्थ होता है एकत्र करना। बाल-संचय का अर्थ है–बच्चों द्वारा अपनी पसंद की चीजें, खिलौने, वस्तुओं आदि को एकत्र कर सँभालकर रखना। बच्चों में इस प्रवृत्ति के अंतर्गत अधिकार की भावना अधिक प्रबल रहती है। वह अपनी पसंद के खिलौनों, सिक्कों, कार्ड, कंचे, स्टीकर, पतंग तथा अन्य चिड़ी, कबूतर, पक्षी आदि को अधिक-से-अधिक एकत्र कर उन पर सिर्फ और सिर्फ अपना ही अधिकार समझते हैं। अन्य किसी को भी अपनी संचित (एकत्र) की हुई चीज़ों को हाथ तक नहीं लगाने देते।

कुछ बच्चों को खिलौनों के साथ-साथ पशु-पक्षियों को भी अपने पास रखने का बहुत शौक होता है। जैसे : चिड़िया, कबूतर, तोता, कुत्ता आदि तो उनके मित्र ही बन जाते हैं। बच्चे ऐसे पालतू पशु-पक्षियों के एक से अधिक अपने पास रखना चाहते हैं। ऐसा ही एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

मैंने पाले बहुत कबूतर,
भोले-भाले बहुत कबूतर,
ढंग-ढंग के बहुत कबूतर,
रंग-रंग के बहुत कबूतर,
कुछ उजले कुछ लाल कबूतर,

चलते छम-छम चाल कबूतर,
कुछ नीले बैंजनी कबूतर,
पहने है पैंजनी कबूतर।[19]

सुप्रसिद्ध पंजाबी बाल-साहित्यकार दर्शनसिंह आशट की बाल-कहानी 'कच्ची डोर' में भी बच्चों की संचित प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इसमें बालक राहुल को अलग-अलग रंग की बड़ी/ छोटी पतंगें एकत्र करने का बहुत शौक है। 'ऊह कई दोस्तां नूं अपने घर लै आऊदा अते उहना नूं अलंमारी च जमा कीती आ होइया पतंगा कड के दिखाऊदा ते गिनती करन लग जादा इक, दो तिंन, पंज, अठ, बारा, वीह...इह लाल पतंग राजू दी अै। इह पीले रंग दी गुरबीर नाल पेचा पा के कटी सी...।'[20]

बाल-मनोवृत्तियों और बाल-आयु को केंद्र में रखकर ही बालसाहित्य का सृजन किया जाता है। बाल-मनोविज्ञान ही तय करता है कि किस तरह का साहित्य बालकों की आयु के अनुसार किस वर्ग में रखा जाए। बालसाहित्य के पीछे बाल-मनोविज्ञान ही क्रियाशील रहता है, जिस कारण बालसाहित्य लिखने में सुविधा हुई। बाल-मनोविज्ञान के अंतर्गत बालसाहित्य को बाल-आयु की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया गया है–

बाल-मनोविज्ञान के अनुसार, 'बालसाहित्य आयु की दृष्टि 4 से लेकर 15 वर्ष तक के बालकों के लिए लिखा जाता है।'[21] 4 से 7 वर्ष के बच्चों के लिए तो मनोरंजन का माध्यम रंगीन सचित्र पुस्तकें ही होती हैं। इस स्तर के बच्चों की रंगीन पुस्तकों में अंकित चित्र उनके सुपरिचित ही होते हैं। जैसे : माँ-बाप, भाई-बहन, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, घरेलू वस्तुएँ आदि। इन्हीं को आधार बनाकर बच्चों के लिए कविता, गीत, कहानी लिखे जाते हैं। पशु-पक्षियों, फल-फूल, वर्षा आदि पर लिखित गीत तो बच्चों को बहुत प्रिय होते हैं और उन्हें वह आसानी से कंठस्थ भी कर लेते है। कुछ मौखिक गीत तो आज भी बच्चे गुनगुनाते हैं। उदाहरण के लिए–

मछली जल की रानी है,
जीवन उसका पानी है,

ऊपर पंखा चलता है,
नीचे बेबी सोता है।

इस प्रकार के गीत बच्चों को बहुत प्रिय होते हैं। प्राय सभी भाषाओं में प्रारंभिक स्तर पर बच्चों के लिए ऐसे ही शिशु गीत होते हैं। ऐसे गीतों के साथ सुंदर रंगीन चित्रों का होना अनिवार्य है। आरंभिक अवस्था में बच्चे इन चित्रों आदि को देखकर ही आनंद का अनुभव करते हैं। रंगीन चित्रों को देखने की आदत से ही बच्चों में किताबों को पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है और साथ ही चित्रों के माध्यम से बच्चों के ज्ञान में भी वृद्धि होती है।

7 से 9 वर्ष के बच्चे कहानी सुनने-पढ़ने की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। यह बच्चे की बाल्यावस्था होती है। इस अवस्था में बच्चों की सोचने-समझने की शक्ति बढ़ जाती है और वह स्वयं भी कल्पना करने लग जाते हैं तथा उनके मन में चीजों/ बातों आदि को जानने की जिज्ञासा भी बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए जैसे वह बहुत से प्रश्न पूछना आरंभ कर देते हैं– सूर्य रात को क्यों नहीं आता? आसमान में कितने तारे हैं? सूर्य के पास इतना प्रकाश कहाँ से

आता है आदि कब, क्यों, कैसे जैसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। बाल्यावस्था के बच्चों के लिए उनकी सोच-समझ शक्ति को केंद्र में रखकर बालसाहित्य लिखा जाता है। इस अवस्था के बच्चों को सांस्कृतिक परंपरा से परिचित कराने के लिए राम, कृष्ण, धर्मपुत्र कर्ण, अर्जुन, भीम आदि की कथाओं को भी अत्यंत रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, ताकि इन कथा-कहानियों के माध्यम से उनके मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान में भी वृद्धि हो और वह अपनी सांस्कृतिक परंपरा से भी जुड़े रहें। विभिन्न बाल-साहित्यकारों द्वारा अपने-अपने ढंग से बालरुचि को केंद्र में रखकर बच्चों के लिए ऐसी कथा-कहानियों को बहुत सरल और रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

9 से 14 वर्ष के बच्चों की मानसिक स्थिति में एक नया मोड़ आता है। वह कल्पनाजगत से निकलकर वास्तविकता को जानने का प्रयत्न करने लग जाते हैं अर्थात् वह कल्पना से अधिक यथार्थ में अधिक रुचि लेते हैं। उनमें वस्तुओं/ बातों आदि को वास्तविक रूप में देखने-समझने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में बच्चे धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि कार्य की ओर आकर्षित होते हैं। वह अपनी रुचि के अनुसार कहानी, उपन्यास आदि पढ़ते हैं। इस अवस्था के बालकों के लिए धर्माचार्यों, महापुरुषों, देशभक्तों, महान नेताओं तथा परिश्रम से आगे बढ़े लोगों की जीवनियों आदि को सरल और सुबोध ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, ताकि बच्चे ऐसी कहानियों, उपन्यासों और जीवनियों आदि से प्रेरणा ग्रहण कर सकें। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में तो बच्चों की वैज्ञानिक कथा-कहानियों आदि में भी रुचि बढ़ जाती है। साईकल, टेलीफोन, जहाज आदि कब, कैसे बने आदि जानने की प्रवृत्ति बच्चों में इस अवस्था में प्रबल हो जाती है। वे अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति द्वारा ऐसी ही चीजों को स्वयं बनाने का प्रयत्न भी करते हैं। हिंदी के विभिन्न बाल-साहित्यकारों–सोहनलाल द्विवेदी, हरिकृष्ण देवसरे, निरंकारदेव सेवक, श्रीप्रसाद, दिनेश चमोला, बालशौरि रेड्डी, फकीरचंद शुक्ला, रामनरेश त्रिपाठी, विद्याभूषण, 'विभु', बालबंधु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र, गिरिराजशरण अग्रवाल, प्रकाश मनु आदि ने बच्चों के आयु-स्तर के अनुसार ही बालसाहित्य का सृजन किया। ये सभी वरिष्ठ कथाकार हैं, जिन्होंने समय के साथ बालरुचियों, आदतों, बदलती परिस्थितियों के अनुसार बालसाहित्य लिखा। ये लेखक बालभावों के संवाहक हैं, जिन्होंने बालसाहित्य में परिमाण और गुणवत्ता की दृष्टि से वृद्धि की।

बालसाहित्य का इतिहास बहुत प्राचीन है। आरंभ से ही बच्चों का कहानियों आदि के माध्यम से मनोरंजन किया जाता था। प्रायः बालसाहित्य का आरंभ मौखिक रूप से ही माना जाता है, क्योंकि प्राचीन समय में बच्चे अपने बड़े-बूढ़ों से कहानियाँ, पहेलियाँ आदि सुना करते थे। ये कहानियाँ मौखिक रूप में ही होती थीं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती रहती थी। इन कहानियों कथाओं का मूल आधार बच्चों का मनोरंजन करने के साथ-साथ उनके ज्ञान में वृद्धि करना भी होता था। इसके अतिरिक्त बच्चों को नैतिक शिक्षा आदि प्रदान करने के लिए लोकगीत, लोरियाँ, पहेलियाँ आदि भी प्रचलित थीं, जो कि बाल-लोकसाहित्य के अंतर्गत आती है। यह लोकगीत, लोरियाँ, पहेलियाँ आदि तो आज भी बच्चों के लिए सुरक्षित और अमर हैं तथा बच्चों के मनोरंजन का उच्चतम साधन भी हैं। बच्चों के लिए अकबर-बीरबल, तेनालीराम, परी कथाओं, लोककथाओं आदि के प्रचलित किस्से आज भी बच्चों को प्रिय हैं तथा कुछ कहानियाँ तो बच्चों की जबान पर चढ़ी रहती हैं। इन सबका सीधा लाभ बालसाहित्य को

प्राप्त हुआ। आरंभ में इन्हीं परी-लोककथाओं आदि को लिपिबद्ध किया जाने लगा, जिससे इसकी लेखन-परंपरा का विकास हुआ। वास्तव में बालसाहित्य के इतिहास-लेखन में संस्कृत की प्रमुख रचनाओं–पंचतंत्र, हितोपदेश के नाम मुख्य रूप से उल्लिखित है। इन कृतियों में संकलित कहानियाँ बच्चों के साथ-साथ बड़ों को भी प्रिय हैं। इन कहानियों का मुख्य उद्देश्य बच्चों का मनोरंजन करने के साथ-साथ उनमें बौद्धिक, नैतिक गुणों का विकास करना भी रहा। इन्हीं कथाओं, कहानियों के माध्यम से धीरे-धीरे बालसाहित्य विकास की ओर बढ़ता गया।

बालसाहित्य का शुद्ध, परिष्कृत और परिमार्जित रूप 19वीं शती के अंत में और 20वीं शती के आरंभ में माना जाता है। प्रसिद्ध साहित्यकार विष्णु प्रभाकर के अनुसार, 'बीसवीं सदी को बालकों की सदी कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि इस सदी में पहली बार यह स्वीकार किया गया कि बच्चों का स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है। इससे पहले वह केवल बड़ों का छोटा रूप ही माने जाते थे। बीसवीं सदी ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में, विशेषकर मनोविज्ञान के क्षेत्र में, नई खोजों के कारण इसी भ्रम का निराकरण किया।'[22]

बालसाहित्य के लिए 20वीं शताब्दी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण ही बच्चों के लिए बाल-पुस्तकों का सृजन किया जाने लगा ताकि कथा-कहानी आदि के माध्यम से उन्हें विज्ञान की भी जानकारी दी जाए। सन् 1833 में स्कूल बुक ऑफ सोसाइटी का निर्माण किया गया, जिसके अंतर्गत बच्चों के लिए विभिन्न पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित की जाने लगीं, जो कि बालसाहित्य के विकास में मार्ग-निर्देशक बनीं। जैसे-जैसे विभिन्न बाल-पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से बच्चों को शिक्षा प्रदान की जाने लगी, वैसे-वैसे बच्चों के मनोरंजन और ज्ञानवृद्धि के लिए बालसाहित्य-लेखन की परंपरा भी समृद्ध होती गई, जिससे बालसाहित्य विकास की ओर अग्रसर होने लगा।

हिंदी और पंजाबी बालसाहित्य के विकास को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया। 1. स्वतंत्रतापूर्व युग 2. स्वातंत्र्योत्तर युग

स्वतंत्रतापूर्व युग

हिंदी बालसाहित्य की विकास-यात्रा का आरंभ तो स्वतंत्रतापूर्व युग में ही हो चुका था। इसके विकास के कुछ बीज हिंदी साहित्य के पूर्ववर्ती काल-आदिकाल और भक्तिकाल में भी मिलते हैं। आदिकाल और भक्तिकाल में कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जो बच्चों को अवश्य आनंदित करती हैं। जैसे कि अमीर खुसरो की पहेलियाँ और सूरदास की कृष्ण बाललीला की रचनाएँ बच्चों के मनोरंजन का उच्चतम साधन बनी रहीं और आज भी बच्चों में प्रिय हैं।

स्वतंत्रतापूर्व युग में हिंदी बालसाहित्य का विकास एक शिशु की भाँति धीरे-धीरे होने लगा, जिससे बालसाहित्य को एक नई और प्रगतिशील दृष्टि मिली तथा बच्चों के लिए भी अलग से साहित्य प्राप्त होने लगा। इसी युग में बड़ों के लिए साहित्य-सृजन करने वाले साहित्यकारों ने ही बच्चों के लिए अलग से अपनी रचनाएँ प्रकाशित करनी आरंभ कर दीं। इन साहित्यकारों में कामताप्रसाद गुरु, रामनरेश त्रिपाठी, सुखदेव चौबे, श्रीनाथसिंह, लल्लीप्रसाद, रामेश्वर आदि ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने आदर्शपरक, नीतिपरक तथा देश-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत रचनाएँ लिखकर बालसाहित्य को विकास की ओर अग्रसर किया।

इन्हीं साहित्यकारों की रचनाओं के आधार पर ही स्वतंत्रतापूर्व बालसाहित्य में राष्ट्रभक्ति और सामाजिक उत्थान अधिक देखने को मिलता है। इन्होंने बच्चों में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने का सफल प्रयास किया। इसके साथ ही बालसाहित्य की विविध विधाओं की भी प्रगति हुई। स्वाधीनता के पूर्व ही विश्वकवि रवींद्रनाथ टैगोर, प्रेमचंद, सत्यजीत राय, राजाजी, सोहनलाल द्विवेदी, सुकुमार राय, बुद्धदेव[23] आदि महान लेखकों ने बालसाहित्य में रुचि ली। इन्होंने बालसाहित्य की विभिन्न विधाओं पर अपनी कलम चलाकर बालसाहित्य का सरल, रोचक और सुबोध भाषा में सृजन किया। इस प्रकार स्वतंत्रतापूर्व युग में ही बच्चों के लिए लिखित बालसाहित्य का अस्तित्व उभरकर सामने आने लगा था।

स्वतंत्रतापूर्व बालसाहित्य को विकसित करने में पत्रिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। सर्वप्रथम सन् 1874 में भारतेंदु द्वारा 'बालबोधिनी' पत्रिका[24] का प्रकाशन किया गया, जिसमें बालकों से संबंधित रचनाएँ छपती थीं, जिससे बच्चों का मनोरंजन भी किया जाता था। यद्यपि यह पत्रिका अधिक समय तक नहीं चली, लेकिन हिंदी बालसाहित्य का वास्तविक विकास यहीं से माना जाता है। इसके पश्चात् तो एक के बाद एक हिंदी बाल-पत्रिकाएँ प्रकाश में आती गईं। सन् 1876 में काशी, 1891 में बालहितकर, बालप्रभाकर तथा सन् 1915 में शिशु, 1916 में बालक तथा 1917 में बालसखा[25] आदि पत्रिकाओं के प्रकाशन से तो बालसाहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन आए। इसके अतिरिक्त खिलौना, बालहंस, बालविनोद, स्कूल मास्टर, छात्रा सहोदर, चमचम, नंदन, चंदामामा, सरस्वती, चंपक, पराग, शिशु भारती, राजभैया आदि पत्रिकाओं के प्रकाशन ने तो बालसाहित्य को विकास के चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया। इन पत्रिकाओं के विकास ने ही हिंदी बाल पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन को भी विकास की ओर उन्मुख किया और बच्चों के लिए छोटी-छोटी बालपुस्तकें भी प्रकाश में आने लगीं।

भारतेंदु द्वारा प्रकाशित 'बालबोधिनी' पत्रिका के आधार पर स्वतंत्रतापूर्व बालसाहित्य का विकास भारतेंदुयुग से भी माना जाता है, जो आरंभ तो भारतेंदु युग से हुआ, लेकिन इसका विस्तार द्विवेदीयुग में माना जाता है। भारतेंदु और द्विवेदीयुग के प्रमुख साहित्यकारों–भारतेंदु, सदल मिश्र, लल्लूलाल बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, काशीनाथ खत्री, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त, हरिऔध, सोहनलाल द्विवेदी, श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न[26] आदि ने भी बालसाहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये सभी साहित्यकार पूर्व स्वतंत्रतायुग के अंतर्गत ही आते हैं।

इस प्रकार स्वतंत्रतापूर्व युग में ही बालसाहित्य विकास की ओर बढ़ने लग गया था। यद्यपि स्वतंत्रतापूर्व युग में ही बालसाहित्य की सभी विधाओं पर लेखन आरंभ हो गया था, लेकिन इस युग में बालकाव्य का विशेष रूप से सृजन किया गया। स्वतंत्रतापूर्व युग में बाल-काव्य का सृजन करने वाले साहित्यकारों में श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, विद्याभूषण विभु, स्वर्ण सहोदर, श्रीनाथसिंह, सोहनलाल द्विवेदी, प्रेमादेवी खरे, शारदा मिश्र, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान, रमापति शुक्ल, आरसीप्रसाद सिंह, शकुंतला सिरोठिया, पंकज कुलश्रेष्ठ, शंभुदयाल सक्सेना[27] आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन साहित्यकारों ने अपनी बाल काव्य-रचना से जहाँ एक तरफ बच्चों का मनोरंजन किया, कविता के माध्यम से उन्हें खेलने आदि का अवसर प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर बच्चों में काव्य के माध्यम से देशभक्ति, संवेदना आदि की भावना

को भी जाग्रत करने का सफल प्रयास किया।

इसी युग में पंजाबी बालसाहित्य का भी विकास हो चुका था, लेकिन इस युग में इसके विकास की गति बहुत धीमी थी। स्वतंत्रतापूर्व युग में बालसाहित्य रचने वाले साहित्यकारों का विषय-क्षेत्र भले ही कोई और रहा था, लेकिन कुछ साहित्यकारों ने बच्चों के लिए अलग से बालसाहित्य का सृजन भी किया। उनमें से चरणसिंह शहीद, विधातासिंह तीर, ज्ञानीलाल सिंह, धनवंतसिंह शीतल, गुरबख्शसिंह प्रीतलड़ी, मास्टर करमसिंह, गुरदयालसिंह, अमृता प्रीतम'[28] आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने बालसाहित्य के अलग-अलग रूपों का सृजन व प्रकाशन कर पंजाबी बालसाहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। सर्वप्रथम सन् 1932 में ज्ञानीलाल सिंह गुजरावालिया ने 'बालक' नाम से बालपत्र का आरंभ किया।[29] और बच्चों के लिए लगभग 25 बाल पुस्तकें लिखीं, जिनका मुख्य आधार बच्चों का मनोरंजन करना था। तत्पश्चात् सन् 1942 में गुरबख्शसिंह प्रीतलड़ी द्वारा 'बालसंदेश' नामक बालपत्र प्रकाशित किया गया।[30] जिसे बच्चों की रुचि के अनुसार सरल और सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया। स्वतंत्रतापूर्व युग में ही 'बालसंदेश' पत्रिका बच्चों की प्रिय पत्रिका बन गई थी। पंजाबी बालसाहित्य के विकास में बालपत्रों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। बालपत्रों के माध्यम से ही पंजाबी बालसाहित्य स्वतंत्रतापूर्व युग में ही अपने विकास की ओर अग्रसर होने लगा था।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1947 के बाद का युग स्वातंत्र्योत्तर युग कहलाता है। इस युग में बालसाहित्य का विकास तीव्र गति से होने लगा था। स्वतंत्रतापूर्व युग में जिन बाल-साहित्यकारों ने बालसाहित्य के विकास में सराहनीय योगदान दिया था, उन बाल-साहित्यकारों की रचनाओं का विस्तार स्वतंत्र रूप से इस युग में हुआ और बालसाहित्य को एक स्वतंत्र साहित्य का स्वरूप प्राप्त हुआ।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् ही बालसाहित्य की सभी विधाओं में कलात्मक निखार आया, क्योंकि इस युग में साहित्यकारों को अपनी रचनाओं को स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करने का अवसर मिल गया। स्वतंत्रतापूर्व युग के बालसाहित्य की विधाओं का क्षेत्र सीमित था, लेकिन स्वांतत्र्योत्तरयुग में तो बालसाहित्य की सभी विधाओं–कविता, गीत, कहानी, उपन्यास, नाटक, बाल-प्रहसन बालजीवनी आदि पर स्वतंत्र रूप से लेखन प्रारंभ हुआ, जिससे बालसाहित्य का क्षेत्र, प्रत्येक विधा विषय में विस्तृत और व्यापक हो गया।

स्वातंत्र्योत्तर युग की मुख्य विशेषता यह है कि इस युग में बालसाहित्य को रोचक, मनोवैज्ञानिक बाल आयुस्तर तथा बच्चों की रुचि के अनुकूल लिखने का सफल प्रयास किया जाने लगा। इस युग के बालसाहित्य का उद्देश्य जहाँ बच्चों का मनोरंजन करना रहा, वहीं दूसरी ओर उन्हें अपने परिवेश से जोड़ना भी रहा।

धीरे-धीरे बालकाव्य के विकास के साथ-साथ इस युग में बाल-कहानी और बाल-उपन्यास आदि विधाओं का भी विकास होने लगा। विभिन्न बाल-साहित्यकारों ने बाल-पत्रिकाओं को आधार बनाकर बच्चों के लिए बाल-कहानी, उपन्यास आदि का सृजन करना आरंभ कर दिया था। प्रेमचंद, सुदर्शन, बाबूलाल, श्रीप्रसाद, रजनीश यादराम रजेंद्र, लक्ष्मीचंद आदि प्रमुख बाल-कहानीकार, उपन्यासकार के रूप में उभरकर सामने आते हैं। धर्मवीर भारती का प्रसिद्ध

बाल-उपन्यास बालक, प्रेम और परिया सन् 1945 में बालसखा में धारावाहिक के रूप में प्रकाशित हुआ था।'[31] यह बाल-उपन्यास उस समय में भी बच्चों में सर्वाधिक प्रिय रहा था, जो बच्चों के मनोरंजन के साथ-साथ उनके ज्ञान में भी वृद्धि करने और कल्पना से यथार्थ को पहचानने में भी सहायक सिद्ध हुआ था। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध साहित्यकार प्रेमचंद ने बच्चों के लिए जंगल की कहानियाँ और कुत्ते की कहानी आदि में बालसाहित्य के विकास में सराहनीय योगदान दिया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रतापूर्व युग में ही बालसाहित्य की सभी विधाओं के विकास का वृक्ष साहित्य के क्षेत्र में अपनी जड़ें मजबूत करने लगा था।

स्वातंत्र्योत्तर युग में यहाँ बालसाहित्य की सभी विधाओं को एक स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त हुआ वहीं बालसाहित्य के विकास की दृष्टि से बालकाव्य विधा को ही सबसे प्राचीन और आदिविधा माना जाता है, क्योंकि बालसाहित्य के विकास का आरंभ छोटी-छोटी बाल-कविताओं के माध्यम से ही हुआ था और इनका विस्तारपूर्वक विकास इसी युग में हुआ। इस युग में भारतेंदु द्वारा रचित 'चेन के लटके चूरन के झटके जैसी बाल-कविताओं से आरंभ होता है। इसके अतिरिक्त श्रीधर पाठक कृत मनोविनोद, हरिऔध कृत बालविकास, कामताप्रसाद कृत पद्यपुष्पावली, रामनरेश त्रिपाठी कृत हंस की हिम्मत, विद्याभूषण विभु कृत शेष चिल्ली, गोबरगणेश, मुरारीलाल कृत साहसी गणेश आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ बालकाव्य की बहुमूल्य निधि हैं।'[32] बच्चे काव्य में आरंभ से ही रुचि लेते रहे हैं, क्योंकि काव्य एक गत्यात्मक विधा है और गेयता बच्चों को प्रिय होती है। बच्चे अक्सर कुछ-न-कुछ गुनगुनाते रहते हैं। बच्चों के लिए लिखे गए गीत, शिशुगीत, लोरियाँ आदि बालकाव्य के ही अंतर्गत आते हैं, जिन्हें बच्चे आरंभ से ही सुनते आ रहे हैं। बालगीत बच्चों की आयु अनुसार 4 या 6 पंक्तियों आदि में भी होते हैं। बालगीत का अर्थ है–'बच्चों द्वारा गाया हुआ या वह गीत जिसमें बच्चों के सुख-दुख की अनुभूति व्यक्त हुई हो।'[33] बच्चों के मनोरंजन का प्रमुख साधन गीत-शिशुगीत ही होते हैं। स्वातंत्र्योत्तर युग में बालकाव्य लेखन को समृद्ध करने में 'श्रीप्रसाद, राष्ट्रबंधु, जयप्रकाश भारती, बालकृष्ण गर्ग, दिविक रमेश, सिरोजनी कुलश्रेष्ठ, प्रकाश मनु, धीरेंद्रकुमार, सुरेंद्र विक्रम, प्रेमचंद गुप्त आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग में बालकाव्य के बाद बालकहानी का विकास भी अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँच गया। इस युग में विभिन्न बाल-साहित्यकारों ने कहानी विधा पर अपनी कलम चलाकर बालसाहित्य के क्षेत्र को समृद्ध किया। आरंभिक कहानियाँ लोककथा, पशु-पक्षियों, परी कथाओं पर ही आधारित थीं, लेकिन स्वातंत्र्योत्तर युग में विभिन्न बाल-साहित्यकारों ने परी-कथाओं से हटकर विज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, वास्तविकता, परिवार आदि को केंद्र में रखकर कहानियाँ लिखीं ताकि बच्चों को वास्तविक जगत के साथ जोड़ा जा सके। 'कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद कृत ईदगाह, कुत्ते की कहानी, परीक्षा, विश्वंभरनाथ कौशिक कृत पन्ना धाय, सुदर्शन कृत हार-जीत आदि कहानियों ने बालसाहित्य के क्षेत्र को समृद्ध किया।'[34] इसके अतिरिक्त बाल-कहानी के विकास में बाल-पत्रिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा तथा बाल-कथासाहित्य को समृद्ध करने में श्रीराम शर्मा, रामनारायण, हरिकृष्ण देवसरे, निरंकारदेव सेवक, सुरेश पाठक, बालबंधु, बेनीपुरी, बालशौरि रेड्डी, शिवप्रसाद सितारेहिंद, ममता कालिया, चंद्रकिरण आदि का भी विशेष रूप से नाम उल्लेखनीय है।

बालसाहित्य विधा काव्य और कहानी के बाद बच्चों के लिए बाल-उपन्यास लिखने की परंपरा का विकास भी स्वातंत्र्योत्तर युग में हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले बाल-उपन्यासों का उल्लेख कम ही मिलता है, लेकिन स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद बाल-उपन्यास स्वतंत्र रूप से उभरकर सामने आया। सन् 1952 में 'बालसखा' में भूपनारायण दीक्षित कृत बाल उपन्यास 'खड़ खड़ देव' तथा साप्ताहिक हिंदुस्तान में दयाशंकर मिश्र दद्दा कृत 'दीनू बेटा' और सन् 1957 में अयोध्याप्रसाद झा कृत 'लाल पुतला' किशोर मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ।'[35] इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर युग में बालसखा, साप्ताहिक हिंदुस्तान, किशोर, पराग आदि पत्रिकाओं ने बाल-उपन्यास को एक पृथक् विधा के रूप में प्रस्थापित करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाल-उपन्यास लंबी कहानी के समान होते हैं, जो बच्चों के सामने जीवन की विभिन्न घटनाओं को मनुष्य, पशु-पक्षियों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं और बच्चों को वास्तविकता को पहचानने के योग्य बनाते हैं। 'राबिन्सन क्रूसो, सिंदबाद जहाजी, ट्रेजर आइलैंड, डेविक कायरफील्ड ऐसे ही उपन्यास हैं, जिन्हें बच्चों ने अपने मन की समस्याओं का समाधान समझकर स्वीकार कर लिया। इनसे बच्चों का न केवल मनोरंजन हुआ, बल्कि उन्हें इस दुनिया के रहस्य को जानने की विस्तीर्ण दृष्टि भी मिली।'[36] बाल-उपन्यास के विकास के क्षेत्र में हरिकृष्ण देवसरे, सत्यप्रकाश अग्रवाल, मनहर चौहान, जय गवानी, उमाशंकर, कृष्णचंद्र, हिमांशु श्रीवास्तव आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने बालसाहित्य के विकास को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बालकाव्य, कहानी और उपन्यास की भाँति ही बालनाटक, बालजीवनी आदि का भी स्वतंत्र रूप से विकास स्वांतत्र्योत्तर युग में हुआ। बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति जन्मजात होती है, जिस कारण उन्हें मंच पर नाटक, एकांकी आदि को प्रस्तुत करने में अधिक आनंद आता है। बाल मंचन आदि की सुविधाएँ भी इसी युग में उपलब्ध हुईं। सर्वप्रथम सन् 1955 में नर्मदा खरे का 'बाल नाटकमाला' 1963 में, कमलेश्वर का 'पैसों का पेड़', व्यथित हृदय का 'सबेरे का फूल' तथा श्रीकृष्ण का 'अनिल और अंजलि', चंद्रशेखर का 'कमल और केतली', मस्तराम कपूर का उर्मिल, सेवाराम का 'फूल और काँटे', लक्ष्मीनारायण लाल का 'बुद्धिमान गधा' आदि बाल-नाटकों का सृजन किया गया।'[37] यह नाटक बालमनोविज्ञान, बालरुचि, बालस्वभाव आदि को केंद्र में रखकर लिखे गए तथा बालकों में उच्च नैतिक गुणों का विकास करने में भी सहायक है। बालनाटकों के विकास में बाल-पत्रिकाओं का भी योगदान रहा। बालनाट्यविधा के विकास में हरिकृष्ण देवसरे, रामकुमार वर्मा, गिरिराजशरण अग्रवाल, विमला लूथरा, गंगाप्रसाद माथुर, रेखा जैन, विनोद रस्तोगी आदि का भी सराहनीय योगदान रहा।

स्वातंत्र्योत्तर काल में जहाँ बालसाहित्य की कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता आदि को एक स्वतंत्र पहचान मिली, वहीं बालजीवनी भी इस काल में अपने विकास की ओर अग्रसर हुई। महान संतों, देशभक्तों, महापुरुषों, वैज्ञानिकों आदि की जीवनियों ने बालसाहित्य के भंडार को समृद्ध करने में अपना विशेष योग दिया। यह जीवनियाँ बच्चों में आदर्श, नैतिक, सदगुणों का विकास करने सहायक रही। स्वातंत्र्योत्तर युग में बालजीवनी लेखकों में अमृतलाल नागर, बालशौरि रेड्डी, मनोहर जुनेजा, हरिकृष्ण देवसरे, पदमलाल श्रीवास्तव, शकुंतला वर्मा, राष्ट्रबंधु, स्नेह अग्रवाल, विमला मेहता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी साहित्यकारों ने बालसाहित्य के

विकास को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया।

हिंदी की भाँति ही पंजाबी बालसाहित्य के विकास को उपयुक्त वातावरण स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही मिला। इस युग में 'गुरबख्शसिंह सौदा ने सन् 1948 में 'बालसंसार' नामक पत्र का आरंभ किया।'[38] जो कि छोटे बच्चों के लिए बहुत ही प्रिय और रोचक रहा, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही पंजाबी लेखकों ने बालकों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया और बच्चों के लिए अलग से बालसाहित्य लिखना आरंभ किया, जिससे पंजाबी बालसाहित्य भी तीव्र गति से विकास की ओर अग्रसर हुआ। सन् 1951 में भी 'बाल दरबार', स्कूल, जीवन प्रभात, भारत ज्योति आदि पंजाबी बालपत्रों का आरंभ हुआ, जो कि अधिक समय तक कायम न रह सका, तत्पश्चात् बालसाहित्य को समर्पित धनवंतसिंह शीतल ने अमृतसर से सन् 1961 में 'बीबा राणा' नामक बाल-पत्रिका प्रकाशित की।'[39] इसमें बच्चों के मनोरंजन के साथ-साथ उपयोगी, ज्ञानवर्द्धक सामग्री छपती थी और यह एक ऐसी पत्रिका थी, जो बहुत समय तक बच्चों में लोकप्रिय रही। पंजाबी बालसाहित्य के विकास में सरकारी कार्यालयों अर्थात् पंजाब स्कूल शिक्षा बोर्ड ने भी विभिन्न बालपत्रों के माध्यम से अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वातंत्र्योत्तर युग में पंजाबी बालसाहित्य की विकास-गति तीव्र होने का एक मुख्य कारण यह भी था कि इस युग में विभिन्न साहित्यकारों ने अपना सारा ध्यान पंजाबी बालसाहित्य को लिखने की ओर ही केंद्रित कर दिया था। पंजाबी बाल लेखकों में धनवंतसिंह शीतल, अजायबसिंह चित्रकार, गुरदयालसिंह, प्यारासिंह दाता, सुखदेवसिंह मादपुरी, अनंतसिंह काबली आदि के नाम सर्वोपरि हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग में ही पंजाबी बालसाहित्य की सभी विधाओं का विकास भी अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँच गया। पंजाबी बालकाव्य के अंतर्गत सर्वप्रथम धनवंतसिंह शीतल का नाम लिया जाता है, जिन्होंने बच्चों के लिए सरल भाषा में अनेक कविताएँ लिखीं। इनके अतिरिक्त पंजाबी बालकाव्य की विकास-यात्रा में नानकसिंह, मोहनसिंह, अमृता प्रीतम, दर्शनसिंह, दर्शन सिंह आशट, विधातासिंह तीर, मनमोहनसिंह दाऊ, करनैलसिंह सोमल, मानसिंह हकीर आदि का नाम आता है।[40]

पंजाबी बालकाव्य के बाद पंजाबी बालकहानी भी अपने विकास की ओर बढ़ने लगी। पंजाबी बालसाहित्य में बालकहानी ही एक ऐसी विधा है, जिस पर विभिन्न पंजाबी बाल-साहित्यकारों ने अपनी कलम से बच्चों के लिए अनेक कहानियाँ लिखकर इसे विकास की ओर अग्रसर किया। इसलिए पंजाबी बाल-कहानी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। बाल-कहानी के क्षेत्र में सर्वप्रथम संतसिंह सेखों कृत 'पेमी दे निआने' कहानी का नाम लिया जाता है, जिसने बालकहानी के क्षेत्र में मील के पत्थर का काम किया। इसके बाद तो एक के बाद एक बालकहानियाँ चर्चित रहीं। सुप्रसिद्ध पंजाबी साहित्यकार ओमप्रकाश कृत 'सुनो सुनाओ', राजद्याल कृत 'कर भला सो हो भला', बलवंतसिंह कृत 'शकुंतला',[41] आदि कहानियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पंजाबी बाल-कहानी के क्षेत्र में अमरसिंह, दर्शनसिंह आशट, गुरदयालसिंह, गुरबख्शसिंह, अजायब चित्रकार, सुखदेव मादपुरी आदि के नाम आते हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद पंजाबी बालसाहित्य के क्षेत्र में बच्चों के लिए बाल-उपन्यास भी लिखे जाने लगे। 'आरंभिक पंजाबी बाल-उपन्यास को मौलिकता प्रदान करने में धनवंतसिंह शीतल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने सन् 1948 में 'अली बाबा चाली चोर', और 'लाल

बादशाह' नामक बाल-उपन्यास सचित्र प्रस्तुत किया।'[42] इसके अतिरिक्त राजिंदरसिंह आतिश कृत 'पप्पू ते परी', गुरदयालसिंह कृत 'टुक खोइ लए कावाँ', जसवंतसिंह कँवल कृत 'जंगल दे शेर' आदि बाल-उपन्यास भी सचित्र मिलते हैं। पंजाबी बाल-उपन्यास की लेखन-परंपरा में गुरबख्शसिंह प्रीतलड़ी, हरनेकसिंह कोमल, सुखबीरसिंह, जसबीरसिंह भुल्लर, जगरूपसिंह, सुखबीरसिंह शीतल, कुलबीरसिंह सूरी, दर्शनसिंह आशट, गुरचरणसिंह चाहल आदि पंजाबी बाल- साहित्यकारों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन साहित्यकारों के निरंतर लेखन से पंजाबी बाल-उपन्यास का सृजन भी विकास के चरमोत्कर्ष तक पहुँच गया।

हिंदी की भाँति ही पंजाबी बालकाव्य, कहानी, उपन्यास के बाद बाल-नाटक, एकांकी आदि का भी स्वतंत्र रूप से विकास स्वातंत्र्योत्तर युग में हुआ। बच्चों के लिए सबसे अधिक नाटक सुरजीतसिंह सेठी ने लिखे। इसके अतिरिक्त सोहनसिंह शीतल कृत 'गुरु लाधो रे', गुरदयालसिंह कृत 'तारिआ वे तेरी लौ' तथा परितोष गार्गी कृत 'अैटम जिन्न' आदि बच्चों के प्रिय नाटक हैं।'[43] पंजाबी बालनाटकों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी रही कि बाल-मनोरंजन के साथ-साथ इसमें बच्चों की रोज़ के जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। पंजाबी बाल-नाटक के क्षेत्र में सुरजीतसिंह सेठी, ईश्वरचंद्र नंदा, गुरबख्शसिंह प्रीतलड़ी, चरनसिंह, जीवनसिंह सेवक, दर्शनसिंह आशट, धनीराम चात्रिक, हरचरणसिंह, बलवंत गार्गी, रोशनलाल अहूजा, दर्शनसिंह मितवा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

'पंजाबी बाल-एकांकी का आरंभ गुरदयालसिंह फुल्ल द्वारा रचित 'सयाना बालक', 'मंत्रा', 'पदमनी', 'अनेर गरदी', 'सच दी जय' एकांकी से हुआ।'[44] इसके बाद तो बाल-एकांकी लिखने की एक परंपरा-सी चल पड़ी। बहुत से बाल-साहित्यकारों ने एकांकी की महत्ता को समझते हुए बाल-एकांकी के विकास-क्रम में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। पंजाबी बाल-एकांकी के क्षेत्र में गुरदयालसिंह फुल्ल, करतारसिंह, गुरबख्शसिंह प्रीतलड़ी आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में पंजाबी बालसाहित्य के विकास-क्रम में काव्य, कहानी, उपन्यास, एकांकी के अतिरिक्त निबंध/ लेख, जीवनी आदि विधाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, जिन्होंने पंजाबी बालसाहित्य के विकास को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया।

समग्र रूप में कहा जाए तो हिंदी और पंजाबी बालसाहित्य का भविष्य उज्ज्वल है। वर्तमान समय में हिंदी-पंजाबी बालसाहित्य एक स्वतंत्र साहित्य के रूप में अपने विकास के चरमोत्कर्ष तक पहुँच गया है। आज बालसाहित्य का सृजन कर बच्चों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि आज बच्चों के लिए प्रचुर मात्रा में बालसाहित्य उपलब्ध है। बच्चों के लिए लिखा जानेवाला बालसाहित्य बाल-मनोविज्ञान, बालस्वभाव, बालरुचि, बालप्रवृत्तियों बाल-आयु आदि को तो केंद्र में रख लिखा जाता ही है, साथ ही बच्चों की वर्तमान समय की माँग को भी केंद्र में रखकर लिखा जाता है। आधुनिकयुग विज्ञान और तकनीक का युग है। इसलिए आधुनिकयुग का बालसाहित्य बच्चों को कल्पना से यथार्थ तक पहुँचाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है और मनोरंजन के साथ-साथ बाल-मनोविज्ञान के विभिन्न चित्रों को प्रस्तुत करने का भी प्रयोगधर्मी प्रयास करता है। जहाँ एक तरफ बाल-मनोविज्ञान द्वारा बालमन का अध्ययन किया जाता है, वहीं दूसरी ओर बालसाहित्य बालमन की विभिन्न जिज्ञासाओं आदि

को शांत करने में भी सहायक है। वर्तमान समय में बच्चों के लिए ऐसी ज्ञानवर्द्धक और बालोपयोगी सामग्री प्रस्तुत की जा रही है, जो बच्चों के मनोरंजन के साथ-साथ उनके ज्ञान में भी वृद्धि करती है। आज सिनेमा और मीडिया का युग है, जिस कारण बच्चे भी बहुत अधिक आधुनिक हो गए हैं। वह जिस आधुनिक वातावरण में रहते, खेलते हैं, उसी के अनुसार उनकी सोच-समझ, कल्पनाशक्ति भी आधुनिक हो गई है। उन्हें विज्ञान, कंप्यूटर आदि की कहानियों में ही अधिक रुचि रहती है। वह प्राचीन समय की परी-कथाओं से बहुत आगे आ चुके हैं। आज यदि हम बच्चों को कोई कहानी सुनाएँ कि दूर जंगल में बहुत अँधेरा था तो वह उसी समय पूछते हैं कि मोबाइल की लाइट क्यों नहीं जलाई थी। यह आधुनिकता का ही परिणाम है कि आज के बच्चों की बुद्धि इतनी तीव्र है और यह विज्ञान और टी॰वी॰ के माध्यम से ही संभव हो पाया है। आज एनिमेटेड फिल्मों का भी बहुत अधिक प्रचलन है। टी॰वी॰ पर कई ऐसे चैनल हैं (पोगो, डिजनी, हंगामा, एनीमैक्स, निक, कार्टून, नेटवर्क आदि) जो केवल कार्टून प्रोगाम चलाते हैं। बच्चों को छोटा भीम, डोरेमान, टॉम एंड जैरी, बाल-हनुमान, बाल-गणेश, अलादीन, जैकी चैन, निंजा हतोड़ी आदि पात्र लोकप्रिय हैं। हिंदीभाषा के माध्यम से उन पात्रों को अधिक लोकप्रिय बनाया गया है। ऐसे पात्रों तथा अन्य बालोपयोगी बातों को लेकर बालसाहित्य में बड़ी संस्था में पत्रिकाएँ और पुस्तकें आज भी छपती हैं, जिनसे बच्चों की बालरुचि, जिज्ञासा, बुद्धि आदि का विकास होता है और वर्तमान समय में बालसाहित्य का सृजन बाल-मनोविज्ञान और आधुनिकता आधार के पर ही किया जा रहा है। उपर्युक्त वर्णन इसी का प्रमाण है।

संदर्भ

1. हरिकृष्ण देवसरे, हिंदी बालसाहित्य एक अध्ययन (आत्माराम एंड संज़, दिल्ली, 1969), पृ॰ 1
2. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ साइकोलोजी (संपा) जे॰ कियमिंग, (बाट: पिटमैन प्रैस, 1972), पृ॰ 162
3. अनुराग वाजपायी, बाल विकास (अर्चना पब्लिशर्ज एंड डिस्ट्रीब्यूटस, दिल्ली, 2012), पृ॰ 66
4. प्रकाश मनु, मेरी इकयावन बाल-कविताएँ (सावित्री प्रकाशन, दिल्ली, 2007), पृ॰ 8
5. शिशु भारती, सोहनलाल द्विवेदी (इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1949), पृ॰ 34
6. निरंकारदेव सेवक, माखन मिशरी (इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1980), पृ॰ 45
7. प्रकाश मनु, मेरी इकयावन बाल-कविताएँ (सावित्री प्रकाशन, दिल्ली, 2007), पृ॰ 8
8. दर्शनसिंह आशट, घुग्गी मुड़ आई (लाहौर बुक्स, लुधियाना, 2012), पृ॰ 56-57
9. ठाकुर गोपालशरण सिंह, 'वायुयान' (कृष्ण शलभ, संपा॰), 'बचपन एक समुंदर,' (नीरजा स्मृति बालसाहित्य न्यास, सहारनपुर, 2009), पृ॰ 124
10. प्रकाश मनु, चुनमुन की अजब अनोखी कहानियाँ (एवरेस्ट पब्लिशिंग कंपनी, दिल्ली, 2014), पृ॰ 96
11. गुरुबख्शसिंह प्रीतलड़ी, मुरादां पूरीआं करन वाला खूह (प्रीतनगर शॉप, अमृतसर, 1988), पृ॰ 31
12. निरंकारदेव सेवक, माखन मिशरी (इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1980), पृ॰ 32-33
13. प्रकाश मनु, मेरी इक्यावन बाल कविताएँ (सावित्री प्रकाशन, दिल्ली, 2007), पृ॰ 8
14. दर्शनसिंह आशट, उड़ गई तितली (लाहौर बुक्स, लुधियाना, 2012), पृ॰ 3
15. उद्धृत, निरंकारदेव सेवक, बालगीत साहित्य इतिहास और समीक्षा, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1983, पृ॰ 250
16. वही, पृ॰ 183

17. सोहनलाल द्विवेदी, दूध बतासा (इंडियन प्रेस प्र॰लि॰, इलाहाबाद, 1957), पृ॰ 64
18. गुरदयाल सिंह, आओ नाटक खेडीऐ (लोकगीत प्रकाशन, चंडीगढ़, 2006), पृ॰ 8
19. सोहनलाल द्विवेदी, दूध बतासा (इंडियन प्रेस प्र॰लि॰, इलाहाबाद, 1957), पृ॰ 29
20. दर्शनसिंह आशट, उड़ गई तितली, पृ॰ 39
21. आधुनिक बाल-मनोविज्ञान, डी॰आई॰लाल (राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1969), पृ॰ 43
22. भारतीय साहित्य कोश, (संपा॰) सुरेश गौतम, वीणा गौतम (संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007), पृ॰ 309
23. वही, पृ॰ 344
24. हिंदी की श्रेष्ठ बाल-कहानियाँ, संपा॰ बालशौरि रेड्डी (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2007), पृ॰8
25. हरिकृष्ण देवसरे, हिंदी बालसाहित्य एक अध्ययन, पृ॰ 369
26. वही, पृ॰ 130-135
27. श्रीप्रसाद, बालसाहित्य की अवधारणा (उत्तर प्रदेश, हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1998), पृ॰ 76
28. दर्शनसिंह आशट, पंजाबी बालसाहित्य दा आलोचनात्मक मुहांदरा (पंजाबी लेखक सहकारी संघ, पटियाला, 1993), पृ॰ 18
29. मनमोहन सिंह दाऊ, पंजाबी बाल साहित विच्च इतिहास दी प्रस्तुती: बालसाहित्य विभिन्न परिपेख, शीतलकुमार, रवेलसिंह, (संपा॰) (पंजाबी अकादमी, दिल्ली, 2000), पृ॰ 55
30. वही, पृ॰ 55
31. श्रीप्रसाद, बालसाहित्य की अवधारणा (उत्तर प्रदेश, हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1998), पृ॰ 103
32. भारतीय साहित्य कोश, (संपा॰) सुरेश गौतम, वीणा गौतम, पृ॰ 332
33. सुरेंद्र विक्रम, हिंदी बाल-पत्रकारिता : उद्‌भव और विकास (साहित्यवाणी, इलाहाबाद), 1994, पृ॰ 19
34 हरिकृष्ण देवसरे, हिंदी बालसाहित्य एक अध्ययन, पृ॰ 269
35 सुरेंद्र विक्रम, हिंदी बाल पत्रकारिता : उद्‌भव और विकास, पृ॰ 34
36 हरिकृष्ण देवसरे, हिंदी बालसाहित्य एक अध्ययन, पृ॰ 285
37 सुरेंद्र विक्रम, हिंदी बाल पत्रकारिता : उदभव और विकास, पृ॰ 41
38. रमा रतन, पंजाबी बालसाहित्य दी पहचान, (लोकसाहित्य प्रकाशन, अमृतसर, 2001), पृ॰ 20
39. मनमोहन सिंह दाऊ, पंजाबी बाल साहित विच्च इतिहास दी प्रस्तुती: बालसाहित्य विभिन्न परिपेख, शीतलकुमार, रवेलसिंह, (संपा॰) (पंजाबी अकादमी, दिल्ली, 2000), पृ॰ 56
40. सतीशकुमार, रवेलसिंह, पंजाबी बालसाहित्य विभिन्न परिपेख, 2000, पृ॰ 57
41. नछत्तर सिंह, साहित्य निबंध माला (नौजवान पंजाबी लेखक सभा, चंडीगढ़, 1976), पृ॰ 107
42. दर्शनसिंह आशट, पंजाबी बालसाहित्य दा आलोचनात्मक मुहांदरा (पंजाबी लेखक सहकारी संघ, पटियाला, 1993), पृ॰ 40
43. नछत्तरसिंह, साहित्य निबंध माला, (नौजवान पंजाबी लेखक सभा, चंडीगढ़, 1976), पृ॰ 111
44. दर्शनसिंह आशट, पंजाबी बालसाहित्य दा आलोचनात्मक मुहांदरा, पृ॰ 48

हिंदी बालसाहित्य : इतिहास के आइने में

डॉ॰ सुरेंद्र विक्रम
एसो॰ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग
लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज, लखनऊ

हिंदी साहित्य के इतिहास में बालसाहित्य की भूमिका को लेकर सवाल उठते रहे हैं। इन सवालों में सच्चाई कितनी है, यह अलग बात है, परंतु इतना अवश्य हुआ कि इन सवालों ने बालसाहित्य को कभी भी मुख्य धारा में नहीं आने दिया। इसके लिए वे परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी हैं, जिनमें बालसाहित्य का बीजारोपण हुआ। बालसाहित्य के प्रति इस सौतेले व्यवहार ने बड़ों और बच्चों के लिए समान रूप से लिखने वाले साहित्यकारों के बालसाहित्य का नोटिस ही नहीं लिया। द्विवेदीयुग की आधारशिला 'सरस्वती' के समकालीन 'बालसखा' पत्रिका का अवदान कैसे भुलाया जा सकता है? बालसखा लगातार 53 वर्षों तक प्रकाशित होती रही। इस दस्तावेजी पत्रिका ने इतिहास बनाया, परंतु समीक्षकों/आलोचकों की चुप्पी ने इस पर पर्दा डाल दिया।

साहित्य के दिग्गज समीक्षकों की इस गंभीरता का परिणाम था कि हिंदी के इतिहास- ग्रंथों में बालसाहित्य की चर्चा ही नहीं हुई। चाहे आचार्य रामचंद्र शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास रहा हो या डॉ॰ नगेंद्र का भारी-भरकम इतिहास ग्रंथ, इनमें कहीं भी बालसाहित्य का नामोनिशान नहीं है। बाद के हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने भी इसी परंपरा का अनुकरण किया। धीरे-धीरे समय बदला। आज परिस्थितियाँ भिन्न हैं। जहाँ समाज में बच्चों के पृथक् अस्तित्व पर चर्चा हो रही है, वहीं उनके साहित्य अर्थात् बालसाहित्य का महत्त्व भी समझा जाने लगा है।

फ्रांस के सुप्रसिद्ध विद्वान रूसो का कहना है कि बालक का मन शिक्षक की पाठ्यपुस्तक है, जिसे उसको पहले पृष्ठ से लेकर अंत तक भलीभाँति अध्ययन करना चाहिए। दूसरी ओर आयुवर्ग एवं शिक्षा-मनोविज्ञान पर विचार करते हुए मनोवैज्ञानिकों ने इस बात पर बल दिया है कि अवस्था के अनुसार बच्चे का अपना पृथक् अस्तित्व होता है। वे स्वतंत्र होते हैं, उनके मनोविज्ञान को समझना आसान नहीं है। तभी तो खलील जिब्रान ने कहा है कि तुम उन्हें अपना प्यार दे सकते हो, लेकिन विचार नहीं क्योंकि उनके पास अपने विचार होते हैं। तुम उनका शरीर बंद कर सकते हो, लेकिन आत्मा नहीं क्योंकि उनकी आत्मा आनेवाले कल में निवास करती है। उसे तुम नहीं देख सकते हो। सपनों में भी नहीं देख सकते हो। तुम उनकी तरह बनने का प्रयत्न कर सकते हो, लेकिन उन्हें अपनी तरह बनाने की इच्छा मत रखना, क्योंकि जीवन पीछे की ओर नहीं जाता और न बीते हुए कल के साथ रुकता ही है।

बच्चों के लिए लेखन आसान नहीं है। उनके मनोविज्ञान को समझे बिना बालसाहित्य लिखा ही नहीं जा सकता है। तथ्य तो यह है कि बालसाहित्य का लक्ष्य बच्चों के मानसिक स्तर

पर उतरकर उन्हें रोचक ढंग से नई जानकारियाँ देना है। यदि बच्चे में कल्याण-भावना और सौंदर्यपरक दृष्टि जाग्रत करनी हो तो उनकी समस्त आकांक्षाओं और जिज्ञासाओं का स्कूली शिक्षा के साथ ही विकास आवश्यक है। बच्चों के चंचल मन और जिज्ञासाओं को प्रेरित करने का मुख्य साधन बालसाहित्य ही है। आरंभ में बड़ों के लिए जो साहित्य लिखा जाता था, बच्चे उनमें से अपने मतलब की सामग्री छाँट लिया करते थे। पंचतंत्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर, सिंहासनबत्तीसी, बेतालपचीसी आदि ग्रंथों की अनेक रचनाएँ बच्चों में लोकप्रिय हैं। एलिस इन वंडरलैड (आश्चर्यलोक में ऐलिस) लूइस कैर (1832-1898) का विश्वप्रसिद्ध बाल उपन्यास है।

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी ने बच्चों के लिए शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की, साथ ही उनके लिए पाठ्यपुस्तकों का निर्माण कराया। सन् 1858 में ईस्ट इंडिया कंपनी की समाप्ति के बाद अँग्रेज सरकार द्वारा पाठ्यपुस्तक समितियों का गठन किया गया। फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रो॰ गिलक्राइस्ट के प्रयास से हिंदी के चार आरंभिक गद्य लेखकों—सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र को पाठ्यपुस्तक-लेखन की जिम्मेदारी सौंपी गई। इसी समय राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' ने पहली बार बच्चों के लिए पुस्तकें लिखने का बीड़ा उठाया। उन्होंने दो दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर पुस्तकें लिखीं। उनका पहला दृष्टिकोण था—पाठ्यशालाओं में पढ़ाने योग्य पुस्तकें, दूसरा—बालकों के मनोरंजनार्थ पुस्तकें।

पहले दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर उन्होंने भारतवर्षीय इतिहास, भूगोल हस्तामलक, हिंदी व्याकरण तथा हिंदी की उत्पत्ति जैसी पुस्तकों का लेखन किया। बालकों के मनोरंजन के लिए लिखी गई पुस्तकों में—आलसियों का घोड़ा, राजा भोज का सपना, बच्चों का ईनाम आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

पाठ्यपुस्तक समितियों की संस्तुति पर बच्चों की जो पाठ्यपुस्तकें बनाई गई, उनमें पहली बार बालसाहित्य को प्रमुखता से स्थान दिया गया। डॉ॰ श्रीप्रसाद के अनुसार, 'इस बालसाहित्य में भारत की पौराणिक कथाएँ भी थीं, पौराणिक कथाओं के काव्य-रूपांतर भी। नाटक की और यूरोपीय बाल लोककथाएँ भी इतिहास और भूगोल की भी बातें थीं।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से ही स्वतंत्र बालसाहित्य का विकास हुआ। डॉ॰ हरिकृष्ण देवसरे का मानना है—'बालसाहित्य के प्रति स्वतंत्र दृष्टिकोण शताब्दी के आरंभिक समय से ही रहा है। यह अलग बात है कि जैसे-जैसे समय बीता, बालसाहित्य रचना के प्रति सोच में परिवर्तन आता गया।'

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्राथमिक विद्यालयों के लिए छह पुस्तकों का संपादन किया—

1. लोअर प्राइमरी रीडर
2. अपर प्राइमरी रीडर
3. बालबोध
4. वर्णबोध
5. बाल भूगोल
6. जिला कानपुर का भूगोल।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त पं॰ विनायक राव, सुखराम चौबे, कामताप्रसाद गुरु, लज्जाशंकर झा तथा श्यामसुंदर दास ने भी पाठ्यपुस्तकें लिखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस काल की कुछ और बालोपयोगी पाठ्यपुस्तकें हैं–भाषा संग्रह सार (1902), हिंदी की पहली पुस्तक (1905), हिंदी प्राइमर (1905), हिंदी ग्रामर (1906), बालक विनोद (1908) तथा हिंदी निबंधमाला भाग-1 (1922) आदि।

खड्गविलास प्रेस पटना से बच्चों के लिए पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इसके संपादक स्वामी रामदीनसिंह थे, जिन्होंने गणित बत्तीसी, हिंदी साहित्य, साहित्यभूषण तथा बालबोध पुस्तकों की रचना की। इसी प्रेस से छात्रों के मनोरंजन के लिए विद्याविनोद तथा अध्यापकों के लिए शिक्षा नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी होता था।

मुंशी राधालाल माथुर ने चार भागों में भाषाबोधिनी की रचना की, जो अनेक विद्यालयों में पढ़ाई जाती थी। बाबू साहबप्रसाद सिंह की भाषासार तथा अंबिकादत्त व्यास की 'साहित्य नवनीत' ऐसी पाठ्यपुस्तकें थीं, जिन्होंने बच्चों के बीच भी काफी लोकप्रियता हासिल की।

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर बालसाहित्य का मूल स्रोत लोकसाहित्य है। चार्ल्स फ्रेंसिस पॉटर ने तो समस्त लोकसाहित्य को ही बच्चों से जोड़ दिया था। उनका कहना है–'लोकसाहित्य तो बच्चों का आनंद है, क्योंकि वह किसी भी जाति के बचपन का काव्यात्मक पांडित्य होता है। यह उन बूढ़ों के आनंद की भी अभिव्यक्ति होता है, जो अपने यौवन का नवीनीकरण, जीवनचक्र में आंतरिक सरलताओं के पुनः संस्कार द्वारा करने में सक्षम होते हैं।

बालसाहित्य के प्रथम शोधकर्ता डॉ॰ हरिकृष्ण देवसरे का कहना है–

'कहानियों में कौतूहलपूर्ण दृश्यों का संयोजन, बच्चों के प्रिय पशु-पक्षियों का पात्रीकरण, छोटे-छोटे गीतों में शब्दों की पुनरावृत्ति तथा क्रम-संवर्द्धन आदि ऐसे गुण हैं जो बाल-मनोविज्ञान के अनुकूल हैं। खेल के गीतों में बच्चों की निरर्थक भावाभिव्यक्ति, लोरियों में लयात्मकता तथा बालक के विकास की कामना आदि ऐसे तत्त्व हैं, जो उन्हें मनोवैज्ञानिक तथा बालोपयोगी बनाते हैं। अतः ऐसे समस्त लोकसाहित्य को यदि हम बाल लोकसाहित्य कहें तो अनुपयुक्त न होगा।'

वास्तव में लोकसाहित्य से ही बालसाहित्य का जन्म हुआ है। लोकसाहित्य के अंतर्गत ऐसे बहुत से गीत हैं, जिनका बड़ों के लिए कोई महत्त्व नहीं है, परंतु बच्चे उनसे अपना भरपूर मनोरंजन करते हैं। निम्नलिखित लोकगीतों में ध्वन्यात्मकता का ऐसा पुट है कि बच्चे-बड़े सभी अभिभूत हैं–

अक्कड़-बक्कड़ बंबे-भो
अस्सी-नब्बे पूरे सौ
सौ में लागा धागा
चोर निकलकर भागा!

अटकन-बटकन दही चटोकन
फूल-फूल फुलवारी में
बाबाजी की क्यारी में
बाबा गए दिल्ली
लाए सात कटोरी
एक कटोरी फूटी
नेवले की टाँग टूटी

लोकसाहित्य से प्रभावित ऐसी बहुत-सी लोरियाँ हैं, जिनसे बच्चों का भरपुर मनोरंजन होता है। कमला चौधरी, शकुंतला सिरोठिया, शांति अग्रवाल, कामिनी दीदी, लक्ष्मीदेवी चंद्रिका आदि ने बहुत सुंदर-सुंदर लोरियाँ लिखीं हैं। शकुंतला सिरोठिया की एक प्रसिद्ध लोरी है–

चाँदी की चादर उढ़ाऊँ तुझे मोहना
सो जा मेरे लालना
सूरज भी सो गया, पंछी भी सो गए
डालों की गोदी में, फूल सभी खो गए
तू भी चुप सो जा, झुलाऊँ तुझे पालना
सो जा मेरे लालना।

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक रचनाकारों में श्रीधर पाठक को हिंदी का पहला बालकवि माना गया है। हालाँकि इसके पूर्व बालमुकुंद गुप्त की एक बाल कविता 'गिलहरी का ब्याह' का उल्लेख मिलता है, जिसकी पंक्तियाँ और पुस्तक का शीर्षक 'खिलौना' दोनों बालरुचि से मेल खाता है–

ढम-ढमा-ढम ब्याह गिलहरी का है सुनिए आज
आसन पोथी लेकर चलिए, पंडित जी महाराज।

(भारतमित्र : 29 जनवरी 1900)

बालसाहित्य के सुधी समीक्षक निरंकारदेव सेवक के शब्दों में–'प्राप्त जानकारी के अनुसार उन्होंने (श्रीधर पाठक ने) ही सबसे पहले स्वतंत्र रूप से मनोरंजक बालगीत लिखे, इसलिए उन्हें ही हिंदी का पहला बालगीतकार कवि माना जा सकता है।.....पं॰ श्रीधर पाठक और बालमुकुंद गुप्त ने सबसे पहले लगभग एक ही समय में बच्चों के लिए भी कविताएँ लिखना प्रारंभ किया था।' (बालगीत साहित्य : पृ॰ 130)

दूसरी ओर सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भी रैवरैंड एल॰वी॰ जोन्स को हिंदी पढ़ाने के सिलसिले में एक मजेदार कविता लिखी थी, जिसकी रचना सन् 1919 के पहले की गई थी (सत्यनारायण 'कविरत्न' की जीवनी : पृ॰ 40)। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

सुन-सुन रे हलवाई, भूख लगी है मुझको भाई
पूरी बेलो जल्दी-जल्दी, पीसो अभी मसाला हल्दी।
होती ज्योंहि गरम कढ़ाई, उसमें दो पूरी छुड़वाई
घी देखो छुन-छुन करता है, आँच लगी उबला पड़ता है।

सन् 1904 में बालमुकुंद गुप्त का एक और रोचक बालगीत खूब पसंद किया गया–

हिस-हिस, हिस-हिस, हिस-हिस करती रेल धड़ाधड़ जाती है
जिन जंजीरों से जकड़ी है, उन्हें खूब खुड़काती है।
दोनों ओर दूर से दुनिया देख रही है बाँध कतार
धूएँ के बल से जाती है, धूआँ उड़ाती धूँआधार।

बालसाहित्य के इस आरंभिक दौर में पहला बाल गीतकार कौन है, यह प्रश्न विचारणीय है? डॉ॰ कन्हैयासिंह का तथ्य इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है–'हरिऔध जी एक ऐसे महाकवि हैं, जिन्होंने पर्याप्त बालसाहित्य का सृजन किया है। हिंदी बालसाहित्य के प्रारंभिक दौर में हरिऔध का नाम शीर्ष पर है।

हरिऔध एक युगद्रष्टा महाकवि थे। आजकल तो बालसाहित्य की पत्रिकाएँ और प्रभूत साहित्य है, पर हरिऔध ने सत्तर वर्ष पूर्व ही इस दिशा में तीन संग्रह प्रकाशित किए–फूल पत्ते (1934), अच्छे-अच्छे गीत (1934) तथा बाल कवितावली (1935)। इन संग्रहों की ये रचनाएँ और ये सोच कि 'शिशु' और 'बाल' ही भव्य भारत की नींव हैं, ऐतिहासिक महत्त्व की थीं।'

(अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' मुक्तक रचनाएँ : पृष्ठ 82,85)

हिंदी का पहला बाल गीतकार होने का दावा अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने सन 1934 में स्वयं किया था। 'वानर' पत्रिका के संपादक आनंदकुमार ने एक बार हरिऔध जी से पूछा कि आपने बच्चों के लिए कबसे लिखना शुरू किया?

उस समय हरिऔध जी ने कहा था–'बहुत दिनों से लिख रहा हूँ। हिंदी में शायद बच्चों के लिए कविताएँ लिखने वाला सबसे प्रथम कवि मैं ही हूँ। पीछे और लोग भी लिखने लगे।'

(वानर (मासिक) फरवरी 1934 : पृष्ठ 310)

हरिऔध जी का यह वक्तव्य इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने पूरी गंभीरता के साथ जहाँ बड़ों के लिए उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया, वहीं बच्चों के लिए–बालविभव, फूल-पत्ते, पद्म-प्रसून, चंद्रखिलौना, खेल-तमाशा तथा बालविलास नामक पुस्तकें भी लिखीं। बालविलास पुस्तक की उत्कृष्टता और उपयोगिता पर तत्कालीन श्रेष्ठ पत्रिका 'माधुरी' में प्रकाशित टिप्पणी उल्लेखनीय है–

'उनकी (हरिऔध जी की) इसमें 21 बालोपयोगी विषयों पर कविताएँ हैं। गिलहरी, बंदर, कोयल, जुगनू, बूँद आदि विषयों पर कविता पढ़ने को किस बच्चे का मन न चाहेगा!'

'बूँद' कविता लंबे समय तक उ॰प्र॰ शिक्षा विभाग द्वारा संचालित पाठ्यक्रम में पढ़ाई जाती रही है। इसी संकलन की एक मजेदार कविता है–

देखो लड़को बंदर आया, एक मदारी उसको लाया।
उसका है कुछ ढंग निराला, कानों में पहले है बाला।
फटे-पुराने, रंग-बिरंगे, कपड़े हैं उसके बेढंगे।
मुँह डरावना आँखें छोटी, लंबी दुम थोड़ी सी मोटी
भौंह कभी है वह मटकाता, आँखों को है कभी नचाता।
ऐसा कभी किलकिलाता है, मानो अभी काट खाता है।
दाँतों को है कभी दिखाता, कूद-फाँद है कभी मचाता।
कभी घुड़कता है मुँह बाकर, सब लोगों को बहुत डराकर।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में प्रकाशित 'विद्यार्थी' (सन् 1914) 'शिशु' (सन् 1915) और 'बालसखा' (सन् 1917) ने बालसाहित्य के स्वतंत्र स्वरूप की स्थापना में विशेष भूमिका निभाई। उस समय शिशु में प्रकाशित कविताओं की प्रशंसा करते हुए रत्नाकर पांडेय ने लिखा था–'बाल-पत्रिका 'शिशु' में प्रार्थना, पुजारी, आदर्श चिड़िया, सवेरा, वर्षाऋतु, इंद्रधनुष, स्वसेवा आदि शीर्षकों के अंतर्गत प्राय: सभी प्रमुख कवियों की कविताएँ प्रकाशित हुईं। इसके संपादक सुदर्शनाचार्य में बच्चों की रुचि के अनुरूप सहज प्रेरणाप्रद कविताओं को पहचानने की मनोवैज्ञानिक क्षमता थी।

सन् 1915 में प्रकाशित बालसखा की संपादकीय नीति को स्पष्ट करते हुए इसके प्रथम संपादक बदरीनाथ भट्ट ने कहा था–'एक बार जड़ पकड़ लेने पर कुसंस्कारों से सहज ही छुटकारा

नहीं मिल सकता। अतएव इस बात का प्रयत्न करना कि कुसंस्कारों की जड़ ही न जमने पाए, बड़ा भारी परोपकार है, क्योंकि इससे जाति या देश का बहुत कुछ कल्याण होना निश्चित है।'

बालसखा के प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य यही था कि बच्चों में सद्गुणों का विकास हो तथा वे अपने देश और उसकी संस्कृति से जुड़ें। इसीलिए संपादक ने स्पष्ट घोषणा की थी–'बालसखा के निकाले जाने का उद्देश्य है–बालक-बालिकाओं में रुचि आना, उनमें उच्च भावनाओं का भरना और उनमें से दुगुर्णों को निकालकर बाहर करना, उनका जीवन सुखमय बनाना और उनमें हर तरह का सुधार करना। बालसखा को बालोपयोगी बनाने में हम अपनी ओर से कोई बात उठा न रखेंगे। बाल्यावस्था की ओर ध्यान रखकर भी इसके लिए भाषा और विषय रखे जाने की चेष्टा की जाएगी।

आगे चलकर 'बालसखा' के यशस्वी संपादक लल्लीप्रसाद पांडेय ने बालसाहित्यकारों को चुनौती देते हुए उनका आह्वान किया कि वे बालसाहित्य में नएपन को प्रमुखता दें–'मैं बालसखा के कवियों को बताना चाहता हूँ कि वे अपना स्वर बदलें। अब सूरज के उगने में फूलों के खिलने में, कोयल के कूकने में कोई नई बात नहीं रही। ये बातें तो सैकड़ों वर्षों से लिखी जा रही है। आज तो आवश्यकता वह सब-कुछ लिखने की है जो हमारे सामने नए रूप में आया है और जो भविष्य में नई उपलब्धियों की आशा दे रहा है।'

इसी समय जहूर बख़्श ने बालसाहित्य-लेखकों का ध्यान उनके मनोविज्ञान पर केंद्रित करते हुए बालसाहित्य को पाठ्यपुस्तकों से अलग करने पर बल दिया। सन् 1928 में 'सुधा' पत्रिका में प्रकाशित अपने चर्चित आलेख 'बालसाहित्य का निर्माण' में उन्होंने स्पष्ट लिखा–

'भूगोल में यह बतलाने से क्या लाभ कि गंगा नदी कहाँ से निकलती है, कहाँ गिरती है और उसके तट पर कौन-कौन नगर बसे हुए हैं। (बालसाहित्य का यह विषय नहीं है; बालसाहित्य में गंगा नदी पर लिखते समय) यह बतलाना चाहिए कि जिस स्थान से गंगा नदी निकली है, वह कैसा है, गंगा का इतना महत्त्व क्यों है, उसके पानी से लोगों को क्या लाभ है?'

इनके अतिरिक्त 'वानर' के तत्कालीन संपादक आनंदकुमार ने भी दकियानूसी विचारों का खुलकर विरोध किया था। ऐसे विचार बालसाहित्य के लिए घातक हैं तथा बच्चे इससे दिग्भ्रमित होते हैं। सितंबर 1933 के अंक में बच्चों के हित को ध्यान में रखते हुए आनंदकुमार ने लिखा था–'हमारे पास सत्तर फीसदी लेख और कविताएँ ऐसी आती हैं, जिनमें बस ईश्वर के आगे एक गुलाम की तरह हाथ जोड़कर प्रार्थना की जाती है। हम इसको पसंद नहीं करते। मैं ईश्वर का विरोध करने को नहीं कहता, पर यह जरूर कहना चाहता हूँ कि जो कुछ करना चाहिए, अपने भरोसे पर करना चाहिए, ईश्वर या किसी और के भरोसे पर नहीं। अब वह जमाना बीत गया, जब लोग मौज से घर में बैठकर तरह-तरह की झूठी कल्पनाएँ किया करते थे।'

अवैज्ञानिक और अप्रामाणिक साहित्य का विरोध करते हुए 'कुमार' के संपादक कुँवर सुरेशसिंह ने भी जनवरी 1940 के अपने संपादकीय में लिखा था–'हमारे युग में जहाँ एक ओर मानव-सभ्यता के लिए हितकर विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो रहा है, वहीं दूसरी ओर अनेक प्रतिक्रियात्मक और भ्रम में डालने वाले सिद्धांतों का भी प्रचार बढ़ रहा है। हमारा सदैव यह दृष्टिकोण रहा है कि हम अपने बालकों को इन विवादों के चक्कर में न डालकर उनके सामने केवल वैज्ञानिक सामग्री प्रस्तुत करें, जिससे उन्हें मानव-जीवन और संसार के प्रति अपने दृष्टिकोण को वैज्ञानिक बनाने में सहायता मिले।

आज से लगभग सात दशक पूर्व की गई आनंदकुमार और कुँवर सुरेशसिंह की टिप्पणियों से साफ झलकता है कि रूढ़िवादिता और अंधविश्वास तब भी बालसाहित्य के समक्ष चुनौती बने हुए थे। ये चुनौतियाँ कमोबेश आज भी बरकरार हैं। परंपरागत राजा-रानी की सामंतवादी कहानियों से आज भी छुटकारा नहीं मिला है। ऐसी कहानियों के बल पर साहित्यकार कहलाने वालों की कमी नहीं है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व बड़ों के साहित्य की भाँति बालसाहित्य की सृजनधारा भी लगातार दो बिंदुओं को लेकर आगे बढ़ी–

1. गुलाम भारत को आजादी दिलाने का संकल्प;

2. भारतीय संस्कृति, पौराणिक आख्यान तथा देशभक्ति का उद्घोष।

डॉ॰ हरिकृष्ण देवसरे के अनुसार–इसीलिए जो बालसहित्य लिखा गया, वह या तो पौराणिक, लोकपरक और पारंपरिक कथासाहित्य पर आधारित था या देश प्रेम, वीरों की महिमा, स्वतंत्रता का महत्त्व, भारतमाता आदि विषयों को लेकर लिखा गया था।

आज से सात-आठ दशक पूर्व जब बच्चों के लिए साहित्य लिखने में बड़े साहित्यकार अपना अपमान महसूस करते थे, उस समय बालसाहित्य को ही अपने लेखन का उद्देश्य बनाने वाले सोहनलाल द्विवेदी ने कहा था–'सभी तो बड़ों के लिए लिख रहे हैं, किसी को तो नन्हे-मुन्नों के लिए, बालकों के लिए, किशोरों के लिए, तरुणों के लिए लिखना चाहिए। इसी उद्देश्य को सामने रखकर मैंने बालसाहित्य में ही विशेष रूप से अपना ध्यान केंद्रित किया था।'

सोहनलाल द्विवेदी ने व्यवस्थित रूप से बालसाहित्य के लिए काम किया। उन्होंने जहाँ एक ओर बालसखा पत्रिका का संपादन करके बालसाहित्य को आगे बढ़ाया, वहीं दूसरी ओर स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व तक दूध बताशा (1930), मोदक, पाँच कहानियाँ, सात कहानियाँ तथा किसान (सभी 1940) एवं बिगुल (1944) नामक कृतियाँ रचकर बालसाहित्य को समृद्ध किया। बाद में उनकी बालसाहित्य की लगभग दो दर्जन से ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

सन् 1940 बालसाहित्य का स्वर्णयुग था। इसके आसपास हिंदी की लगभग 35 अच्छी और स्तरीय बाल-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं तथा 15 हस्तलिखित बाल-पत्रिकाएँ दूर-दराज के अंचलों से प्रकाशित होती थीं।

'कुमार' मासिक पत्रिका ने बालसाहित्य की प्रगतिशीलता को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। जनवरी 1940 के अंक में 'कुमार' के संपादकीय में कहा गया था कि–'कुमार का दृष्टिकोण प्रारंभ से ही प्रगतिशील रहा है। बीसवीं सदी सब तरह से संसार के लिए क्रांतिकारी और युगांतकारी प्रमाणित होने जा रही है। हमारे युग में जहाँ एक ओर मानव सभ्यता के लिए हितकर विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो रहा है वहीं दूसरी ओर अनेक प्रतिक्रियात्मक भ्रम में डालने वाले सिद्धांतों का भी प्रचार बढ़ रहा है। हमारा सदैव से यह दृष्टिकोण रहा है कि हम अपने बालकों को इन वाद-विवाद के चक्कर में न डालकर उनके सामने केवल वैज्ञानिक सामग्री प्रस्तुत करें, जिससे उन्हें मानवीय जीवन और संसार के प्रति अपने दृष्टिकोण को वैज्ञानिक बनाने में सहायता मिले।'

हिंदी बालसाहित्य के इतिहास में यह भी एक अविस्मरणीय घटना है कि सन् 1943 के आसपास सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने बच्चों के लिए पांडुलिपि तैयार की थी–सीख भरी कहानियाँ। उसे प्रकाशक को सौंपते हुए उन्होंने कहा था–'मैं कितना बड़ा साहित्यकार क्यों न माना जाऊँ पर

मेरी लेखनी तभी सार्थक होगी जब इस देश के बाल-गोपाल मेरी कोई कृति पढ़कर आनंद विभोर होंगे। इन कथाओं को सुनाने का केवल ढंग मेरा है, बाकी सब-कुछ हमारे पूर्वजों का है। नन्हे-मुन्ने इन कहानियों में जितना अधिक रस पाएँगे, उतनी ही मेरी कहानीगोई की सफलता होगी।'

आज जो तथाकथित साहित्यकार बालसाहित्य लेखन से कतराते हैं तथा बच्चों के साहित्य के नाम पर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं उसे दोयम दर्जे का साहित्य मानते हैं, उन्हें निराला के उपर्युक्त कथन से सीख लेनी चाहिए।

निराला द्वारा रचित सीख भरी कहानियाँ संग्रह की दो घड़े शीर्षक रचना द्रष्टव्य है–

एक घड़ा मिट्टी का बना था, दूसरा पीतल का। दोनों नदी के किनारे रखे थे। इसी समय नदी में बाढ़ आ गई। बाढ़ में घड़े बह चले। बहते समय मिट्टी के घड़े ने पीतल वाले से काफी फासले पर रखना चाहा।

पीतल वाले घड़े ने कहा– तुम डरो नहीं दोस्त! मैं तुम्हें धक्के नहीं लगाऊँगा।'

मिट्टी वाले घड़े न जवाब दिया–'तुम जान-बूझकर मुझे धक्के नहीं लगाओगे, सही है, मगर बहाव की वजह से हम दोनों जरूर टकराएँगे। अगर ऐसा हुआ तो तुम्हारे बचाने पर भी मैं तुम्हारे धक्के से न बच पाऊँगा और मेरे टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे। इसलिए अच्छा है कि हम दोनों अलग-अलग रहें।

बालसाहित्य को आगे बढ़ाने में मौलिक लेखन के साथ-साथ बालसाहित्य समीक्षा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। बालसाहित्य समीक्षा की शुरुआत में ही बालसखा पत्रिका ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सन् 1945 के अक्टूबर में बालसखा में एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी।

हिंदी बालसाहित्य का आलोचनात्मक और तुलनात्मक सिंहावलोकन तथा उसकी भावी समृद्धि के सुझाव पर उत्तम निबंध लिखने वालों को कानपुर के मनोहरलाल 100 रुपए का पुरस्कार देंगे। निबंध लगभग 4000 शब्दों का हो। उसमें हिंदी बालसाहित्य की तुलना अँग्रेजी बालसाहित्य से की जाए। बालकों की तीन मुख्य अवस्थाओं (शैशव, बाल्य और किशोर) के अनुकूल साहित्य पर पूर्ण और विशुद्ध विवेचन हो। निबंध हिंदी में हो तो उसका अँग्रेजी भाषांतर भी साथ में रहे, जिससे अन्य भाषाओं के बालसाहित्य पर आमंत्रित निबंधों का तुलनात्मक अध्ययन हो सके। निबंध 15 अक्टूबर सन् 1945 तक श्री कृष्णविनायक फड़के, मंत्री, शैशव तथा गृह शिक्षा विभाग, अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन, श्रद्धानंद पार्क, कानपुर के पते पर भेजे जाएँ।'

इस आयोजन में कितने निबंध आए तथा किसे पुरस्कार मिला, यह कहना तो कठिन है, परंतु इतना तय है कि इस विज्ञप्ति के बाद लोगों में बालसाहित्य-समीक्षा के प्रति एक दृष्टि का विकास हुआ। सन् 1945 में 100 रुपए का पुरस्कार भी अपने आपमें बड़ा महत्त्वपूर्ण था।

इस आयोजन का एक परिणाम और निकला कि सितंबर 1946 में कृष्णविनायक फड़के की पुस्तक बालदर्शन का प्रकाशन हुआ, जिसे बालसाहित्य-समीक्षा की प्रथम पुस्तक का श्रेय दिया जा सकता है। इस पुस्तक में जहाँ बालक का महत्त्व समझाया गया है, वहीं बच्चों के लिए काव्य, कहानियाँ, नाटक-संवाद, जीवनचरित तथा बाल-पत्रिकाओं का भी विवेचन किया गया है। तत्कालीन बालोपयोगी मासिक पत्रों की सूची तथा पुस्तकों के प्रकाशकों की सूची देकर लेखक ने इसे और उपयोगी बना दिया है।

इस प्रकार हिंदी बालसाहित्य परंपरागत धीरे-धीरे आगे बढ़ा है। इसके विकास में जहाँ एक

ओर पाठ्यपुस्तकों का योगदान है, वहीं दूसरी ओर बाल-पत्रिकाओं ने भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सौ से अधिक वर्षों में फैला हिंदी बालसाहित्य का इतिहास अपने आपमें इस अर्थ में रोचक है कि इसकी जड़ें गहरी हैं, परंतु इसका विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ है।

हिंदी बालसाहित्य के समग्र विकास को रेखांकित करने के लिए अब तक लिखी गई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में–बालदर्शन : आचार्य कृष्णविनायक फड़के (1946), हिंदी किशोर साहित्य: ज्योत्सना द्विवेदी (1952), बालसाहित्य की मान्यताएँ एवं आदर्श : संपादक देवेंद्रदत्त तिवारी (1962), बालगीत साहित्य : निरंकारदेव सेवक (1966) (इस पुस्तक का नया संशोधित, परिमार्जित संस्करण उ०प्र० हिंदी संस्थान, लखनऊ से सन् 1983 में प्रकाशित हुआ।), हिंदी बालसाहित्य : एक अध्ययन : डॉ० हरिकृष्ण देवसरे (1969), बालसाहित्य : रचना और समीक्षा: संपादक डॉ० हरिकृष्ण देवसरे, हिंदी बालसाहित्य की रूपरेखा : डॉ० श्रीप्रसाद (1985), आधुनिक हिंदी में बालसाहित्य का विकास : डॉ० विजयलक्ष्मी सिन्हा (1986), हिंदी बालकाव्य में प्रतीक एवं कल्पना-तत्त्व : डॉ० कुसुम डोभाल (1990), हिंदी बाल-पत्रकारिता : उद्‌भव और विकास: डॉ० ओमप्रकाश सिंहल (1992), त्रिविधा : संपादक डॉ० मधु पंत (1994), बालसाहित्य इक्कीसवीं सदी में : जयप्रकाश भारती (1995), त्रिधारा : संपादक डॉ० मधु पंत (1996), हिंदी बालसाहित्य : विविध परिदृश्य : डॉ० सुरेंद्र विक्रम (1997), त्रिपदा : संपादक डॉ० मधु पंत (1997), बालसाहित्य की अवधारणा : डॉ० श्रीप्रसाद (1998), समकालीन बालसाहित्य : परख और पहचान : डॉ० सुरेंद्र विक्रम (1998), बालसाहित्य : शोध समीक्षा संदर्भ : डॉ० सुरेंद्र विक्रम (1998), त्रिदिशा : संपादक डॉ० मधु पंत (1999), बालसाहित्य मेरा चिंतन : डॉ० हरिकृष्ण देवसरे (2000), त्रिवेणी : संपादक डॉ० मधु पंत (2000), किशोर साहित्य की संभावनाएँ : संपादक देवेंद्रकुमार देवेश (2001), हिंदी में बालसाहित्य : डॉ० ज्योतिस्वरूप (2002), हिंदी बाल कविता का इतिहास : डॉ० प्रकाश मनु (2003), त्रिसंगम और त्रिसंध्या : संपादक डॉ० मधु पंत (2005), बालसाहित्य के सरोकार : डॉ० हरिकृष्ण देवसरे (2007), बालसाहित्य के प्रतिमान: डॉ० नागेश पांडेय 'संजय' (2009), हिंदी बालसाहित्य प्राचीन एवं आधुनिक दृष्टि : डॉ० अभिनेषकुमार जैन (2009), हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष : विनोदचंद्र पांडेय (2010), दर्शनसिंह आशट और उनका बालसाहित्य : संपादक डॉ० शकुंतला कालरा (2012), हिंदी बालसाहित्य डॉ० सुरेंद्र विक्रम का योगदान : डॉ० स्वाति शर्मा, बालसाहित्य सृजन और समीक्षा : डॉ० नागेश पांडेय 'संजय' (2012), हरिकृष्ण देवसरे का बालसाहित्य : ओमप्रकाश कश्यप (2013), रवींद्रनाथ ठाकुर का बालसाहित्य : संपादक देवेंद्रकुमार देवेश (2013), बच्चे, बचपन और बालसाहित्य : अखिलेश श्रीवास्तव 'चमन', हिंदी बालसाहित्य नई चुनौतियाँ और संभावनाएँ: डॉ० प्रकाश मनु (2014) आदि उल्लेखनीय हैं। प्रसन्नता की बात है कि न्यूयार्क में संपन्न विश्व हिंदी सम्मेलन में भी बालसाहित्य की अनुगूँज सुनाई पड़ी। इस सम्मेलन में हिंदी के बालसाहित्य पर अलग से एक सत्र का होना इस बात का परिचायक है कि अब अंतर्राष्ट्रीय मंच पर बालसाहित्य का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है। बालसाहित्य से जुड़े लोगों का दायित्व अब और अधिक बढ़ गया है।

सी-1245, **एम०आई०जी०**
राजाजीपुरम, लखनऊ (उ०प्र०)
मो० 09450355390

21वीं शती के प्रथम दशक के प्रमुख हिंदी बाल-नाटकों में नवीन प्रवृत्तियाँ

नूतन जैन, शोध छात्रा
हिंदी विभाग, दयालबाग एजूकेशनल इंस्टीट्यूट (डीम्ड यूनिवर्सिटी)
दयालबाग, आगरा (उ॰प्र॰) 282005
डॉ॰ दयालप्यारी सिन्हा, शोध निर्देशिका
असि॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
डी॰ई॰आई॰ दयालबाग, आगरा

साहित्य की सभी विधाओं में से बाल-नाटक सर्वाधिक सक्षम तथा संप्रेषण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विधा है। बाल-नाटक बालकों के व्यक्तित्व के संतुलित विकास के लिए एवं उन्हें नैतिक व सामाजिक शिक्षा देने के लिए एक सशक्त माध्यम हैं। इसी चेतना के कारण पिछले कुछ दशकों में बाल-नाटक एवं रंगमंच ने एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। हिंदी बाल-नाटकों का महत्त्व सबसे अधिक इसलिए भी है कि बाल-नाटक एकांतिक विधा न होकर सामाजिक विधा है। बाल-नाटक तथा रंगमंच का महत्त्व बालक के अंत:करण तथा कामना-जगत को जानने की दृष्टि से तो है ही साथ ही इसके माध्यम से बालक अपनी प्रतिभा की सशक्त अभिव्यक्ति कर सकते हैं। बाल-नाटक तथा रंगमंच के माध्यम से बालकों का सर्वांगीण विकास ही नहीं होता, बल्कि यह बालकों के कोमल एवं ऊर्जा से परिपूर्ण अंत:करण को सृजनात्मक और सहज ढंग से उचित दिशा में विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बाल-नाटक एवं रंगमंच बालकों की प्रतिभा को उभारने में अत्यधिक सहायक है। आज देश के छोटे-छोटे शहरों में भी बालकों की रंगमंच-संबंधी कार्यशालाएँ आयोजित की जा रही हैं, जिनके द्वारा बालकों की रचनात्मक प्रतिभा को सामने लाने का प्रयास किया जा रहा है। बाल-रंगमंच मौलिक प्रतिभा को ही विकसित नहीं करता, बल्कि समाज और संस्कृति को जोड़ने में भी सहायक सिद्ध होता है और बालकों में सामाजिक सहयोग, आत्मविश्वास तथा अनुशासन को जाग्रत करता है।

प्रकाश मनु बाल-नाटक के विषय में लिखते हैं कि 'बाल-नाटक में बच्चे को अपने भीतर की सर्वाधिक मुकम्मल अभिव्यक्ति मिलती है। बच्चे मन के कोनों-प्रांतरों में छिपे भय, गुस्से, खीज को, जिसमें बहुत-सा बड़ों के प्रति या बड़ों के अन्याय के प्रति होता है, जाने पाने और बच्चों की मुश्किलों को सहानुभूति से समझने का एक विलक्षण माध्यम है नाटक, जिसके आईने में बच्चे ही नहीं, बड़े भी अपनी शक्ल देखकर अपनी बहुत-सी कमियाँ दूर और दुरुस्त कर सकते हैं।'[1]

डॉ॰ चित्रासिंह ने बाल-नाटकों के विषय में लिखा है कि-'बाल-नाटक बच्चों के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली माध्यम है। बच्चे के कोमल, चंचल, किंतु ऊर्जा से भरे बालमन को सृजनात्मक और सहजता से सही दिशा में विकसित करने में नाटक सभी विधाओं में सबसे ज्यादा कारगर (असरदार) विधा है। बाल-नाटक बच्चों की प्रतिभा को उभारने में सबसे ज्यादा सहयोगी साबित होते हैं।'[2]

स्वतंत्रता से पूर्व हिंदी बाल-नाटकों की संपन्न परंपरा दिखाई पड़ती है। उस समय इतने अच्छे, चुस्त और सुघड़ नाटक लिखे गए, जिन्हें पढ़कर आज भी मन में रोमांच उत्पन्न होता है। स्वतंत्रता से पूर्व पारंपरिक ढंग के ऐतिहासिक-पौराणिक बाल-नाटक लिखे गए, जिनमें बाल-रंगमंच, कलात्मकता तथा सार्थकता को ढूँढना कठिन था। इस समय परिचित कथानकों को आधार बनाकर ही बाल-नाटक लिखे गए। स्वतंत्रता से पूर्व के बाल-नाटककारों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा लक्ष्मणसिंह, भगवन्ननारायण भार्गव, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद', रामचंद्र रघुनाथ सर्वटे, मास्टर बल्देव प्रसाद, रामनरेश त्रिपाठी, रामेश्वरदयाल दुबे, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् लिखे गए बाल-नाटकों में वस्तुगत एवं शिल्पगत परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इस समय बालकों के लिए सरल, सहज, बोधगम्य नाटक लिखे गए। साथ ही ऐसे नाटकों के महत्त्व को स्वीकार किया गया, जो बालकों को अभिनय के अवसर प्रदान करें। स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रयोगात्मक नाटकों को बल मिला, जो बालकों की समस्याओं से संबंधित हैं। इस समय ऐतिहासिक-पौराणिक विषय-वस्तु को आधार न बनाकर नवीन कथ्यों का प्रयोग किया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् के बाल-नाटककारों में केशवचंद्र वर्मा, प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त', वेद राही, स्वदेशकुमार, डॉ॰ मस्तराम कपूर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, श्रीकृष्ण, कमलेश्वर, चिरंजीत, हरिकृष्ण देवसरे, मनोहर वर्मा, विष्णु प्रभाकर, रेखा जैन, देववती शर्मा, मंगल सक्सेना, शीला गुजराल, रामधारीसिंह दिनकर, देवराज दिनेश, सरस्वती कुमार, कुदसिया जैदी, प्रकाश मनु, रूपवती किरण, वीरेंद्रप्रसाद जैन, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल आदि का नाम उल्लेखनीय है।

21वीं शती के प्रथम दशक के हिंदी बाल-नाटकों में नाट्य-संवेदना-संबंधी नवीन प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। बालकों की अपनी समस्याओं और बदलते समाज की स्थितियों पर आधारित विषयों को बाल-नाटककारों ने कथ्य के रूप में ग्रहण किया। आज के बाल-नाटक समकालीन जीवन की विकृतियों और विसंगतियों को उभारने में पूरी तरह सक्षम हैं। आज के बाल-नाटकों की कथावस्तु सरल, संक्षिप्त तथा सुगठित है। वर्तमान समय के बाल-नाटकों की कथावस्तु, बालकों की अपनी कथावस्तु है। वे सामयिक परिवेश से जुड़े हुए तो हैं ही, साथ ही उनमें बालकों की अनुभूतियों की पकड़ भी विद्यमान है। ये नाटक बालकों में कलात्मक अभिरुचि जाग्रत करने में सहायक सिद्ध होते हैं। 21 वीं शती के प्रथम दशक के बाल-नाटक आधुनिक विचार को लेकर चलते हैं, जो किसी-न-किसी तरह से बालकों को एक आधुनिक जगत का नागरिक बनाने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। वर्तमान समय में ऐसे नाटक लिखने पर विशेष बल दिया जा रहा है, जो आज के बालक और उनकी समस्याओं से संबंधित हैं। बाल-नाटकों के माध्यम से बालकों को नवीन एवं खुशहाल समाज बनाने के सपने और नवीन विचारों से जोड़ने का अच्छा और सृजनात्मक प्रयास हो रहा है। साथ ही बच्चों की दबी हुई रचनात्मक ऊर्जा को

उभारने का अवसर भी मिल रहा है। 21 वीं शती के प्रथम दशक के बाल-नाटकों में एक ओर हास्य के छींटे या मधुर फुहारें हैं तो दूसरी ओर जीवन की विसंगतियों का भी चित्रण है, जिनमें बच्चों और बड़ों के संबंधों की विभिन्न विडंबनाएँ दृष्टिगत होती हैं। आज बाल-नाटकों का कथानक पुरातन मूल्यों को खंडित कर नवीन साँचे में ढल गया है। नेमिचंद्र जैन लिखते हैं कि–'जीवन और संस्कृति के बोध से बालक को संपन्न करने के लिए भी नाटक का उपयोग बहुत कारगर हो सकता है। यदि अलग-अलग उम्र के बच्चों की बुद्धि, उनके भावतंत्र और अनुभव-क्षेत्र को ध्यान में रखकर नाटक लिखे और उन्हें दिखाए जा सकें तो उन्हें अपने चारों ओर की दुनिया को समझने, अनुभव करने और उसके साथ समंजन करने में आसानी होगी। यह बताने की जरूरत नहीं है कि आज भी दुनिया में ऐसे समंजन की कितनी जरूरत है।'[3]

21 वीं शती के प्रथम दशक में लिखे गए बाल-नाटकों में नवीन चरित्रगत प्रवृत्तियाँ भी दिखाई देती हैं। चरित्रगत व्यापारों के द्वारा ही नाटक की अनुभूति अभिव्यक्त होती है, अर्थात् चरित्र के कारण नाटकों की अनुभूति का प्रत्यक्षीकरण होता है। नाटक में कथावस्तु के उपरांत चरित्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि नाटकों की सफलता पात्रों पर ही आधारित होती है। स्वतंत्रता से पूर्व लिखे गए बाल-नाटकों में ऐतिहासिक तथा पौराणिक पात्रों की प्रधानता होती थी, लेकिन 21 वीं शती के प्रथम दशक के बाल-नाटकों के पात्रों का निर्माण समस्याओं, समसामयिक परिस्थितियों और समाज की परिवर्तित स्थितियों से हुआ है। समकालीन जीवन चिंताओं तथा समस्याओं से आपूरित है, उसी के अनुरूप बाल-नाटकों में चरित्रों की सृष्टि हुई है। वर्तमान समय के बाल-नाटकों में पात्रों की संख्या सीमित होती है तथा उनके चरित्र समकालीन जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। आज के बाल-नाटकों में उन चरित्रों की भी प्रधानता है, जो सांस्कृतिक मूल्यों, नैतिकता तथा आदर्श की प्रतिमूर्ति हैं। वर्तमान समय के बाल-नाटकों में सहज चरित्रों की सृष्टि हुई है, जो काल्पनिक न होकर यथार्थ पर आधारित हैं। आज के बाल-नाटकों में चरित्रों के निर्माण की आवश्यकता नहीं पड़ती, वरन् बालक स्वयं ही खेल-खेल में चरित्र-निर्माण कर लेते हैं। वर्तमान बाल-नाटकों में हास्य चरित्रों की भी सृष्टि हुई है, जो बालकों को ही नहीं, बल्कि युवाओं को भी हिम्मत से जीने और समस्याओं का हँसकर सामना करने का साहस देते हैं।

बाल-नाटकों में नाट्य-संवेदना-संबंधी अन्य नवीन प्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगत होती हैं, जिनमें एक ओर स्थूल उपदेश और हृदय-परिवर्तन की प्रवृत्ति दिखाई देती है तो दूसरी ओर रचनात्मक ढंग से बालकों की भूलों की ओर संकेत करते हुए उनका उचित मार्गदर्शन करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। 21वीं शती के प्रथम दशक के बाल-नाटकों में एक ओर राष्ट्रीय स्वाभिमान का भाव तथा उपदेशात्मकता है तो दूसरी ओर कुछ नवीन कार्य कर दिखाने की ललक विद्यमान है। बाल-नाटकों में कविता, कहानी और नाटक तीनों का समन्वय है। आज के हिंदी बाल-नाटकों में हास्यपूर्ण एवं तीखी व्यंग्यात्मक स्थितियाँ भी दृष्टिगत होती हैं। 21वीं शती के प्रथम दशक के बाल-नाटकों के माध्यम से बालकों की कल्पना-शक्ति और रचनात्मक प्रतिभा का विकास ही नहीं हुआ है, बल्कि वर्तमान समय की शिक्षा-पद्धति की विसंगतियों की ओर भी संकेत किया गया है। वर्तमान समय में भारतीय तथा अन्य भाषाओं से हिंदी में अनूदित बाल-नाटक भी दिखाई देते हैं। मराठी, उर्दू, बंगला आदि भाषाओं के बाल-नाटकों का हिंदीभाषा में अनुवाद भी हुआ है।

डॉ॰ हरिकृष्ण देवसरे कृत 'बाल संसद' नाटक सामाजिक-राजनीतिक बिडंबनाओं पर

आधारित है, जिसमें संसदीय व्यवस्था पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया गया है। मनोहर वर्मा कृत 'नन्हा सिपाही' भावात्मक नाटक है। इस नाटक के माध्यम से बच्चों में देशभक्ति की भावना जाग्रत करने का प्रयास किया गया है। रेखा जैन ने बाल-नाटकों के लिए अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। उनके द्वारा रचित 'स्वाधीनता संग्राम' देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत नाटक है, जिसमें यह बताया गया है कि अँग्रजों के आने से पूर्व हमारा देश अत्यधिक संपन्न और गौरवशाली था। उन्होंने इस नाटक में स्वाधीनता की स्थिति का भी चित्रण किया है, जो अत्यधिक उमंग से परिपूर्ण है। रेखा जैन ने बच्चों में रचनात्मक प्रतिभा को उभारने का सशक्त प्रयास किया है। 'बच्चों को सचमुच रंगमंचीय अनुभव देने के लिए उनकी कल्पना-शक्ति और सर्जनात्मकता जगाने के लिए ऐसे नाटक अधिक उपयुक्त हैं, जो सुंदरता, अनोखेपन और चमत्कार से परे हों तथा बच्चों के दैनिक जीवन से संबंधित खेलकूद पर आधारित हों, इस तरह के नाटकों से इन्हें आनंद भी मिलता है और साथ ही सीधे-सीधे उपदेश के बिना ही उनमें भले-बुरे की पहचान भी पैदा होती है।'[4]

कमलेश्वर के बाल-नाटकों का अपना एक विशेष ढंग है, जो बच्चों के साथ-साथ बड़ों को भी आकर्षित करता है। कमलेश्वर कृत 'पिटारा' नाटक में समय, समाज और देश की वास्तविकता का परिचय मिलता है। कमलेश्वर ने 'झूठी दीवार' नाटक के माध्यम से यह बताया है कि भले ही देश में भिन्न प्रकार की संस्कृतियाँ व्याप्त हैं, लेकिन उनके अंदर निवास करने वाली आत्मा एक ही है। श्रीकृष्ण द्वारा रचित 'हिरण्यकश्यप मर्डर-केस' नाटक अपने आपमें पौराणिकता तथा ऐतिहासिकता को समेटे हुए है। बाल-नाटककारों में डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का नाम भी अग्रणी है। गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा रचित 'बच्चों के रोचक नाटक', 'बच्चों के हास्य नाटक', 'बच्चों के उत्तम नाटक', 'बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक', 'भारतीय गौरव के बाल-नाटक' आदि मुख्य नाटक-संग्रह हैं। इनके नाटक एक ओर हास्य से परिपूर्ण हैं तो वहीं दूसरी ओर खेल-खेल में मीठी सीख देने वाले हैं, जिससे बाल-पाठकों में कर्त्तव्य की भावना का विकास होता है।

इन्होंने सामाजिक समस्या-प्रधान नाटक भी लिखे हैं। 'एक चुटकी संतोष' दहेज की समस्या पर आधृत महत्त्वपूर्ण नाटक है।

प्रकाश मनु कृत 'बच्चों के अनोखे हास्य नाटक', 'बच्चों को सीख देते अनोखे नाटक', 'बच्चों के रंग-रंगीले नाटक', 'बच्चों के श्रेष्ठ सामाजिक नाटक', 'इक्कीसवीं सदी के बाल-नाटक' हास्यप्रद तो हैं ही, साथ ही खेल-खेल में बच्चों की समस्याओं का समाधान भी करते हैं और बच्चों को आगे बढ़ने के साथ-साथ उनके अंदर कुछ नवीन कर दिखाने का उत्साह भी जाग्रत करते हैं। 'इक्कीसवीं सदी के बाल-नाटक' संग्रह के नाटक 'झटपटसिंह फटफट सिंह' में आशु की माँ आशु को शिक्षा देते हुए कहती है–

'खुद को जरा बदल आशु। इतना हड़बड़ियापन भी ठीक नहीं।'[5]

ओमप्रकाश कश्यप द्वारा रचित नाटक 'दो राजा अलबेले' में निरर्थकता को उजागर किया गया है। इस नाटक में अहंकारी राजा बिना किसी कारण के युद्ध और झगड़ा करते हैं।

21वीं शती के प्रथम दशक के हिंदी बाल-नाटकों में अभिव्यंजना की दृष्टि से भी नवीन परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। बाल-नाटकों में संवादों का अपना विशेष महत्त्व होता है। बाल-अभिनेताओं के लिए दीर्घ और दुर्बोध संवाद न केवल बोलने में ही कठिन सिद्ध होते हैं बल्कि

उन्हें समझने में भी दर्शकों को कठिनाई होती है। वे ही संवाद अधिक ग्राह्य होते हैं, जो लघु और सहज होते हैं और जिन्हें बाल-अभिनेता भी सुगमता से कंठस्थ कर लेते हैं। वर्तमान समय में कुछ ही नाटककारों ने परिस्थिति के अनुकूल, विचार-संप्रेषण तथा ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी के लिए दीर्घ संवादों की रचना की है, जो कहीं अखरते नहीं हैं। आज के बाल-नाटकों में पद्यात्मक संवादों का प्रयोग हुआ है, जिन्हें बालक आसानी से याद कर लेते हैं। प्रकाश मनु द्वारा रचित 'इक्कीसवीं सदी के बाल-नाटक' संग्रह के नाटक 'यारों मैं करमकल्ला नहीं हूँ!' से उदाहरण द्रष्टव्य है। यथा–'वैसे यार, करमकल्ला! देखो तो कितना प्यारा नाम है पता नहीं, वह इस पर इतना चिढ़ता क्यों है?'[6]

वर्तमान समय में कुछ ही नाटककारों ने परिस्थिति के अनुकूल, विचार-संप्रेषण तथा ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी के लिए दीर्घ संवादों की रचना की है, जो कहीं अखरते नहीं हैं। आज के बाल-नाटकों में पद्यात्मक संवादों का प्रयोग हुआ है, जिन्हें बालक आसानी से याद कर लेते हैं। पद्यात्मक संवाद संगीतात्मकता, लयात्मकता और तालबद्धता से युक्त होने के कारण बालकों द्वारा सहज स्मरणीय हो जाते हैं। गद्य नाटकों में भी स्वर-संगति और शब्दों की योजना पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिससे संवादों की भाषा सहज बनी रहती है। आज के बाल-नाटकों के संवादों की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि अधिकतर संवाद बालकों द्वारा बोले या सुझाए गए होते हैं। बालकों का भाषा-ज्ञान और शब्दकोश सीमित होने के कारण नाटककारों ने बाल-नाटकों की रचना सहज और सरस भाषा में की है। विशेष रूप से छोटे बालकों के लिए सहज चित्रांकन वाली भाषा का प्रयोग हुआ है। वर्तमान समय के बाल-नाटकों की भाषा बालकों की अपनी भाषा है, जिसमें वे बोलते, सुनते तथा समझते हैं। बाल-नाटकों में आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग होने के साथ-साथ मुहावरे, लोकोक्तियों तथा काव्यात्मक भाषा का प्रयोग भी हुआ है। आज के बाल-नाटकों की शैली में संगीत, नृत्य, ताल, अभिनय आदि का समन्वय है। अलखनंदन कृत 'उजबक राजा तीन डकैत' और 'चंदा बेड़नी' में लोकनाट्य शैली का प्रयोग हुआ है। शैली भले ही यह प्राचीन परंपरा के अनुकूल है, किंतु वर्तमान समय में लयबद्ध पद्धति के द्वारा ही कम उम्र के बालक नाटक सीख जाते हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि 21 वीं शती के प्रथम दशक के बाल-नाटकों का निर्माण समस्याओं, समसामयिक परिस्थितियों और समाज की परिवर्तित स्थितियों से हुआ है। समकालीन जीवन चिंताओं तथा समस्याओं से आपूरित है। वर्तमान समय के बाल-नाटक समकालीन जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। आज के बाल-नाटकों में सांस्कृतिक मूल्यों, नैतिकता तथा आदर्श की प्रधानता है। वर्तमान समय के बाल-नाटक काल्पनिक न होकर यथार्थ पर आधारित हैं। बच्चे स्वयं ही खेल-खेल में नाटक का निर्माण कर लेते हैं। 21वीं शती के प्रथम दशक के बाल-नाटक बालकों को ही नहीं, बल्कि युवाओं को भी हिम्मत से जीने और समस्याओं का हँसकर सामना करने का साहस देते हैं।

संदर्भ

1. हिंदी बालसाहित्य (नई चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ), प्रकाश मनु, प्रथम संस्करण-2014, पृ॰ 164 कृतिका बुक्स दिल्ली
2. बालरंग (बच्चों का रंगमंच : सिद्धांत एवं व्यवहार) रेखा जैन, प्रथम संस्करण-2006, पृ॰ 74

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. प्रतिनिधि हिंदी बाल-नाटक (भूमिका), हरिकृष्ण देवसरे, प्रथम संस्करण-2014, पृ॰ 10 विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स नवीन शाहदरा, दिल्ली
4. लाख की नाक, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृ॰ 7
5. इक्कीसवीं सदी के बाल-नाटक, प्रकाश मनु, प्रथम संस्करण-2013, पृ॰ 133 ज्ञानगंगा प्रकाशन, दिल्ली
6. वही, पृ॰ 137
7. साहित्य और संस्कृति का अंत:संबंध, डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया, संस्करण-2015, पृ॰ 124, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर

मकान नं॰ 269,
सेक्टर-13 **बी आवास विकास कॉलोनी**
सिकन्दरा, आगरा 282007
मो॰ 9411652011

सुनीता जैन की कविताओं का मिजाज और उनके तीन काव्य-संकलन

डॉ॰ प्रमोद त्रिवेदी

लोग हैं लागि कबित्त बनावत
मोहि तौं मेरे कबित्त बनावत
—घनानंद

सदियों पहले रची गई इन पंक्तियों में काव्य-प्रयोजन का जिस सरलता और सादगी, किंतु उतने ही मारक ढंग से उल्लेख किया गया है और दूसरी पंक्ति में स्वयं कविता, कवि-व्यक्तित्व का निर्माण करती है। कविता चाहती है, कवि वैसा ही नजर आए, जैसा वह अपने रचे गए शब्दों में नजर आ रहा है और यही चुनौती है। वह है कुछ और दिखाई दे रहा है कुछ और ही।...जो लगकर, सुविचारित ढंग से कबित्त बनाते हैं, उनके प्रयोजन भी काव्येतर होते हैं। क्या लिखा जाए, ऐसा ही क्यों लिखा जाए, अपने इस तरह लिखने से कुछ लाभ है? लाभ नजर आए तो ही लिखो! लाभ के लिए ही लिखो! ऐसे कवि तब भी थे और आज भी हैं। वैसी ही होड़, वैसी ही अपने लक्ष्य पर नजर! 'प्रयोजन' सिद्ध भी होते हैं। इसलिए समय की दृष्टि से तो 'रीतिकाल' कब का बीत गया है, पर वह इस उत्तर आधुनिककाल में भी पसरा नजर आ रहा है। अब इस काल को 'गणित' कहा जाता है। तब तो राज्याश्रय पाकर भी कवि की प्रतिष्ठा थी। अब कवि और कविता दोनों ही अप्रासंगिक हो रहे हैं।

उस चामत्कारिक शिल्प-वैभव युग में भी कुछ ऐसे थे, जिनके लिखने या होने में फाँक नजर नहीं आती थी। वे जीवन में जैसे थे, वैसे ही अपनी रचना में भी नजर आए। कौन उनके लिखे पर रीझ रहा है और कौन नहीं, यह उनके लिए गौण था। वे इस पर भी ध्यान नहीं देते कि वे लीक से हटकर क्यों लिख रहे हैं? वे न रिझाऊ लिख रहे थे, न ही सामयिक। पर उनकी कविता का सम्मान था और वे पाठक को संस्कारित करती थी तो कवि पर भी अपना वैसा ही असर डालती थी। यदि तब दो धाराएँ कविता की थीं, कविता के दो मिजाज थे तो आज भी ये दोनों धाराएँ प्रवाहित हैं। कवयित्री श्रीमती सुनीता जैन ने कविता को रचा तो कविता भी उन्हें निखार-सँवार रही है। यद्यपि वे अपने सतत् और सुदीर्घ लेखन के बावजूद परिदृश्य की केंद्रीयता से कभी-कभी दूर दिखती रही हैं। जब सारे कवि लेखक वैश्विक होने की कोशिश में हैं, सुनीता जैन की अपनी कविता के लिए पहली प्रतिज्ञा ही यही है कि उनकी कविता, उनकी होकर ही अपने पाठक तक पहुँचे। भाषा उनकी, संवेदना उनकी, शिल्प उनका और कविता भी उनकी अपनी। उनके जैसी ही। समय के साथ बनती और परिवर्तित होती कवियों की सूची में वे कहाँ

हैं, किस क्रम पर, इस पर भी उनकी नजर नहीं रही। बस, चिंता की तो इतनी ही कि कविता से ऊपर वे न हों। वे ओझल हो जाएँ, पर उनका रचा जरूर टिक जाए। आए-दिन जब अलग-अलग कारणों से इस सूची में नाम जुड़ और खारिज हो रहे हों तो सूचीबद्ध होने या खारिज कर दिए जाने से भी क्या फर्क पड़ता है।

कविता, सुनीता जैन के लिए सरस्वती का 'वाक्-विग्रह' है। वे इस विग्रह के सम्मुख सदा झुकती रही हैं। आज यह कथन अविश्वसनीय ही लगे, पर उनका समग्र लेखन, इस विग्रह की पूजा-भाव का परिणाम है। पर वे वैसी भी भक्त कवयित्री नहीं हैं, जो अपने समय की हलचलों और अन्याय से उदासीन हो जाती हैं। जब पक्षधरता का सवाल उठता है तो अपने या स्त्री की अवज्ञा या अपमान के विरुद्ध अपनी कविताओं में तनकर खड़ी नजर आती हैं। विनम्रता और स्वाभिमान का यह संयोग उनकी कविताओं में स्पष्ट नजर आता है। पाने की होड़ में वे शामिल नहीं रहीं पर जो मिल गया,, उसे 'भगवती' मानकर सिर से लगा लिया। सृजन-स्थल उनके लिए पूजा-स्थल रहा, इसीलिए जिन्होंने इसे 'रणांगण' बना दिया, वे उस रणांगण को उन शूरवीरों के हवाले कर बस उस 'खेल को देखती हैं।

सुनीता जी की कविता में अद्‌भुत किस्म की सादगी है, जिसे उन्होंने परिश्रमपूर्वक अर्जित किया है। इसी सादगी में वे कमाल की लय पैदा कर लेती हैं। यह लय शब्द की भी है, अर्थ की भी–

जो गाता है
वह कितनी
आग दबाता
पूछो किसी कवि से।

यह रस
यह बिंबों का क्रम
यह लय
यह गति शब्दों की
यह रह-रह अर्थों की
जब तब बजती
चुटकी

आते कहाँ-कहाँ से
पूछो किसी कवि से।

शब्दों-अर्थों की लय का यह सधा और संतुलित यौगिक कविता को सहज ही कंठ में बसा देता है और यही लय आज की कविता से विरल होती जा रही है। इसी संतुलन से कविता की उम्र तय होती है। आधी सदी से भी कुछ ज्यादा समय से रचनारत सुनीता जैन ने अपने भीतर की आग को न केवल बचाए रखा, बल्कि इसी की रोशनी के सहारे अपनी यात्रा (सृजन-यात्रा की भी) मंजिलें तय की हैं।

सुनीता जी अपनी परंपरा को न तो जड़ मानती हैं और न ही अपनी प्रगति में बाधक। अपनी

परंपरा से वे तभी कुछ ग्रहण करती हैं, जब वह अपने समय और स्थिति की व्याख्या में सहायक हों। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि परंपरा में भी कुछ ऐसा जरूर होता है, जो सनातन होता है और वह हमारे समय को विस्तार और दीप्ति प्रदान करता है। और यह बात कवि के परिवेश और संस्कारों से जुड़ी होती है। इसी को वे कविता का रूप देती है–

जो गाता
वह कितनी
आग दबाता
पूछो किसी कवि से

इधर कुछ वर्षों से उनके काव्य-संकलन अनवरत रूप से प्रकाशित हो रहे हैं। इन संकलनों में से मैंने उनके तीन काव्य-संकलन यह जानने के लिए भी चुने कि इस उम्र में उन्होंने खुद को कविता में और कविता ने उनमें कितनी और किस तरह जगह बनाई।

कहा जाता है, पीपल का वृक्ष सारी वानस्पतिकता में सर्वाधिक संवेदी होता है। जब कहीं भी हवा के होने का अहसास नहीं होता, तब भी पीपल के पत्तों की हरकत वातावरण में हवा के होने का अहसास करवा देती है। हमारा वर्तमान तो सब-कुछ के अंत की घोषणा काफी पहले ही कर चुका है। आज की पीढ़ी की रुचियों में भी कविता के लिए थोड़ी भी जगह नहीं बची। ऐसे स्तब्ध वातावरण में भी कुछ है, जो पीपल के पत्तों की तरह आज भी कविता की अहमियत सिद्ध करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पत्ता हिले या न हिले साँस लेने लायक हवा तो आज भी वातावरण में है। कवयित्री सुनीता जैन भी इसी तरह हर क्षण रचनागत आवेश से आंदोलित और आवेशित नजर आती हैं :

जो गाता
वह कितनी
आग दबाता
पूछो किसी कवि से

पानी को H_2O कह या लिखकर देने से पानी का अहसास नहीं होता। उसका अहसास तो छूकर या पीकर ही किया जा सकता है। यही नहीं, हर भूमि की खनिजता और उसके गुण धर्म पानी को सुनिश्चित करते हैं और उसकी गुणवत्ता को भी।

इधर प्रकाशित उनके कई काव्य-संकलनों में से मैंने उनके तीन संकलन फैंटेसी (सन् 2007), प्रेम में स्त्री (सन् 2006) रसोई की खिड़की में (2010) को विवेचन के लिए चुना है।

फैंटेसी

लेखन यदि निरंतर खोज है तो ऐसी तमाम खोजों के साथ लेखन में यह अपनी खुद की खोज भी है। अपनी खोज की कोशिशें, उम्र और अनुभवों के संग-संग संजीदा होती जाती हैं और यह काम अधिक मुश्किल और चुनौतीपूर्ण हो जाता है। अब तक हम जिसे फैंटेसी मानते रहे, वही रियलिटी हो जाती है और अब तक जिस रियलिटी में हम जी रहे थे, वही फैंटेसी! काव्य-संकलन **फैंटेसी** की कविताएँ भी इसी उलट-फेर का प्रतिफल हैं। इस संकलन की कविताओं से गुजरते

हुए मध्यकालीन एक भक्त कवि की ये पंक्तियाँ यों ही नहीं कौंधीं–

अपुन को आपुन ही तें पायो
और
अपुन को आपुन ही में पायो

अपने को पाने की खोज कभी पूरी नहीं होती। एक पहेली का हल मिलता है तो चार नई पहेलियाँ, उस पहेली के हल को भी उलझा देती हैं। अलग-अलग दिशाओं से की गई यह तलाश भटकाती ज्यादा है और इसी भटकाव में कवि अपनी कविता पा लेता है। यही उसका सुकून और यहीं विकलता। अपनी खोज के आज लक्ष्य बदल गए हों तो परिणाम अधिक क्रूरतर हो गए हैं, पर इस तलाश से जो 'प्राप्य' हुआ वह भी कम चमत्कारी नहीं था।

सुनीता जैन की कविताओं के पाठकों को उनकी कविता-रचना की परिधि, आस्वाद, उसका समावेशित सामर्थ्य और पहुँच का अनुमान है। **फैंटेसी** की कविताओं को जब पहली बार पढ़ा गया तो लगा, इन कविताओं का शिल्प, मिजाज, आस्वाद की भूमि, रचनागत आवेश और रचनात्मक त्वरा वही है। हाँ, इस बार ये कविताएँ दोहरे आवेश में लिखी गई हैं। इससे पहले जो कुछ लिखा गया था, वह सुनीता जैन की लिखा-रचा गया था और इस संकलन की कविताएँ रचते हुए उन्हें पहली बार आभास हुआ कि इस सुनीता जैन के भीतर कोई 'मधुरा' है और ये सारी कविताएँ सुनीता की नहीं, 'मधुरा' की हैं। सुनीता तो इन कविताओं की प्रस्तुति की निमित्त-भर है। अधिक से अधिक प्रस्तोता।

कविता में यों भी जो कुछ होता है, वह कई परतों में छुपी वास्तविकताएँ होती हैं। कभी-कभी तो वास्तविकता से विपरीत, यही झिलमिल रचना के अनेक पाठ रचती है तब भी एक नए पाठ की गुंजाइश रचना के मूल पाठ में बनी ही रहती है। अब पाठक अपने हिसाब से जोड़-बाकी करता रहे कि यह 'मधुरा' और सुनीता एक ही हैं या दो भिन्न रचना-व्यक्तित्व और भिन्न हैं तो कितनी और क्यों? यदि सुनीता में ही कोई 'मधुरा' है तो सुनीता कौन है? और उसकी हैसियत क्या है और कितनी? क्या 'अपुन तें आपुन ही को पायों' एक निरंतर खोज या साधना है आत्म-साक्षात्कार के लिए? या अब तक की 'प्राप्ति' थी वह भ्रम या बाहरी उपलब्धियों में उपलब्ध! बाहरी खोज आसान होती है, पर जिसकी तलाश होती है, वह भीतर है। बाहरी कोशिशों को छोड़कर भीतर झाँकना और पा लेना आसान नहीं। तो क्या इतने वर्षों की सतत् सर्जनात्मक प्रयत्न और पाने की विकलता का परिणाम है यह 'मधुरा'? इस आविष्कार के बाद सर्जक सुनीता जैन खुद अपने लिए फैंटेसी होती चली गईं और 'मधुरा' रियलिटी! इस पूरी प्रक्रिया में सुनीता जैन यानि डॉ॰ सुनीता जैन, प्रोफेसर सुनीता जैन, कवयित्री-कथाकार सुनीता जैन और गृहणी सुनीता और इन सबमें से व्यक्त और इनमें गोपित सुनीता जैन में यह 'मधुरा' कितनी व्यक्त और सक्रिय है और कितनी रहस्यमयी–

मेरी मधुरा को संपृक्त करने
चला आया जो समय नया-सा
मेरी कविता में,
उसी से व्यक्त हो रहा
एक प्रति संसार भला-सा

आप कह सकते हैं इसे फैंटेसी
किंतु यह केवल उतनी भर नहीं
इसमें स्फीति है मिठास की
जो सचमुच मेरी कल्पना नहीं

इसमें रहते हैं कुछ पक्षी
जो गाते हैं एक भिन्न ऋतु का गीत

आप महसूस कर सकते हैं इसमें
जल को, वायु को और आग को
रचते, बसते संग-संग ही

इतना व्यापक है इस–'मधुरा' का आधार। जितना व्यापक, उतना ही गहरा। एक सर्जक की भूमिका में यह मुलाकात कम रोमांचक नहीं रही होगी। शायद हर सर्जक में कभी-न-कभी ऐसी किसी फैंटेसी की आमद होती है, जो उसके सृजन पर घनीभूत होकर छा जाती है और खुद सर्जक इस फैंटेसी के आगे निष्प्रभ हो जाता है। सुनीता जी में सर्जक और 'मधुरा' का द्वैत देखिए–

मधुरा! मेरा वैभव पिछला
और आगे की साँसें सारी

हम दोनों मिलकर होती हैं बस स्त्री
वह सुंदर-सी उन्मेष भरी
मैं मास्टरनी रुखी-सी
बकझक-बकझक करती

उपर्युक्त पंक्तियों में एक छंद निर्मित होता है। छंद अर्थात् एक परिधि, जिनमें कवयित्री का पूरा जीवन समावेशित है और मधुरा के प्रवेश से इस छंद को ही नहीं कवयित्री भी पूर्णत: अनुभव करती है। इसी पूर्णता का आकांक्षी है और रहा है हर कोई-हर काल में। और संवेदनशील इस पूर्णता के लिए एक फैंटेसी निर्मित कर लेते हैं और उसी में जीने लगते हैं, अपने प्रति संसार में। और पूरी काल यात्रा तय कर लेते हैं यदि वह हमारे जीवन में अविभाज्य हो जाए तो एक खेल शुरू हो जाता है और यह रचना को ही नहीं, जीवन को पोषित कर देता है। कवयित्री की आयु, आयु के सारे उपहार-थकान, आलस्य, बीमारी हताशा, संकल्प और स्वप्न के सारे ब्यौरे आपको यत्र-तत्र मिल जाएँगे पर 'मधुरा' के बारे में इन कविताओं से एक धारणा अवश्य बनाई जा सकती है। सुनीता जी कभी-कभी मधुरा की दीदी भी हो जाती है–

अब मैं इससे निबटूँ भी तो कैसे
हँसकर कहती है निर्लज्ज मुझी से
तुम भी आओ न दीदी
रख आओ सब बाहर धूरे पे (पृ॰ 39)

यह 'मधुरा' कवयित्री के जीवन में प्रवेश कर जीवन को बदल देती है। इस फैंटेसी में वह सब संभव है जो जीवन में नहीं है। बहुत पारिभाषिकता में न जाएँ तो हर फैंटेसी या तो अपने

जीवन की यांत्रिकता से बाहर आने की कोशिश है या जीवन की यातनाओं से निर्मित किसी और अभेद्य तिलिस्म में बंदी की छटपटाहट। सुनीता जी के लिए मधुरा जीवन को जीने की पहल है। इसीलिए वे लिखती हैं–

इसलिए मेरी मधुरा
मेरी आवश्यकता है
वह पलायन नहीं है जीवन से
एक कवि की प्रतिबद्धता है
फूलों से फूलों की खेती करने की
सुर को सुर से गुंजित रखने की
और कहने की कि पल जितने भी जी लिए प्रेम में
काल बचे बस वही काल में (पृ॰ 62)

इन पंक्तियों की व्याख्या में 'मधुरा' की उम्मीदों के, विश्वास के, अटूट-अभिन्नता के, संबंधों के, भावुकता के, कल्पना की उड़ान के और ऐसे असुरक्षा में सुरक्षा के पाठ निर्मित हो सकते हैं। यदि कविता से और इस 'लीला' से इतना कुछ मिल जाता है–जीवन को जीने की कला हासिल हो जाती है तो और क्या चाहिए?

इसी संकलन के 'कालिदास खंड' की कविता में सुनीता जैन के क्लासिकल रुझानों का खुलासा होता है। कालिदास और हमारे बीच अब सहस्राब्दियों की दूरी है। समय के साथ जीवन-जीवन-दृष्टि में परिवर्तन आया तो कविता भी हर तरह से आमूल-चूल बदल गई। कालिदास के प्रति हममें श्रद्धा-भाव जरूर उपजता है और वह हमारे लिए गर्व की वजह भी है पर अब अनुकरणीय नहीं हो सकते। कालिदास खंड की कविताएँ भी कवयित्री सुनीता जैन की यात्रावधि में जारी भावयात्रा में सम्मिलित कालिदास की साक्षी में लिखी गई कविताएँ हैं। यह भी संभव है कि कालिदास प्रतीक में ढलकर काल का अतिक्रमण कर संवादप्रिय कवयित्री सुनीता जैन के सहयात्री हो जाते हैं तो सारा काल बोध उलट-पलट जाता है–

कालिदास, बात तो थी बस एक रात की
अपने शहर से चल, मैं
तुम्हारे नगर में जागती
या
कालिदास, बात तो थी बस एक रात की
तुम्हारे नगर से लौटती
मैं अपने शहर में जागती (पृ॰ 67)

इन काव्य पंक्तियों में आए दो शब्द–'शहर' और 'नगर' एक-दूसरे के पर्यायवाची ही हैं पर कालिदास के स्मरण में 'नगर' अपने समय से दूर कालिदास के समय, समय के वैभव में ले जाता है तो 'शहर' हमें फिर से अपने समय में लौटने को मजबूर करता नजर आता है। विगत के प्रति नास्टेल्जिया है तो अपने वर्तमान के कोलाहल में गुम हो जाने की कातर सच्चाई है। यह कवयित्री का पलायन है यह मान लेना भी संगत नहीं होगा, पर जो समय अपने वर्तमान से कटकर हासिल किया है उस पर से भी वर्तमान की छाया नहीं हटती। थोड़ी विरल जरूर हो जाती है, पर वापसी

में 'शहर' की असलियत शहर पहुँचने से पहले ही कवयित्री को घेरने लगती है। कल्पना कभी स्थाई नहीं हो सकती और वास्तविकताएँ मुक्त नहीं होने देती हैं। यह तनाव जो चाहने और होने से पैदा होता है, 'कालिदास शृंखला की कविताओं का उत्स है। यही नहीं, वह जब कालिदास की नगरी में पहुँचकर उस नगरी की दुर्दशा से रू-ब-रू होती हैं तो सारी कल्पना बिखर जाती है–

क्या तुमने देखा कालिदास
कि शिप्रा में भी नहीं जल
केवल कीचड़
जिसमें से खोद-खोदकर
ले जा रहे सब शिप्रा के भीतर की
कालगति? (पृ॰ 70)

कालिदास की नगरी में तो अब कालिदास भी नहीं बसते तो क्या कवयित्री के अंतर में स्थित सर्जक से ये संवाद हो रहे थे? सुनीता जैन और कवयित्री सुनीता जैन के बीच या इस यात्रा में उनका सर्जक ही विभाजित हो गया था? उस यात्रा में सतत भावयात्रा भी लगातार चलती रही और आना और जाना साथ-साथ चलता रहा। यात्रा तो अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर ही हो रही थी पर कवि मन कहीं और भटकता-भटकाता रहा–

सोलह के हिसाब से
तो सब गड़बड़ है

इसलिए कहती हूँ
कि छियासठ के हिसाब से
सब बिल्कुल ठीकठाक है

इन बिदाइयों की रुत में
दोनों हाथों से बाँटती हूँ
जो कुछ भी मेरे पास है। (पृ॰ 85-86)

और कवयित्री के पास क्या होता है–शब्द और संवेदना, भाव और छंद, राग और विराग के सिवा। और इन्हें बाँटने में कवयित्री सुनीता जैन ने कभी कोताही नहीं की।

(फैंटेसी, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रकाशन वर्ष 2008, पृ॰ 96, मूल्य 190 रुपए।)

प्रेम में स्त्री

गालिब ने बिल्कुल सही फरमाया–

इश्क पर जोर नहीं, ये वो आतिश गालिब,
जो लगाए न लगे और बुझाए न बने।

–इश्क पर जोर नहीं...पर यह न हो तो जीवन, जीवन कहाँ रह जाता है। दो ही चीज तो हैं दुनिया में या तो इश्क या नफरत। इन्हीं दो ध्रुवों के बीच यह दुनिया और पूरी दुनियादारी फैली है। माना, 'प्रीत किए दुख होय' यह भी अलग-अलग अंदाज़ में खूब कहा गया है। तब भी मनुष्य नफरत का तरफदार नहीं हो सकता। इसलिए लोग मिटने की हद तक प्रेम के तरफदार हो जाते

हैं। यह भी देखा गया है कि आनुवांशिक गुण-सूत्रों में स्त्री में प्रेम की ललक और औत्सुक्य पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा होता है। स्त्री अपनी अबोधक्य में ही अपने खेल में गुड्डे-गुड़िया को शामिल कर लेती है। जब वह अपने गुड्डे को सजाती-सँवारती है तो अनजाने वह उससे प्रेम करने लगती है। तब ही से उसके मन में प्रेम का अंकुरण हो जात है। इसके विपरीत पुरुष की नजर जन्मना –'मोल-तोल' पर होती है। प्रेम को भी वह इसी नजर से देखता रहा है। बालक रेत का अपना घरौंदा बनाता है और अपना बनाया घरौंदा खुद ही तोड़ देता है पर यह स्त्री की ही फितरत है कि बार-बार टूटे घरौंदे को बनाती है। मुमकिन है, यह सवाल उठाया जाए कि 'गुड्डे-गुड़िया का ब्याह रचना और घरौंदे बनाना तो गुज़रे ज़माने की बात हो गई। बच्चे अब वैसे बच्चे नहीं रहे तो प्रेम के मायने भी बदल गए। बेशक, जमाना बदल गया सोच भी बदला। प्रेम में भावुकता कम हो गई। अब स्त्री भी व्यावहारिक हो गई है पर सुनीता जी जिनके काव्य-संकलन प्रेम में स्त्री पर चर्चा कर रहे हैं, वे तो गुड्डे-गुड़िया से जरूर खेली होंगी। प्रेम में समर्पण और प्रेम की उनकी अवधारणा और अपनी प्रेम कविताओं में रचा उनका स्वप्निल संसार तो यही सिद्ध करता है।

सुनीता जैन का काव्य-संकलन प्रेम में स्त्री, इस नजर से भी पढ़ा जाना चाहिए कि यह 'प्रेम की असंभवता' के विरुद्ध कवयित्री की प्रेम में दृढ आस्था का प्रमाण है। इसमें चिड़ियाँ है, वृक्ष है, ऋतु पुष्प है, पक्षी हैं, पक्षियों का मधुर कलरव है और मनुष्यों से बेहतर इनकी पारिवारिकता है–

'तोता'

'जाऊँगा नहीं तो
आऊँगा कैसे तेरे पास
वृक्ष से वृक्ष दिन भर
शाम तक'

'और रात?'

अब तू उन दोनों सा
बोलने लगी।
रात में जागते हैं शहरी!
हम तो सोते हैं! हमें तो
दिन है काफी! है न मैना...?

'ऊँ....'

आज की व्यस्तताओं में यह दृष्टि दुर्लभ है। दृष्टि हो तो तोता-मैना नजर नहीं आते इस महानगर सभ्यता में। खुद न खास्ता ये दिख भी जाए। असंभवता के विरुद्ध तो भीषण कोलाहल में उन्हें सुनना असंभव है और आज की दिनचर्या में, जरूरतों में, ये भी क्या देखने-सुनने की चीज हैं। ये हों तो हों आज इनकी उपस्थिति तो चीजों से भी नगण्य। पर सुनीता जी की दृष्टि इन्हीं पर टिकी होती है और तोता-मैना इन्हें 'बहुत कुछ' दे भी देते हैं। स्त्री की पक्षधर वे जरूर हैं पर स्त्री की अस्मिता और उसके हक को लेकर जो समर मचा है, वे इस 'समरांगण' से दूर हैं–

उसने घर के लिए चुना आँगन
और लीपा

उसने मन के लिए चुना
धान और उसे रोपा

उसने उड़ने के लिए चुना
आकाश बहुत छोटा

उसने गीत के लिए चुना
अवकाश अपने प्रिय का
लीपना
रोपना
उड़ना
और गाना
यही चार धाम
स्त्री ने जाना।

आज के निकष पर तो यह प्रेम आज का प्रेम है ही नहीं। जो इत्मीनान कृषि सभ्यता के दौरान था, जो निष्ठा थी, धैर्य था, उड़ान के लिए अवकाश था, 'रोपने' के बाद उसकी सहज और धैर्यपूर्ण प्रतीक्षा थी 'फसल' के पकने की, घर और गृहस्थी का स्थायी भाव था और इन्हीं में बसे प्राणों से गान की उपज थी, यही जीवन था, इसकी उपज स्वप्न इसी में जीवन की सार्थकता। कहने को कृषि सभ्यता को पीछे छोड़ हम काफी आगे निकल गए हैं पर सारी औद्योगिक प्रगति और तकनीकी उपलब्धि के बाद भी यह जीवन-दृष्टि आज भी बरकरार है। इस सोच और आज की जीवन पद्धति में जो तनाव है, उनमें ये कविताएँ परितोष अवश्य देंगी। यदि कोई अपने दैनंदिनों के तनाव से थोड़ी देर के लिए ही सही, शब्दों की इस कारीगरी से सकून पाना चाहे तो। वर्ना उनकी जीवनशैली के अनुरूप तो सभी कुछ है, तनाव और रक्तचाप बढ़ाने के लिए।

'एक आग का दरिया है और डूब के जाना है' जैसा भयावह भी नहीं है कवयित्री के लिए प्रेम। उसके लिए तो–

प्रेम में स्त्री ने छुआ कलम को
और वह बजने लगी बाँसुरी सी। (पृ॰ 45)

बाँसुरी से स्वर मुखर होते हों या कलम से राग-भाव। जरूरी नहीं कि भावमयता के चरम क्षणों में सहसा आँसू छलछला आए हैं। ये आँसू सुख की पराकाष्ठा में भी छलछलाते हैं और प्रेम में अपने-आपको खो देने की स्थिति में भी, पर वे आँसू भी इस तरह शब्दों में छलछलाते हैं कि वे सहृदय पाठक के हिस्से में भी चले जाते हैं। यही काव्य और कला की पराकाष्ठा है और सर्जक के समस्त काव्यानुभ की फलश्रुति।

'प्रेम' शब्द से एक सहज धारणा यह भी बनती है कि सारे संसार से कटकर प्रिय और प्रिया अपनी कोई अलग दुनिया बसा लेते हैं, किंतु प्रेम समेटता है तो वह अपने को उतना फैला

भी लेता है। और उस दृष्टि में जो कुछ भी समाता है, प्रेममय होकर ही समाता है–

जब वह तोड़ता है पत्थर
भरी धूप में,
छाया में बैठी स्त्री
होती रहती है टुकड़े-टुकड़े

जब वह खोदता है धरती
अपने बहते स्वेद में
स्त्री खोजती है जल
सौ नदियों की शीतलता में

जब वह चलता है
हल के पीछे-पीछे
ताजे बीज उगाने
स्त्री उगती है जल्दी-जल्दी
अंकुर में उसको हर्षाने

स्त्री नहीं जानती
न ही पुरुष प्रेम में
अगल-अलग जीने के
कुछ भी तौर-तरीके। (पृ॰ 26-27)

यहाँ स्त्री अपने से परे जो कुछ अनुभव कर रही है, उसमें प्रेम ही देख रही है। यह उसकी संवेदना का ही विस्तार है। प्रेम में द्वैत नहीं होता और जहाँ दो सत्ताएँ हैं, वहाँ प्रेम जैसा तो हो सकता है पर प्रेम नहीं। दो से एक हो जाना और एक होकर सृष्टि हो जाना ही प्रेम है।

यह प्रेम एक स्त्री का प्रेम है और स्त्री यानि संसार की हर स्त्री के प्रेम की अभिव्यक्ति। इसीलिए इस भूमि पर हज़ार रंग, हजार फूल, हजार खुशबुएँ नजर आएँगी और हर रंग, हर फूल और हर ख़ुशबू में एक-दूसरे के लिए जगह है। एक ऐसा उत्सव है प्रेम जो कभी समाप्त नहीं होने देता। व्यक्ति के अपने किस्से हो सकते हैं। सफलताएँ-विफलताएँ नजर आ सकती हैं। आकर्षण और विकर्षण से प्रेम को लेकर धारणा बनाई जा सकती हैं। पर प्रेम जब व्यक्ति से समष्टि की व्याप्ति पा लेता है तो उसकी तासीर बदल जाती है।

कुल मिलाकर हम यही कह सकते हैं कि हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में ठुमरी की जो खासियत है, लगभग ऐसा ही असर 'प्रेम में स्त्री' की कविताओं का है, जो राग की स्वर लिपि में निबद्ध भी है पर वह उड़ान को पूरा अवसर भी प्रदान करता है।

सुनीता जी की इन कविताओं से 'प्रेम में स्त्री' को अपनी गरिमा हासिल करने का अवसर तो मिलेगा ही। संवेदनशील पुरुष पाठक भी इस रागदारी से जुड़कर उन सारी परतों से बाहर आने की कोशिश करेगा जो उसको प्रेम से परे करती है और इनमें स्वयं को विसर्जित कर वह खुद चकित भी हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।

'प्रेम में स्त्री' की कविता हमें जीने का एक अलग शालीन ढंग भी सिखलाती है।
(प्रेम में स्त्री, संस्करण 2006, पृ॰ 96, मूल्य 75 रुपए)

रसोई की खिड़की में

सहसा सुनीता जी की एक काफी पुरानी कविता पर नजर गई–

इस साल कोयल नहीं बोली
न ऐनक उतारकर रखी
न खिड़की खोली

यह कविता उन्होंने सन् 1975 के आसपास कभी लिखी थी। उनके पहले काव्य संकलन हो जाने दो मुक्त में पढ़ी जा सकती है और अब सन् 2010 में प्रकाशित का संकलन 'रसोई की खिड़की' में संकलित एक कविता पर गौर करें–

यह पहली दफे हुआ
कि कोयल बोल रही है
और मेरा मन नहीं
कि मेरे तन की वीथियों में
मेरा ही तन नहीं

लगभग तैंतीस साल का अंतराल है इन दो काव्यांशों में दो भिन्न विकलताएँ हैं। पहले अंश में कोयल के कूक की प्रतीक्षा है। वह कूक कवयित्री के अंतर की भी है। संभावना है, देर से ही सही, कूकेगी अवश्य। अंतर की कूक निश्चय ही कविता का आगमन। इसलिए चश्मा नहीं उतारा कि उसे चढ़ाने की हड़बड़ी में अंतर की कूक अनसुनी न रह जाए। इसके लिए बाहर की खिड़की खोलना भी जरूरी नहीं। जरूरी है, अंतर से जुड़ना।

दूसरे अंश में बाहर कहीं कोयल कूक रही है पर मन कहीं और भटक रहा है और देह कहीं और कोयल कूक व्यर्थ हो रही है और अंतर की कूक के होने न होने का भी अर्थ नहीं रहा! पहले अंश में रचना के लिए विकल आतुरता है। अभिव्यक्ति का वह चरम क्षण व्यर्थ न हो जाए। मेरे प्रिय कवि स्व॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन' की पंक्तियाँ याद आ गईं–

आह अरणि में तप्त तूल तन कोई रगड़ गया
सबने साध लिए ज्योतिर्क्षण मैं ही पिछड़ गया

एक कवि की उपलब्धि यही तो है कि वह 'ज्योतिर्क्षणों' को साध ले। कोयल की कूक सुन ले और उसमें अपने को रमा ले। पर बेमानी और भागमभाग में अक्सर यह सहज और साध हो नहीं पाती।

सुनीता जी की सुदीर्घ काव्य-यात्रा और इसी में उनकी जीवन-यात्रा की पड़ताल करें तो पता चलेगा कि बहुत ही कोमल तंतुओं और बड़ी सुघड़ता से उन्होंने अपनी कविता बुनी। नफासत से ही वे सब-कुछ करती हैं। आप चाहें तब भी उनकी कविता से एक शब्द भी इधर-उधर नहीं कर सकते। कुछ जोड़ने या हटाने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। पर 'रसोई की खिड़की में' तक आते-आते उनकी कविता अपने व्योम से उतर कर धरती के सख्त और तप्त धरातल पर चलती नजर आती है। इस भूमि पर कंकड़-काँटे चुभते हैं और कविता पर इसका असर भी नजर

आता है। (यह सब होते हुए भी उनकी कविता-राग का 'थाट' वही है। व्याकरण नहीं बदला-मूड बदल गया है। इस वजह से भी 'रसोई की खिड़की में' की कविताएँ बारबार हमारा ध्यान अपनी ओर खींचती है। पाँव कोमल हों पर यदि उन्हें पथरीले रास्तों पर चलना पड़े तो वे उस पर चलने के भी अभ्यस्त हो जाते हैं। चलने का संकल्प पक्का होना चाहिए। जीवन की विषमताओं से जूझते हुए उनकी कविताएँ पिछली कविताओं की तुलना में गद्यात्मक हुई हैं। इसीलिए उनमें इतिवृत्तों का प्रवेश भी हुआ। समय के साथ दुखों के दबाव बढ़े, दुखों के चेहरे बदल गए, फैलाव बढ़ा। पहले सुनीता जी की कविताएँ 'स्पेस' में ज्यादा नजर आती थीं, अब वे 'टाइम' में नजर आने लगीं। टाइम-'फोकस' हुआ तो चरित्र अधिक स्पष्ट होकर कविताओं में नजर आए–

एक-एक कर उधड़ गए
टाँके जीवन के
किस-किस को गिनें
गिनवाएँ किसे (पृ॰ 36)

पर जीवन, यात्रा, पड़ाव, उपलब्धि, थकान, मोड़, पीड़ा, हताशा, अवसाद, एकाकीपन और इन सबसे उपजी निरर्थकता में भी कवयित्री के लिए यदि एकमात्र सहारा है तो वह है सृजन। और इसमें उत्प्रेरक की महती भूमिका-'सखा' की है। यह 'सखाभाव' अपने उदात्त रूप में हमारे हिंदी भक्त कवियों में सबसे प्रबल रहा है। यही भाव इसी रूप में सुनीता जी की कविता-धारा में संचारित है–

पूरी आयु गई सखा
तुम्हें खोजते-खोजते
मिले ही नहीं कभी
जाने कहाँ छूटे (पृ॰ 29)

यही सखाभाव उनके काव्य संकलन–'हो जाने दो मुक्त' में अधिक मांसल और घनीभूत होकर व्यक्त हुआ है–

उड़ चले फिर प्राण/ डाली छोड़कर
जिस पर सखा
अभिसार अब तक
रत गगन से भी अधिक
विस्तारमय होता रहा है

बार-बार आगे-पीछे की यह आवाजाही केवल इसलिए हुई कि सुनीता जी की सर्जना की अविरलता में जो स्थायी तत्त्व नजर आते हैं, उनमें उनका 'सखाभाव' प्रमुख है। जो कभी अन्य संचारी भावों में वेष्ठित होता है तो कभी निरावृत्त होकर।

प्रेम, कवयित्री की सर्जना का केंद्रीय भाव है। इसी भाव ने उन्हें गढ़ा और उन्होंने शब्दों की एक पूरी सृष्टि रच दी। जितना गहरा आकर्षण, विकर्षण उतना ही इसी के बीच कितने-कितने संकल्प-विकल्प! इसी में विन्यस्त जीवन दिनचर्या–

वह प्रेम कर रही थी
उन सभी लोगों और वस्तुओं से

जिन्हें वो प्यार करता था

वह प्रेम कर रही थी
उसकी सारी अतृप्तियों से
आकांक्षा और सीमाओं से भी (पृ॰ 12)

वह अकुलाई उसके भीतर के
देवत्व के लिए
वह छटपटाया उसकी गदराई देह के लिए (पृ॰ 24)

सीख लेंगे दोंनो अलग-अलग रहना
जैसे सीख लेती हैं नदियाँ
दहानों से पहले धाराओं में बहना (पृ॰ 27)

एक आसीस/ एक स्वास्तिवाक्
बच ही जाएगा उसके लिए (पृ॰ 33)

यही जीवन है–धूप-छाँही। हर क्षण घटता कुछ-न-कुछ अनुकूल-प्रतिकूल। इन्हीं को दर्ज करती कवयित्री अपनी कविता में। दर्ज करती जीवन की साँस शब्दों में। बीतते दिन पर दिन कुछ पाने, कुछ खोने में। उसकी हँसी उसके आँसुओं के गवाह उसके रचे गए शब्द। सृजन में व्यस्त सारे अलगाव-लगाव स्पष्ट-दो टूक।

इस संकलन में गृह और गृहस्थी को भी छूट मिली है। भूगोल व्यापक हुआ है। (पाठक संकलन के पीछे कवयित्री का परिचय पढ़ेंगे तो पाएँगे–उनके दो घर हैं। दो देश उनके स्वदेश दोनों उसके लिए परदेस।) कुछ परदेस में छूटता है तो उसे अपनी रचनाओं में सुनीता जी सहेज लेती हैं। और जहाँ का संग्रह उन्हें बोझ लगने लगता है, घर पर और मन पर, तो वह उन्हें भी हटाने लगती है–

वह फेंक रही है
सबसे पहले, अपने चित्र, पुराने अलबम,
अपने मैडल और सर्टिफिकेट, डिग्री
बाकी जो भी हो,
ये तो नितांत कूड़ा है। (पृ॰ 65)

बेटा कह रहा था बार-बार
'मम्मी समेटिए इन्हें।
फेंक दीजिए न पत्रिकाएँ (पृ॰ 48)

आज स्वयं ही
कूड़े में डाल रही थी
अपनी कविता
अपनी कहानी (पृ॰ 49)

इतने जतन से रचा (इसका पूरा हिसाब-किताब कवयित्री के हर कविता संग्रह में सावधानी से दर्ज है और अपनी साँस, अपना सुकून, रात की बेचैन खामोशी और रचे जाने का सुख संतोष यह सब भी उनकी कविताओं में दर्ज) वह सब भौतिक अभौतिक सब-कुछ व्यर्थ, इतना वैराग्य।

सुनीता जी ने अपनी बेटी के लिए भी कुछ मार्मिक कविताएँ लिखी हैं। 'कैंसर' शब्द ही विचलित करने को काफी है, पर यही असाध्य रोग यदि किसी अपने को अपनी चपेट में ले ले तो उस पर क्या बीतेगी यह कवयित्री सुनीता जैन की अपनी बेटी पर लिखी मार्मिक कविताओं से जाना जा सकता है–

मेरी बच्ची, आ
मैं मरूँ तेरी जगह
मैं लड़ूँ तेरी लड़ाई
और तू हँसे पहले सी
मेरे घर में सुनाई दे
तेरी किलक/ तेरी हँसी
और मैं तेरी माँ करती कुछ भी नहीं
कर सकती नहीं कुछ भी
एक संपाती, पर जली (पृ॰ 60)

अपना समय अपनी पीड़ा अपनी असहाय निरीहता को समय का उल्लंघन करवा संपाती को प्रतीक बना एक पंक्ति में वे सब-कुछ व्यक्त कर देती हैं जो बड़ी कविता में भी नहीं सधता है। यही है उनका काव्य-कौशल।

घर का कोई विकल्प नहीं है। घर की चारदीवारियों के घेरे में हम कितना ही ऊबें, घर से दूर भागें पर वह फिर हमें अपनी ओर खींचता है। घर अर्थात् भरापूरापन घर अर्थात् रिश्तों का ताना-बाना, घर जहाँ धँसी अपनी जड़ें, घर याने हमारा अतीत, वर्तमान और वही भविष्य की उम्मीद। सुनीता जी पहली बार अपने घर नहीं अपने रसोईघर और उसकी खटर-पटर में नजर आईं–शुद्ध गृहणी की भूमिका में–

जो थोड़े से दिन हाथ में हैं
(यदि हैं)

काटना नहीं चाहती इन्हें
सब्जी काटते-काटते
दाल छौंकते या कपड़े फटकते
सोचती हूँ रसोईघर में खड़े-खड़े

हाथ चलते हैं
यंत्र चालित,
मन भटकता है आप ही आप
कहता हो ज्यों–

नहीं काटने बाकी के दिन
अलसाते या लेटे (पृ॰ 50)

यह होने या न होने का द्वंद्व है। स्वप्न और यथार्थ के बीच का तनाव। इस तनाव को झेलता है जीवन और इसी खिन्नता की उपज ये भिन्न स्वाद की कविताएँ हैं। (कवयित्री की कलम से कुछ भी नहीं छूटता।) इस अवसाद में भी उनका मन कभी-कभी अपना आकाश पा ही जाता है।

इस संकलन में निवेदिता वर्मा पर कविताएँ हैं तो कवि नरेश सक्सेना के लिए भी एक कविता है। सपने में माँ की आमद है तो विदेशी वातावरण में अपने दस बीमारियों को झेलती और अपने 'राम जी' को याद करती भारतीय माँ की दुर्दशा का मार्मिक चित्र गहरे अवसाद में ले जाता है। कोई श्रीमती रेड्डी कवयित्री की संवेदना को झकझोर देती है तो आयशा का चरित्र उसकी सक्रियता पाठक के मन में श्रमशील स्त्री और उसके स्वाभिमान को रचती है। आज के कवियों के अहंकार के समानांतर महादेवी 'निराला' के सहज स्नेह बंधन और तत्परता याद दिलाती है। कवि होने के अर्थ ही बदल गए। इस बेहाल समय में सुनीता जी को लगता है–

मेरे चेहरे से उतर गया है
मेरा चेहरा
सीने में बज रहा है
कोई बेसुरा तबला

जानती हूँ कि शाम है
चुक गया ईंधन, अलाव कम है
तो भी/ तो भी
यह आँख क्यों नम है? (पृ॰ 104)

कई दृष्टियों से 'रसोई की खिड़की में' की कविताएँ उनके पिछले तमाम संकलनों से अलग हैं। उम्र हमें वह भी सौंपती है जो उससे कतई नहीं चाहते पर यदि हमने रम्य, आत्मीय और स्मरणीय इस जीवन में पाया है तो जो कटु और तिक्त है उसके लिए हम इनकार नहीं कर सकते पर तब भी आँखों में नमी है मन में संवेदना है, औरों के लिए मन में तड़प है और अभी भी रचने की संभावना खत्म नहीं हुई है तो जो भी रचा जाएगा–मधुर या तिक्त, वह सब जीवन का संबल हो जाएगा और ये सारे थपेड़े सह लिए जाएँगे। यही सुनीता जैन की ताकत है और उनकी सहज निष्ठा चाहे वह मनुष्य के प्रति हो या अपने प्रेम के प्रति, जीवन और कविता में महक पैदा करते रहेंगे।

सुनीता जी के ये तीनों काव्य-संकलन और इनमें संकलित सारी कविताएँ उनका शब्द-विग्रह हैं।

(रसोई की खिड़की में, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण 2010, पृ॰ 104, मूल्य 200 रुपए)

205, **सेठी नगर**
उज्जैन (म॰प्र॰) 456010
मो॰ 0734-2516832

गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लों में युग-बोध

डॉ॰ मधु खराटे
पूर्व अधिष्ठाता, कला एवं ललितकला संकाय
उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय
जलगाँव (महा॰)

हिंदी-ग़ज़लकारों में गिरिराजशरण अग्रवाल का स्थान अतिविशिष्ट है। हिंदी-ग़ज़ल की श्रीवृद्धि में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी ग़ज़लों में विषय की विविधता दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से आधुनिक युगबोध को वाणी प्रदान की है। अब तक उनके छह ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं–सन्नाटे में गूँज, भीतर शोर बहुत है, मौसम बदल गया कितना, रोशनी बनकर जीओ, शिकायत न करो तुम, आदमी है कहाँ।

ग़ज़ल में आदमी और जीवन से जुड़े हुए विषयों का जितना विस्तार होता है, ग़ज़ल का शायर उतना ही परिपक्व, विवेकशील और विशिष्ट माना जाता है। समकालीन जीवन जीता हुआ जो आम आदमी हर कदम पर हमारे साथ चलता है, उससे हम मिलते तो रहते हैं, लेकिन हमारी सोच के हाथ कभी इसकी भीतर तहों तक नहीं पहुँच पाते हैं। डॉ॰ गिरिराज जी ने एक क्षण में वे सारे आवरण उठा दिए हैं, जो इस आधुनिक युग के आम आदमी के हर विरोधाभास को छिपाए हुए रहते हैं। अर्थात् बाहर से शांत, अंदर से व्याकुल, बाहर घोर चुप्पी, अंदर बेहद शोर, बाहर फूल की भाँति खिला हुआ, अंदर काँटों से भरा सुनसान जंगल लिए हुए, बाहर से जितना सुसभ्य, भीतर से उतना ही वहशी, बाहर से पूरा आबाद, भीतर से कतई निर्जीव, बाहर गीतों की मधुर सी गूँज, अंदर चीत्कार। यही है आज के आम आदमी के जीवन की सच्चाई। डॉ॰ अग्रवाल दूसरों की तरह चिल्लाए नहीं, टूटकर कभी रोए नहीं। उन्होंने इस ज़हर को चुपचाप पी लिया है और फिर अशआरों के साँचे में ढालकर सुनने-पढ़ने और गुननेवालों के सामने प्रस्तुत कर दिया है।[1]

नि:संदेह, अग्रवाल की ग़ज़लों में आम आदमी का चित्रण प्रामाणिकता से हुआ है। आम आदमी के जीवन की विविध समस्याओं को उन्होंने अभिव्यक्त किया है। मनुष्य को अपने जीवन में सतत संघर्षशील रहना चाहिए। उसे प्रयत्नशीलता को विशेष महत्त्व देना चाहिए। यही संदेश वह अपनी ग़ज़लों के माध्यम से देना चाहते हैं। जीवन में कोशिश करनेवाले की कभी हार नहीं होती। मनुष्य स्वप्नदर्शी प्राणी है। वह अपने जीवन में खुशहाली के स्वप्न देखता है, किंतु स्वप्नों को साकार करने के लिए प्रयत्न आवश्यक है–

सूखे हुए फूलों-सा बिखरता ही रहा है
कोशिश के बिना कोई भी सपना न हुआ सच।[2]

मनुष्य को भाग्यवादी नहीं, बल्कि प्रयत्नवादी होना चाहिए। बैठे-बिठाए कुछ भी नहीं

मिलता। कुछ पाने के लिए हाथ-पैर हिलाना जरूरी है। लक्ष्य की प्राप्ति हेतु नियोजन एवं परिश्रम जरूरी है। जीवन में क्रियाशीलता निहायत जरूरी है। इस बात पर प्रकाश डालते हुए ग़ज़लकार अग्रवाल लिखते हैं–

कंदील को बाजार से लाना तो पड़ेगा
घर बैठ के कमरे में उजाला नहीं आता।
बिन हाथ हिलाए तो सफलता न मिलेगी
खुद उठ के कभी मुँह में निवाला नहीं आता।[3]

था जोर तो चट्टान से धारा निकल आया
धरती का जिगर तोड़कर पौधा निकल आया।
संभावना जो भी है, वो कोशिश में छिपी है
खोदा है मरुस्थल को तो दरिया निकल आया।[4]

अच्छे विचारों का अमल में आना जरूरी है। केवल अच्छे विचार होना, अच्छे स्वप्न देखना ही काफी नहीं है। उनकी प्राप्ति के लिए क्रियान्वयन आवश्यक है। स्वप्नों को साकार करने के लिए हमेशा कटिबद्ध रहने की सीख गिरिराजशरण अपनी ग़ज़लों में देते हुए लिखते हैं–

सोते हुए हर दिल को जगा लो तो बात है
बस्ती कोई उल्फत की बसा लो तो बात है।
इच्छा तो सिर्फ जागती आँखों का स्वप्न है
इसको अमल के रूप में ढालो तो बात है।[5]

समय के साथ-साथ परिवेश में परिवर्तन होता रहता है। अत: समय के साथ चलना जरूरी है। 'परिवर्तन प्रकृति का नियम है' यह हमें कभी भी भूलना नहीं चाहिए। जो समय के साथ नहीं चलता है, वह टूट जाता है, बिखर जाता है, पिछड़ जाता है। यदि हमें दुनिया से मुकाबला करना है तो वक्त के साथ बदलना ही होगा–

समय के साथ बदलने का गुण नहीं तुझमें
न कर सकेगा तू दुनिया का सामना, योगी।[6]

जीवन में मनुष्य को हमेशा यह याद रखना चाहिए कि जीवन को सार्थक बनाना जरूरी है। मनुष्य कितने दिनों तक जीवित रहता है, इससे बात नहीं बनती, बल्कि वह कितनी प्रामाणिकता से, कितने त्याग से, कितने अपनेपन से जीवन जीता है, उससे बात बनती है। इसलिए मनुष्य में जीवन जीने की कला होनी चाहिए। केवल खाना, पीना और सोना ही जीवन नहीं होता, यह तो कीड़े-मकोड़े का जीवन है। मनुष्य को चाहिए कि वह समय का सुदपयोग करे और अपने जीवन को सफल और सार्थक बनाए–

वो भीड़ हो, एकांत हो, बाजार हो, घर हो
जीना है उसी का जिसे जीने का हुनर हो।
दिन-रात बिता देने को जीवन नहीं कहते
यह देख कि दुनिया में समय कैसे बसर हो।[7]

गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लों में हमें मानवता और विश्वबंधुत्व का स्वर सुनाई देता

है। भारतीय संस्कृति का मुख्य संदेश अर्थात् 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना को उन्होंने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से वाणी दी है। इस बात पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ अनिलकुमार शर्मा लिखते हैं, 'विश्वबंधुत्व और मानवता का संदेश देते डॉ॰ अग्रवाल का जीवन के प्रति व्यापक दृष्टिकोण उन्हें साठोत्तरी हिंदी-ग़ज़लकारों में अग्रणी ग़ज़लकार के रूप में प्रतिष्ठित करता है। डॉ॰ गिरिराजशरण जी का मानना है कि केवल अपने लिए जीने वालों की कहीं गणना नहीं होती। जिंदगी तो उन लोगों की है, जो विशिष्ट गुणों, चारित्रिक विशेषताओं एवं अपने सद्कार्यों के कारण मरने के बाद भी लोगों के दिलों में जिंदा रहते हैं।'[8]

निश्चित ही जो दूसरों के लिए है जीता वही इंसान कहलाने के योग्य है। मनुष्य को अपने जीवन में संकुचित भावना को त्यागना जरूरी है। दूसरों के दुख-दर्द में शामिल होना आवश्यक है। अपना-पराया की भावना अत्यंत घातक होती है, इससे ऊपर उठना चाहिए। इस बात को डॉ॰ अग्रवाल ने अत्यंत मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है–

एक ही परिवार है, संसार कहते हैं जिसे
गैर को अपना समझ, अनजान को अपना समझ।
पीड़ितों की भीगती पलकों से मत आँखें चुरा
आँख के गिरते हुए आँसू को भी दरिया समझ।[9]

'जीवन चलने का नाम, चलते रहो सुबहों-शाम' का संदेश भी अग्रवाल की ग़ज़लों में परिलक्षित होता है। मनुष्य को अपने जीवन में निरंतर आगे बढ़ते रहना चाहिए। रास्ते में मुसीबतें कितनी भी क्यों न हों, घबराना नहीं चाहिए, बल्कि गाते-मुस्कुराते हुए मार्गक्रमण करना चाहिए। अपने पीछे आने वाले लोगों के लिए मार्ग को निष्कंटक एवं प्रशस्त बनाते हुए आगे बढ़ते रहना मनुष्य का लक्ष्य होना आवश्यक है–

रात लंबी सही, गुनगुनाते चलो
गीत गाते चलो, मुस्कुराते चलो।
पीछे-पीछे मुसाफिर बहुत आएँगे
पथ से पत्थर के टुकड़े हटाते चलो।[10]

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने अपनी ग़ज़लों में राजनीतिक बोध की भी अभिव्यक्ति की है। जनतांत्रिक शासन-प्रणाली में संसद का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, किंतु आज वही संसद पक्ष और विपक्ष के सांसदों का अखाड़ा बनकर रह गई है। समस्याओं को हल करने के स्थान पर केवल निरर्थक बहस होती रहती है। इस बात पर व्यंग्य करते हुए गिरिराजशरण अग्रवाल अपनी एक ग़ज़ल में कहते हैं–

किसी भी काम के मुद्दे पे बहस हो न सकी
भड़क के शोर मचाता रहा सदन क्या-क्या।[11]
वार्ताओं में उलझकर कर्म को भूले रहे
हल कोई निकला नहीं, बहसें बहुत होती रहीं।[12]

वर्तमान राजनेता स्वार्थ के दलदल में नख-शिख डूबे हुए हैं। कुर्सी प्राप्त करना और भ्रष्टाचार करना उनका एकमात्र उद्देश्य रह गया है। जनसेवा, लोकसेवा, जनकल्याण आदि बातों से उन्हें कोई लेना-देना नहीं। उन्होंने राजनीति को व्यापार बनाकर रख दिया है। वे आम आदमी

का शोषण करते हैं। समाज-सेवा का ढोंग रचते हैं। तरह-तरह के झूठे वादों और नारों से लोगों को भ्रमित करते रहते हैं। उनकी बातें खोखली होती हैं। ऐसे राजनेताओं पर व्यंग्य करते हुए अग्रवाल लिखते हैं–

लोकसेवा नाम है जिसका वो है सौदागरी,
आँख में वादे सजा, होंठों में कुछ नारे सजा।[13]

भ्रष्टाचार आज देश की महत्त्वपूर्ण समस्या बनकर उभरी है। देश में चारों तरफ भ्रष्टाचार का बोलबाला है। सामान्य कर्मचारी से लेकर बड़े-बड़े अधिकारी तथा राजनेता भी इसमें सम्मिलित हैं। इसके खिलाफ समय-समय पर आवाज उठाई गई है। भ्रष्टाचार ने सारा माहौल गंदा बना दिया है। इस भ्रष्टाचार के खिलाफ हिंदी-ग़ज़लकारों ने भी जमकर लेखन किया है। गिरिराजशरण ने भी अपनी ग़ज़लों के माध्यम से भ्रष्टाचार के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद की है।

उनकी मान्यता है कि देश में चारों ओर 'लेन-देन' का बोलबाला है। इंसानियत का सौदा हो रहा है। चंद पैसों के लिए आदमी बिक रहा है। ईमान की कोई कीमत नहीं रह गई है। बिना कुछ काम किए ही लोगों को तरह-तरह की उपाधियों से सम्मानित किया जा रहा है, यह सब-कुछ निराशा और हताशाजनक है। इस पर व्यंग्य करते हुए अग्रवाल लिखते हैं–

उपकार का सौदा हुआ, एहसान का सौदा हुआ
स्वार्थ की कीमत में अब, इंसान का सौदा हुआ।
आदमी ढलने लगा बाजार के माहौल में
प्रेम का सौदा हुआ, ईमान का सौदा हुआ।
बिन कोई सेवा किए कुछ लोग पदवी पा गए
सबको यह मालूम है, सम्मान का सौदा हुआ।[14]

वर्तमान युग में रिश्वतखोरी ने हर क्षेत्र में अपने पैर जमा लिए हैं। इसमें केवल पैसा ही शामिल नहीं है, बल्कि 'शराब' और 'शबाब' भी शामिल हो गए हैं। अधिकारी किसी का काम करने के लिए धन के साथ-साथ सुरा और सुंदरी की माँग करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। उनका पूरी तरह से नैतिक पतन हो चुका है। इसीलिए अग्रवाल कहते हैं–

घूस को लगते हैं इससे चार चाँद
कितना काम आती है बोतल मानिए।[15]

गिरिराजशरण अग्रवाल ने पुलिस-व्यवस्था के विरुद्ध भी अपनी ग़ज़लों के माध्यम से प्रहार किया है। सामान्य आदमी यदि गलती से भी कुछ अपराध करे तो पुलिस उसे तुरंत गिरफ्तार कर लेती है। बड़े-बड़े व्यक्तियों और राजनीतिज्ञों को ढूँढ़ने में सफल नहीं हो पाती। वह शख्स शहर में ही होता है, किंतु उसका पता इन्हें नहीं चल पाता। क्योंकि उनकी नीयत में ही खोट है–

पुलिस खोजती फिर रही थी, जिसे
इलैक्शन वह जीता, विधायक हुआ।[16]
बना हुआ है पुलिस का जो वादा-माफ गवाह
वह कत्ल करने में सब कातिलों से आगे था।[17]

इसमें कोई संदेह नहीं है कि वर्तमान पुलिस-व्यवस्था पूरी तरह से अव्यवस्थित बन चुकी

है। पुलिस विभाग शोषण और भ्रष्टाचार का पर्याय बन चुका है। पुलिस विभाग के कर्मचारी और अधिकारी अपने दायित्व को भूल चुके हैं। पुलिस स्टेशन, जो कभी न्याय का मंदिर समझे जाते थे, वे आज अन्याय के अड्डे बन गए हैं। अत: गिरिराजशरण अग्रवाल का इन परिस्थितयों को देखकर आक्रोश करना अनुचित नहीं है।

समाज में धीरे-धीरे मानवीय मूल्यों का पतन हो रहा है। यह स्थिति अत्यंत चिंतनीय है। मानवीय मूल्य जैसे प्रेम, अपनापन, मानवता, निस्वार्थवृत्ति, सत्य, ईमानदारी, संवेदना आदि का विघटन होता चला गया। इन परिस्थितियों से ग़ज़लकार का दु:खी होना स्वाभाविक ही है। अत: उन्होंने इन तमाम बातों को कथ्य बनाकर अपनी ग़ज़लों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

समाज में इंसानियत कहीं खो गयी है। आज ढूँढने से कोई सच्चा आदमी नहीं मिलता। सब अपनी-अपनी ज़िंदगी जीने में लगे हैं। दूसरों के लिए कुछ भी करने के लिए कोई तैयार नहीं है। यह स्वार्थी प्रवृत्ति समाज के लिए अत्यंत घातक एवं निंदनीय है। जो केवल अपने लिए जीता है, उसकी जिंदगी का कोई अर्थ नहीं है। आदमी तो वह होता है, जो दूसरों के लिए जिये अन्यथा वह आदमी कहलाने के योग्य ही नहीं है–

यों तो है रास्ता-रास्ता आदमी
खोजता हूँ कहाँ खो गया आदमी।
ज़िंदगी जिसकी हो सिर्फ अपने लिए
वह भी क्या आदमी, वह भी क्या आदमी।[18]

ढूँढता हूँ, मगर हाथ आती नहीं
आदमीयत गई तो गई है कहाँ।[19]

बेईमानी, झूठ, फरेब, धोखा, विश्वासघात आदि बातें समाज में आम हो गई हैं। किसे मित्र समझें, किसे दुश्मन कुछ समझ में नहीं आता। हम जिस पर विश्वास करते हैं, वही हमें धोखा दे जाता है। कोई दूसरा यदि हमें आहत करे तो उतना दु:ख नहीं होता, लेकिन कोई अपना ही हमें धोखा दे तो बहुत पीड़ा होती है। विश्वासघात की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए गिरिराजशरण अग्रवाल कहते हैं–

कहने को तो सब थे मित्र मगर ये न पूछिए
किस-किस की आस्तीन में खंजर नहीं मिला।[20]

गिरिराजशरण अग्रवाल ने अपनी ग़ज़लों में आतंकवाद और अलगाववाद की समस्या को दृष्टिकेंद्र में रखकर भी कुछ ग़ज़लें लिखी हैं। यह ऐसी समस्या है, जिससे देश की एकता और अखंडता में बाधाएँ निर्माण होती हैं, बेगुनाहों की जान चली जाती है, आपसी सद्भाव नष्ट हो जाता है, समाज में विषाक्त वातावरण का निर्माण हो जाता है–

किस कदर अलगाव का खंजर कटीला हो गया
जातियाँ बँटने लगीं, घर-घर कबीला हो गया।[21]

निश्चित ही इस अलगाव और आतंकवाद के कारण सांप्रदायिकता बढ़ने लगती है। लोग छोटे-छोटे गुटों में बँटने लगते हैं। जातिवाद पनपने लगता है। भाईचारा समाप्त हो जाता है। देश की प्रगति रुक जाती है। ग़ज़लकार यह चाहता है कि इन परिस्थितियों में बदलाव जरूरी है। किसी

स्वस्थ समाज के लिए ये परिस्थितियाँ घातक हैं। अलगाववाद और आतंकवाद किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। जीवन में सद्भाव जरूरी है, मिलजुलकर रहना जरूरी है। अत: गिरिराजशरण लोगों को यह समझाने की कोशिश करते हैं कि यह मार्ग गलत है। इसे हमें त्यागना होगा, तभी देश में अपनापन बना रह सकता है–

काफ़िला साथ में ले, हाथ बढ़ा, हाथ बढ़ा
रुत है अलगाव की, आ प्यार का परचम बन जा।
अब के महफिल में किसी को भी अकेला मत छोड़
दोस्त इसका तो किसी और का हमदम बन जा।[22]
फूल की चर्चा करो, गुलजार की चर्चा करो
नफरतें बढ़ने लगी हैं, प्यार की चर्चा करो।[23]

ग़ज़लकार अग्रवाल ने अपनी ग़ज़लों में महानगर और शहरीकरण की समस्याओं की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है। महानगरों में रहने वाले लोग इतने संवेदनहीन हो गए हैं कि उन्हें किसी से कोई लेना-देना नहीं है। वे न तो किसी के लिए रोते हैं और न किसी के लिए कुछ करना चाहते हैं। रात-दिन महानगरों में यातायात चलता रहता है। चौबीसों घंटे महानगर जागता ही रहता है। महानगरों में आए-दिन हादसे होते रहते हैं। ऐसी कई समस्याओं से वहाँ के लोगों को जूझना पड़ता है। ज़िंदगी का कोई भरोसा नहीं है–

लोग रो-रो के दामन भिगोते नहीं
अब किसी के लिए जान खोते नहीं
जाने कब कोई वाहन इन्हें रौंद दे
रात-भर, रास्ते हैं कि सोते नहीं।[24]

महानगरों में हर रोज नए-नए कारखानों का निर्माण हो रहा है। यह देश की भौतिक प्रगति के लिए जरूरी भी है। किंतु इन कारखानों और प्रकल्पों से निकलने वाला धुआँ, रासायनिक पदार्थ वातावरण को प्रदूषित कर रहे हैं। वायु एवं जल प्रदूषण का असर जन-जीवन पर होता है। मनुष्य ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षियों का जीवन भी इससे प्रभावित होता रहता है। इस प्रदूषण की समस्या पर प्रकाश डालते हुए अग्रवाल लिखते हैं–

कारखानों की नगरी : धुआँ ही धुआँ
तेरे चेहरे पर मल दे न काजल हवा[25]

गिरिराजशरण की मान्यता है कि देश की प्रगति हेतु शहरीकरण, प्रकल्पों का निर्माण जरूरी है किंतु उससे भी जरूरी है पर्यावरण की सुरक्षा। शहरीकरण के नाम पर प्रकृति के साथ खिलवाड़ नहीं होना चाहिए। यदि हम पर्यावरण की रक्षा नहीं करेंगे तो उसके दुष्परिणाम भयंकर हो सकते हैं। मानव और सृष्टि खतरे में पड़ जाएगी। इन बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है, नहीं तो कयामत का सामना करना पड़ सकता है। इसीलिए वह सचेत करते हुए कहते हैं–

शहरीकरण तो ठीक है, लेकिन यह ध्यान रख
पुरवा हवा हो, बाग हो, घर हो, घटा हो[26]

साहित्य एवं दर्शन का अटूट संबंध होता है। प्रत्येक साहित्यकार की एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है। साहित्यकार की दार्शनिक विचारधारा उसके साहित्य के माध्यम से हम तक

पहुँचती है। गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लों में भी हमें दार्शनिकता परिलक्षित होती है। भारतीय जीवन-दर्शन के कई आयाम उनकी ग़ज़लों में दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी मान्यता है कि मनुष्य का जीवन विशाल होना चाहिए। उसमें कहीं भी संकुचित भावना को जगह नहीं मिलनी चाहिए। विशालता और उदारता ही जीवन की पहचान है, क्योंकि आत्मकेंद्रित जीवन निरर्थक होता है–

सिमटे तो एक कतरा, फैले तो इक समंदर
कैसे बताऊँ तुमको, क्या कुछ है ज़िंदगी भी।[27]

जीवन में सत्य का स्थान सर्वोपरि है। झूठ शाश्वत नहीं होता। एक झूठ को छुपाने के लिए हमें सौ झूठ बोलने पड़ते हैं। झूठ की गति बड़ी तीव्र होती है। इसीलिए कहा जाता है कि सच जब तक जूता पहनता है, झूठ सारे गाँव का चक्कर लगा आता है। किंतु वह बहुत समय तक टिक नहीं पाता। सच हमेशा सच होता है। सच परेशान जरूर होता है, किंतु पराजित नहीं होता। सच कटु होता है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एक-न-एक दिन सच सामने आ ही जाता है–

झूठ पॉलिश है, उतर जाता है लम्हे-भर के बाद
बात कड़वी ही सही, सच हो तो मानी जाएगी।[28]

मनुष्य का जीवन ईश्वर द्वारा प्रदत्त एक अनमोल नजराना है। ईश्वर ने हमें जो अमूल्य जीवन दिया है, उसका हमें सही इस्तेमाल करना चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य के निर्माण में वह स्वयं ही पत्थर है, वह स्वयं ही कारीगर है तथा वह स्वयं ही वे उपकरण, जिससे कि एक पाषाण प्रतिमा में परिवर्तित होता है। अत: मनुष्य को अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिए, क्योंकि यह जीवन हमें बार-बार प्राप्त नहीं हो सकेगा–

जो भी करना है वो कर ले कि गनीमत हैं ये दिन
ज़िंदगी फिर से पलटकर नहीं आने वाली।[29]

जीवन में निरंतर आगे बढ़ना जरूरी है। इसीलिए कहा जाता है कि जीवन चलने का नाम, चलते रहो सुबहों शाम। अग्रवाल जी जीवन को एक निरंतर चलनेवाली यात्रा मानते हैं। जो रुक जाता है वह समाप्त हो जाता है। जल की तरह बहते रहना है और निर्मलता को प्राप्त करना जरूरी है–

सोचिए क्या चीज है, कहते हैं जिसको ज़िंदगी
इक निरंतर यात्रा! बिस्तर न अपना खोलिए।[30]

मनुष्य-जीवन आशा के सहारे आगे बढ़ता है। भारतीय जीवन-दर्शन में आशावाद का बड़ा महत्त्व है। जीवन में आने वाली मुसीबतें, परेशानियाँ एक दिन अवश्य दूर हो जाएँगी। इसी भरोसे आदमी जीवन जीता है। उसे यह विश्वास होता है कि इन परिस्थितियों में परिवर्तन आएगा, दृश्य बदल जाएँगे। यही आशावाद गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लों में हमें दिखाई देता है।

गिरिराजशरण आशावादी ग़ज़लकार हैं। वे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी निराश नहीं होते। उन्हें यह विश्वास है कि परिवर्तन अवश्य होगा, किंतु इसके लिए हमें उत्साही होना जरूरी है। असफलता ही सफलता की पहली सीढ़ी है। इस बात को हमें भूलना नहीं चाहिए। पूरे विश्वास के साथ आगे बढ़ते रहना आवश्यक है–

जो लक्ष्य है मिलेगा, भरोसा न छोड़िए
पत्थर भी हों तो राह में चलना न छोड़िए।
उम्मीद जिसका नाम है जीवन के साथ है

नाकामियों के बाद भी आशा न छोड़िए।[31]

डॉ॰ अग्रवाल को विश्वास है कि परिस्थितियों में परिवर्तन होकर ही रहेगा–

हर नया मौसम नई संभावना ले आएगा
जो भी झोंका आएगा, ताजा हवा ले आएगा।
और कब तक धूप में तपती रहेंगी बस्तियाँ
बीत जाएगी उमस, सावन घटा ले आएगा।
सूखी-सूखी पत्तियों से यह निराशा किसलिए
टहनियों पर पेड़ हर पत्ता नया ले आएगा।[32]

गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लें जीवन में संघर्ष करने हेतु मनुष्य को प्रेरित करती हैं। जीवन के प्रति आस्था-निर्माण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती हुई दिखाई देती हैं। डॉ॰ अग्रवाल की ग़ज़लों के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए डॉ॰ हरीशकुमार सिंह लिखते हैं, 'डॉ॰ अग्रवाल की ग़ज़लों के शेर कृत्रिम, वनावटी नहीं हैं बल्कि उनकी ग़ज़लें जीवन का मार्ग प्रशस्त करती हैं। ग़ज़लों में आज की सच्चाई, चेतना तथा लोकरंग उभरकर सामने आते हैं। आपकी ग़ज़लों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सकारात्मक सोच की ग़ज़लें हैं। ये ग़ज़लें व्यक्ति को हौसला प्रदान करती है तथा निराशा के क्षणों में आशा का संचार करती हैं।....कुल मिलाकर डॉ॰ अग्रवाल ग़ज़ल की संस्कृति की रक्षा करते हुए एक ऐसे ग़ज़लकार के रूप में सामने आते हैं, जो हिंदी-ग़ज़ल के लिए नई जमीन तोड़ना चाहते हैं।'

निष्कर्षत:, कहा जा सकता है कि डॉ॰ गिरिराजशरण आस्था के ग़ज़लकार हैं। साठोत्तरी हिंदी-ग़ज़लकारों में उनका अपना विशिष्ट स्थान है। हिंदी-ग़ज़ल को संपन्न बनाने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आम आदमी के जीवन का चित्रण करने में वे सिद्धहस्त हैं। उन्होंने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से आम आदमी की पीड़ा को मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। उनकी मान्यता है कि मनुष्य को भाग्यवादी नहीं बल्कि प्रयत्नवादी बनना चाहिए। मनुष्य के विचारों और आचरण में समन्वय होना जरूरी है। अच्छे विचारों को अमल में लाना आवश्यक है। ऐसे कई महत्त्वपूर्ण विचार उनकी ग़ज़लों में जगह-जगह पर व्यक्त हुए हैं।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। इसलिए मनुष्य ने भी समय के साथ अपने आपको बदलना चाहिए, नहीं तो वह पिछड़ जाएगा। यह संदेश उनकी ग़ज़लों में मुखरित हुआ है। मानवता और विश्वबंधुत्व की भावना भी उनकी ग़ज़लों में परिलक्षित होती है। राजनीतिक विद्रूपताएँ, स्वार्थी राजनेता, भ्रष्ट-व्यवस्था आदि चित्रण भी उनकी ग़ज़लों में दृष्टिगोचर होता है। भ्रष्ट पुलिस-व्यवस्था, मानवीय मूल्यों का पतन, आतंकवाद एवं अलगाववाद, सांप्रदायिकता, महानगरीय जीवन, मशीनीकरण, पर्यावरण की चिंता, जीवन-दर्शन, आशावादी दृष्टिकोण, परिवर्तन की चाह आदि तमाम बातों का चित्रण उनकी ग़ज़लों में अत्यंत प्रामाणिकता से हुआ है। यदि हम कहें कि डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लों में आधुनिक युगबोध बखूबी अभिव्यक्त हुआ है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

संदर्भ

1. साठोत्तरी हिंदी ग़ज़ल : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान, डॉ॰ अनिलकुमार शर्मा, पृ॰ 204

2. आदमी है कहाँ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 69
3. पूर्ववत्, पृ॰ 91
4. पूर्ववत्, पृ॰ 131
5. शिकायत न करो तुम, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 35.
6. मौसम बदल गया कितना, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 45.
7. आदमी है कहाँ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 51.
8. साठोत्तरी हिंदी ग़ज़ल : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान, डॉ॰ अनिलकुमार शर्मा, पृ॰ 271
9. आदमी है कहाँ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 77
10. पूर्ववत्, पृ॰ 119
11. मौसम बदल गया कितना, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 59.
12. शिकायत न करो तुम, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 82.
13. रोशनी बनकर जिओ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 35.
14. शिकायत न करो तुम, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 87.
15. मौसम बदल गया कितना, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 91.
16. पूर्ववत्, पृ॰ 51
17. पूर्ववत्, पृ॰ 67
18. पूर्ववत्, पृ॰ 71
19. आदमी है कहाँ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 75
20. शिकायत न करो तुम, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 61.
21. मौसम बदल गया कितना, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 33.
22. शिकायत न करो तुम, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 93.
23. पूर्ववत्, पृ॰ 107
24. मौसम बदल गया कितना, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 40.
25. पूर्ववत्, पृ॰ 75
26. शिकायत न करो तुम, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 55.
27. पूर्ववत्, पृ॰ 37
28. पूर्ववत्, पृ॰ 38
29. आदमी है कहाँ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 115
30. रोशनी बनकर जिओ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 63.
31. पूर्ववत्, पृ॰ 15
32. पूर्ववत्, पृ॰ 72
33. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य, डॉ॰ हरीशकुमार सिंह, पृ॰ 7

जैनेंद्रकुमार की कहानियों में नारी-पात्रों की अतृप्ति एवं कुंठा

कु॰ रीना रानी
शोधछात्रा, हिंदी विभाग, बरेली कालेज, बरेली

मनोविश्लेषणवादी परंपरा के प्रवर्तक जैनेंद्रकुमार जी का साहित्य हिंदी साहित्य के विराट् आकाश में जगमगाते हुए तारों की भाँति विद्यमान है। जैनेंद्र जी कहानीकार ही नहीं, वरन् उपन्यासकार, निबंधकार, नाटककार एवं दार्शनिक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। लेकिन इनकी सर्वाधिक प्रसिद्धि का क्षेत्र इनका कथासाहित्य ही है। इनकी कहानियों के नारी-पात्रों में प्रायः अतृप्ति एवं कुंठा की भावना देखने को मिलती है। इनके नारी-पात्र दोहरा जीवन जीते हैं। एक तरफ पत्नीत्व के जीवन का निर्वाह करते हैं, तो दूसरी ओर प्रेयसीत्व के। इनके वैवाहिक जीवन की असफलता ही परपुरुष की ओर आकर्षण का कारण है। इस आकर्षण हेतु ही यह अपने को खोने और पाने के लिए आतुर रहती हैं, लेकिन उसमें भी यह सफल नहीं हो पाती हैं, जिसके कारण इनका जीवन असंतुष्टि, तनाव एवं कुंठा से ग्रस्त हो जाता है।

कुंठा : आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति तनाव, चिंता और प्रतिबल परिस्थितियों से ग्रस्त है, जिसके कारण उसमें कुंठा की आवृत्ति और मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कुंठा की परिस्थिति में व्यक्ति तनाव और परेशानी का अनुभव करता है। उसके मन में संवेगात्मक उथल-पुथल रहती है। फलस्वरूप उसकी आशाएँ और इच्छाएँ भग्न हो जाती हैं।[1]

अतृप्ति : यहाँ अतृप्ति से तात्पर्य वैवाहिक जीवन में कामभाव की तृप्ति के अभाव से है।

जैनेंद्र जी की कहानियाँ पाठकों के मन को छू लेती हैं। इनकी कहानियों का केंद्रबिंदु नारी ही है। इन्होंने नारी के अंतर्मन की गहराइयों को छूने का प्रयास किया है। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' कहानी की पात्र विजया एक ऐसी विवाहिता है, जो पति के होने पर भी पति के प्रेम से कोसों दूर है। वह मन ही मन सोचती है, 'मेरी चादर हटाकर वह कहेंगे, ओ बिजी सोती हो?' मैं करवट लेकर कहूँगी, 'ऊँ-ऊँ-ऊँ।' वह कहेंगे, 'अजी विजया महारानी उठो।' मैं, 'हटो जी, हमें मत छेड़ो, हाँ तो। हमें नींद आ रही है।' वह उठाएँगे-मैं नहीं उठूँगी, नहीं उठूँगी।'[2] एक ओर पति का व्यस्तता-भरा जीवन है, तो दूसरी ओर विजया के मन में छिपी असीम इच्छाएँ हैं। वह पति के प्रेम के स्पप्निल संसार में इतनी खो सी जाती है कि मदहोश-सी, अर्द्धखुली आँखों से पति के मित्र को पति समझने की भूल में उसके मन, उसकी इच्छाओं पर उसका अंकुश नहीं

रहता। पति का मित्र (मनमोहन) यथा–'मनमोहन का वश अपने पर से उठता गया, उसने भर्राए कंठ से कहा, 'भाभी, भाभी।' और एकदम उठकर पलंग पर बैठकर भाभी को उसने अंक में भर लिया। बोला, 'ओ मेरी पगली भाभी।' ...वहाँ उस गोद में लेटी वह पानी-पानी होकर बह जाएगी। मनमोहन ने उसे बटोरकर अत्यंत मोहविष्ट हो जोर से उसका चुंबन लिया। ...वह चौंकी, उठी और भौचक रह गई। सुन्न, वह खड़ी-की-खड़ी ही रही। उसने मनमोहन को देखा... विजया के मुँह से निकला–'तुम! तुम!' ... अपने हाथों से अलग हटाते हुए विजया ने कहा, 'हाथ जोड़ती हूँ, तुम जाओ। चले जाओ, अभी चले जाओ।'[3] विजया एक ऐसी भारतीय नारी है, जो पतिव्रता तो है, पर पति के प्रेम की एक बूँद के लिए भी तरसती रहती है।

'रत्नप्रभा' एक अतृप्त प्रेम-कहानी है। जिसमें 'रत्नप्रभा' नामक विवाहिता एक युवक की ओर आकर्षित हो जाती है। इस आकर्षण में कभी-कभी तो वह बहुत प्रसन्न होती है और कभी कुंठित भी हो जाती है। यथा–'रत्नप्रभा रीझती है, खीझती है, पर वह यह सब अपने में ही कर लेती है। वह तो अचल पत्थर की मूर्ति की नाई खड़ा ही रहता है। ...रत्नप्रभा गुस्से में भरकर बोली, 'जाओ, हटो मेरे सामने से।' उसी गुस्से में ट्रंक में से कफन निकालती हुई फेंककर बोली, 'लो और निकलो यहाँ से।' ... रत्नप्रभा देखती रही और कुछ नहीं बोली। वह अपने को नोच लेना चाहती थी।'[4] रत्नप्रभा सेठ लक्ष्मीनिवास जी की तीसरी पत्नी थी। वह अतृप्त, खीझ एवं कुंठा से ग्रस्त होकर परपुरुष से वह सब-कुछ पाना चाहती थी, जो उसे संतुष्टि एवं तृप्ति प्रदान कर सके। यथा–'स्नानागार के दरवाजे का पट जोर से बाहर फेंककर रत्नप्रभा बोली, 'वहीं से बातें बना रहा है। यह नहीं कि आके निकाल दे। कहाँ है?' कहकर एक तौलिया उसने अपने बदन पर ले लिया। लड़के ने आकर पंजों के बल खड़े होकर पीछे से खींचकर डिबिया उतार दी। रत्नप्रभा बोली, 'देखो भला, मैं वहाँ से खींचकर कैसे लेती? और यह पानी! खड़े क्या हो, हाथ डालकर देखो, गरम है? और गरम लाओ। उसने गरम पानी ला दिया। तुमसे इतना कहा बाल्टी को पटरी से इतनी दूर न रखा करो। अब मैं कैसे सरकाऊँ? इसमें और ठंडा मिलाओ, अभी और। अरे, बस, बस... लड़का सब काम करके चला आया। रत्नप्रभा नहाकर आई तो बहुत असंतुष्ट थी।'[5]

एकाकीपन का भाव जीवन को क्षीण बना देता है। 'प्रमिला' कहानी की पात्र प्रमिला 35 वर्षीय अविवाहित नारी है। जीवन से असंतुष्टि, तनाव एवं एकाकीपन का भाव कहीं उसे कमजोर न कर दे, इस भय से वह अपने-आपको श्रम की भट्टी में झोंक देती है। इसमें उसे पर्याप्त प्रेम, स्नेह एवं सम्मान भी मिलता है फिर भी कहीं अकेलापन, अधूरापन साथ में चलता हुआ सा दिखाई देता है, 'बच्चे हैं वे सब उसे गुरुआनी मानते हैं और अध्यापक-अध्यापिकाओं के बीच में वह देवी अधिष्ठात्री... लेकिन कभी यही सब-कुछ उसे थोथा और निरर्थक-सा हो आता है, जैसे सब बच्चे उसके हों और इसलिए कोई उसका अपना न हो, सब हों, पर अलग हों, इससे अधिक कुछ न हो। और तब वह बहुत घबरा जाती है कि कहाँ जाए, क्या करे? ये चारों तरफ से मिलने वाला गुरुआनीपन उसे घेरता और जकड़ता-सा जान पड़ता है। ...कैसे और कहाँ वह उससे छूटे और निरे अनजाने में डूब जा सके। कुछ उसके साथ खास न रहे और तनिक भी वह पहचानी न जाए, कोई उससे आज्ञा लेने वाला न रहे और कोई उसका आदर या लिहाज करने वाला न हो। कभी तो लगता है कहीं हो वो जगह, और कोई वह जो उसे गिने नहीं, और

अनायास उसे स्वीकारता और लाँघता चला जाए। जगह कि जहाँ वो ऐसी हो कि अपने में होने आवश्यकता न रहे।'[6]

'बिखरी कहानी' की अनिला भाभी 57 वर्षीय विधवा स्त्री है। अनिला के इस प्रौढ़ जीवन में असंतोष, अतृप्ति एवं अकेलेपन का भाव उसे कचोटने लगा था, जिसके कारण उसका स्वभाव कुंठित एवं विचित्र-सा हो जाता है। यथा–'क्या मैं भिखारिन हूँ कि रुपया देते हो और चुप हो जाते हो?' मैं बोल नहीं सका और देखा कि उसमें रोष उठ रहा है। तुम बड़े हो, बड़े बनते हो। क्यों यहीं न? मैं तुम्हारे पैसे पर थूकूँगी भी नहीं... उसने मेरे पैर चूमे थे, मेरे तन की वलैया ली थी। लेकिन अब उसमें मान चढ़ आया और उसने गालियाँ देनी शुरू कर दीं।'[7]

'अ-विज्ञान' कहानी की मालती का चरित्र एक ऐसी नारी का चरित्र है, जो समाज सेविका एवं नेत्री होने के साथ ही विवाहित होकर भी, परपुरुष के प्रेमपाश से आबद्ध है। यथा–'मालती अपने को रोक न सकी, एक साथ काँपती और बढ़ती हुई वह आई और आदित्य की दोनों कनपटियों को अपनी हथेली में लेकर उस चेहरे को ऊपर उठाकर उसकी आँखों में देखते हुए उसने दोहराया कि तुम ऐसे कहते हो? और कहने के साथ आवेश में आकर उसने आदित्य के मुँह को चूम लिया। आदित्य का सारा गात लहरा गया।'[8]

विवाहित जीवन में काम (सेक्स) का विशेष महत्त्व है। इसकी मानसिक एवं शारीरिक संतुष्टि से जीवन में नवीन ऊर्जा का संचार होता है एवं आनंद की प्राप्ति होती है। इसके अभाव में जीवन से असंतुष्टि, तनाव एवं कुंठा उत्पन्न होती है, जो व्यक्ति को रोगी बना देती है। 'बीमारी' कहानी की पात्र कंदर्प एक ऐसी ही नवविवाहिता स्त्री है, जिसके अवचेतन मन में दमित इच्छाएँ थीं, जिनकी पूर्ति नहीं हो पा रही थी। विवाह के उपरांत उसे अपने पति से वह प्रेम नहीं मिल पाया, जो उसे मिलना चाहिए था। जीवन से असंतुष्टि एवं अतृप्ति के भाव के कारण वह बीमार-सी हो जाती है। जब उसे दौरा पड़ जाता था। यथा–'कंदर्प का सारा शरीर तना हुआ था और दो जने मुश्किल से थाम पाते थे। रह-रहकर शरीर में लहरें आतीं, मुट्ठियाँ बँध जातीं, तन ऐंठ उठता और तीन-चार मिनट इस अदम्यता में रहकर फिर निढाल पड़ जाता था। बीच में आँखें खुलतीं तो वह देखती न थी। उसमें दृष्टि न होती और वह हौलनाक मालूम होती। मुँह में दंती बँध जाती और कभी वे दाँत ही खुद मुँह को काटने को होते। कभी मुट्ठी की उँगलियाँ खुलतीं और जो हाथ पड़ता, उसी को चीथ डालने की कोशिश करती। कपड़ा हो तो कपड़ा, शरीर हो तो शरीर। बहुत ही विचित्र अवस्था थी।'[9]

'दिन रात सवेरा' कहानी की पात्र कवयित्री समाज में एक प्रतिष्ठित एवं अविवाहित युवती है। कवयित्री को समाज में इज्जत, शोहरत, प्रतिष्ठा वैभव सब-कुछ प्राप्त होता है, परंतु एक औरत का पूर्णत्व कहीं उसे दूर हो गया था, जो एकांत में भावुकतावश खुशी की तलाश में स्वप्निल एवं काल्पनिक प्रयास की स्मृतियों में सजग हो जाता है और त्वरित सुख भी प्रदान करता है। उसे ऐसा लगने लगा कि उसके शरीर के साथ कोई क्रीड़ा कर रहा है। यथा–'वह प्रतिमा की तरह लीलाभाव से खड़ी है और एक पुजारी उसके पाँवों को चूम रहा है... उसके शरीर पर अभ्यास हो रहा है। उसको दबा और मसला जा रहा है और देखकर जाने कैसा लगता है। कैसा लगता है कि उसका ही चेहरा पीड़ा और आनंद से विह्वल होता जा रहा है। उस आदमी को नहीं देखती और अचरज है कि आदमी दीख पाता ही नहीं। अपनी ही अपनी काया दीखती

है और हर धीरता, हर बर्बरता, हर अभ्यर्थना, हर पूजा में उसे अपनी काया में पुलक भरता भी दिखता और अनुभव होता है।'[10]

'दो सहेलियाँ' कहानी जैनेंद्र जी की प्रमुख कहानियों में से है। यह कहानी ऐसी दो प्रौढ़ स्त्रियों की कहानी है, जिनका वैवाहिक जीवन संतुष्टि एवं तृप्ति के अभाव में प्रभावित हो जाता है। इस कहानी की पात्र बसु कामकाजी महिला के रूप में प्रतिष्ठित एवं अच्छे वेतन पर थी। बसु के जीवन में पति, पैसा, बच्चे, वैभव सब-कुछ था, फिर भी उसका जीवन असंतोष एवं कुंठा की भावना से ग्रस्त था। वह अपने दांपत्य जीवन की पीड़ा को अपनी सहेली जसोदा से कहती है, 'उनको तो तेने देखा ही है। है कि नहीं चश्मेबद्दूर! लेकिन निभाए जा रही हूँ। सच कहती हूँ जी में कभी ऐसी घिन होती है कि आत्महत्या कर लूँ। पर नहीं, रोज पलंग पर साथ सोना पड़ता है।'[11] बसु की बातें सुनकर जसोदा भी अपने वैवाहिक जीवन के विषय में बसु से कहने लगती है–'बदन से उसके बू आती है। आखिर उन्हीं से तो तुझे छः बच्चे हुए हैं। ...क्या बताऊँ! बस जाने कैसा-कैसा होता है। एक क्षण मैं सह नहीं सकती। सामना तक नहीं सह सकती। अब भी आते हैं, लेकिन पता लगते ही मैं चली जाती हूँ। जाने जी कैसा हो आता है।'[12]

जसोदा को मनोनुकूल पति न मिलने के कारण कहीं-न-कहीं उसके मन में असंतोष, तनाव एवं उदासीनता का भाव निरंतर बना रहता है। जसोदा भी अपने विवाहित जीवन से असंतुष्ट एवं अतृप्त भाव से पीड़ित है। वह बसु से कहती है, 'तुझे कुछ नहीं मालूम! वे उपदेश देते हैं। जी से चाहते हैं, मुँह से उपदेश देते हैं। संयम का उपदेश। अपने और मेरे बीच 'सत्यार्थ प्रकाश' रखते हैं... छः बच्चों की माँ बन गई कैसे बन गई, अब यही अचरज होता है। मालूम होता है कि आँख खोलकर किसी तरह और सब-कुछ नहीं हो सकता–उनका उपदेश ही मानना और देखना होता है। अँधेरे में कुछ भले ही हो जाए... वह इंद्रिय जय में विश्वास रखते हैं, तो अच्छा तो है। काम-वेग यदि उन्हें कभी कष्ट देता हो तो बाजार है, या स्त्रियों की दुनिया में कमी नहीं है, उस सबकी छूट उन्हें है।'[13] जसोदा के मन में छिपी इच्छाएँ ही उसके जीवन में निराशा एवं कुंठा का कारण हैं।

निष्कर्षतः जैनेंद्र की उल्लेखनीय भूमिका यह है कि उन्होंने हिंदी-कहानी में प्रेम को संभव किया है। प्रेम के बीहड़ और वर्जित प्रदेशों में उन्होंने साहसिक यात्रा की। उन्होंने आगे बढ़कर प्रेम को जीवन का यथार्थ बना दिया। उन्होंने प्रेम की सूक्ष्मताओं और जटिलताओं को समझने और अनुभव करने वाली एक नई नारी की रचना की।[14] उनकी कहानियों के नारी-पात्रों के जीवन में अकेलापन, घुटन, अतृप्ति, कुंठा, जीवन से असंतुष्टि आदि का भाव विद्यमान है।

संदर्भ

1. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, डॉ॰ प्रीति वर्मा एवं डॉ॰ डी॰एन॰ श्रीवास्तव, पृ॰ 523, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
2. ग्रामोफोन का रिकार्ड, जैनेंद्र रचनावली-खंड 4, संपादक निर्मला जैन, पृ॰ 489, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
3. वही, पृ॰ 492-493
4. रत्नप्रभा, जैनेंद्र रचनावली-खंड 4, संपादक निर्मला जैन, पृ॰ 650-651, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

5. वही, पृ॰ 653
6. प्रमिला, जैनेंद्र रचनावली-खंड 5, संपादक निर्मला जैन, पृ॰ 378, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
7. बिखरी कहानी, जैनेंद्र रचनावली-खंड 5, संपादक निर्मला जैन, पृ॰ 480, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
8. अ-विज्ञान, जैनेंद्र रचनावली-खंड 5, संपादक निर्मला जैन, पृ॰ 498, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
9. बीमारी, जैनेंद्र रचनावली-खंड 5, संपादक निर्मला जैन, पृ॰ 523, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
10. दिन रात सवेरा, जैनेंद्र रचनावली-खंड 5, संपादक निर्मला जैन, पृ॰ 539-540, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
11. दो सहेलियाँ, जैनेंद्र रचनावली-खंड 5, संपादक निर्मला जैन, पृ॰ 544, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
12. वही, पृ॰ 544
13. वही, पृ॰ 549
14. कहानीकार जैनेंद्रकुमार पुनर्विचार, मधुरेश, पृ॰ 70, समानांतर प्रकाश, नई दिल्ली-2

रीना रानी
पुत्री स्व॰ श्री छोटेलाल सागर
म॰ नं॰ 12, **मो॰ कटघर, पोस्ट थाना किला**
जिला बरेली 243003
मो॰ 09760552261

गढ़वाल अंचल में पत्रकारिता : स्वतंत्रतापूर्व काल के परिपेक्ष्य में एक अवलोकन

डॉ॰ वंदना सेमल्टी
अध्यक्ष, इतिहास विभाग
एम॰एम॰एच॰ कॉलेज, गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)

प्रतिकार तथा प्रतिरोध किसी भी समाज के साथ किए जा रहे शोषक व्यवहार, अन्याय तथा आर्थिक-सांस्कृतिक अतिक्रमण से स्वाभाविक असहमति की अभिव्यक्ति है। स्थान, समय और स्थिति के अनुसार इसका स्वरूप व्यक्ति से समूह तक फैलता रहा है। पत्रकारिता तथा पत्र-पत्रिकाएँ इस प्रतिकार का सदैव एक सशक्त माध्यम रहे हैं।

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन और सामाजिक पुनर्जागरण में पत्रकारिता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुत: पत्रकारिता एक प्रगतिशील विचारधारा है, जो साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, सामंती व्यवस्था, शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में क्रियाशील रही है। भारतीय पत्रकारिता के विकास की कहानी देश की राष्ट्रीयता के विकास से जुड़ी हुई है। राष्ट्रीयता के विकास से जनमानस आंदोलित होता गया और उसी प्रकार पत्रकारिता का इतिहास भी नए आयाम में विकसित होता गया।

हिंदी-पत्रकारिता ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीय आंदोलन में सराहनीय भूमिका निभाई, वहीं दूसरी ओर देश के बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास में तथा सामाजिक कुरीतियों व रूढ़ियों को तोड़ने का भी प्रशंसनीय कार्य किया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश में राष्ट्रीय नवजागरण की लहर फैलाने में हिंदी-पत्रकारिता का योगदान विशेष रहा। गढ़वाल अंचल भी अन्य भारतीय प्रांतों की भाँति नवचेतना, नव-जागृति तथा नवविचारों के प्रवाह से अछूता नहीं रहा। इस क्षेत्र में भी पत्रकारिता ने अपने स्तर पर नवजागरण की अलख जगाई।

वस्तुत: पत्रकारिता के विकास में तत्कालीन परिस्थितियों की विशेष भूमिका रही। ब्रिटिश शासन के शिकंजे में जकड़ी हुई भारतीय जनता जब छटपटाहट का अनुभव करने लगी तो उस छटपटाहट को व्यक्त करने के लिए विभिन्न उपाय सोचे जाने लगे। गढ़वाल भी इस असमर्थता का अनुभव करने में पीछे नहीं था। 19 वी सदी के अंतिम चरण में गढ़वाल के बुद्धिजीवियों की यह छटपटाहट काव्य, नाटक, गीत और गद्य के रूप में बाहर निकलने लगी। यह युग गढ़वाल में साहित्य-सृजन के प्रारंभ का युग कहा जा सकता है। समाचार-पत्रों द्वारा ही यह अंचल अपनी भावना तथा रोष व्यक्त कर तत्कालीन शासन की अनियमितताओं और ज़्यादतियों का पर्दाफाश कर सकता था। इसी भावना को मूर्तरुप देने के लिए इस क्षेत्र में पत्रकारिता का श्रीगणेश हुआ।

इसी दिशा में कुमायूँ कमिश्नरी के अल्मोड़ा में पहाड़ की प्रथम सामाजिक संस्था 'अल्मोड़ा डिबेटिंग क्लब' का गठन किया गया, जिसके द्वारा सन 1871 में अल्मोड़ा अखबार नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया गया । 1918 तक आते-आते इस पत्र ने अँग्रेजों के प्रति चली आ रही अपनी उदारता तथा अनुनय-विनय की नीति का परित्याग कर आक्रामक रूप धारण किया। परिणामत: यह पत्र बंद हो गया। इस पत्र ने वन, बेगार, शिक्षा, काउंसिल, प्रेस एक्ट, आर्मस एक्ट आदि पर अपने विचार रखे । यह पत्र वास्तव में कुमायूँ की विकसित होती राजनीतिक चेतना का प्रतीक था।[1] पंडित हरगोविंद पंत, पंडित गोविंदबल्लभ पंत आदि के सहयोग से पंडित बद्रीदत्त पांडे ने 15 अक्टूबर 1918 में अल्मोड़ा से एक नए अखबार 'शक्ति' का प्रकाशन आरंभ किया। भारतीय राष्ट्रवाद को मुखरित करने तथा अपने आक्रामक तेवरों के कारण अँग्रेज सरकार द्वारा इस पत्र को बंद करने का प्रयास किया गया। स्थानीय नागरिकों की आर्थिक सहायता से यह पत्र बंद होने से बचा लिया गया।

ब्रिटिश शासन की मनमानी को रोकने के लिए बीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में गढ़वाल की भूमि पर पत्रकारिता का उदय हुआ। 1901 में गढ़वाल के प्रसिद्ध विद्वान श्री तारादत्त गैरोला जी तथा अँग्रेजी, संस्कृत और गढ़वाली के भावनाशील कवि श्री चंद्रमोहन रतूड़ी जी के द्वारा देहरादून में 'गढ़वाल यूनियन' नामक सामाजिक संगठन की स्थापना की गई। 1902 में लैंसीडोन से पंडित गिरिजादत्त नैथानी ने गढ़वाल समाचार मासिक का प्रकाशन आरंभ किया। इस पत्र के राष्ट्रीय विचारों ने पहाड़ के निवासियों को अत्यंत प्रभावित किया। नैथानी जी बड़े क्रांतिकारी विचारों के व्यक्ति थे। उन्होंने इस पत्र को जीवित रखने के अथक प्रयास किए, परंतु आर्थिक कठिनाइयों के बीच यह पत्र बंद होकर पुन: 1911-1914 तक प्रकाशित होता रहा। [2]

1905 में गढ़वाल यूनियन के प्रणेता तारादत्त गैरोला, विश्वंभरदत्त चंदोला, चंद्रमोहन रतूड़ी तथा गिरिजादत्त नैथानी जैसे मनीषियों ने मिलकर देहरादून से एक समाचार पत्र 'गढ़वाली' मासिक का प्रकाशन प्रारंभ किया। श्री गिरिजादत्त नैथानी इसके संपादक बने। इस पत्र का उद्देश्य गढ़भूमि के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक धरातल को पुष्ट करना था। साथ ही समाज में व्याप्त जातिवाद को समाप्त कर एक स्वस्थ मानसिकता वाले समाज की स्थापना करना था।[3] नैथानी जी के पश्चात् 1915 से 1925 तक तारादत्त गैरोला तथा विश्वंभर दत्त चंदोला जी ने इसका संपादन किया।

उत्तराखंड के पत्रकारिता के इतिहास में 'गढ़वाली' और उसके संपादक विश्वंभरदत्त चंदोला ऐसा उदाहरण हैं, जिन्हें टिहरी रियासत के नाटकीय तिलाड़ी कांड 1930 पर लेख लिखने के आरोप में एक वर्ष तक का कठोर कारावास मिला, किंतु पत्रकारिता की नैतिकता के नाम पर उन्होंने अपने लेखों के स्रोतों को उद्घाटित करना स्वीकार नहीं किया।[4] चंदोलाजी ने 'गढ़वाली' का संपादन बड़ी निर्भीकता से किया। समाज-सुधार, साहित्य-सेवा तथा गढ़वाल के उभरते हुए साहित्यकारों को प्रोत्साहन देना उनके जीवन का मुख्य ध्येय था। 'गढ़वाली' स्वतंत्र विचारों वाला समाचार-पत्र था। इस पत्र ने बेगार, वन कष्टों सहित सामाजिक जीवन में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त किए जाने की आवश्यकता पर बल देते हुए जनभावनाओं को उभारने में विशेष सफलता प्राप्त की। 1913 में सदानंद कुकरेती के संपादन में पौड़ी से 'विशाल कीर्ति' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ किया गया। बद्री केदारेश्वर प्रेस से प्रकाशित होने वाले पत्र के प्रकाशक ब्रह्मानंद थपलियाल थे। यह पत्र 1917 तक प्रकाशित हुआ।[5] प्रशासनिक विसंगितयों पर कटाक्ष तथा अनूठी व्यंग्य-शैली होने के कारण यह पत्र अत्यंत लोकप्रिय हुआ।[6]

पत्र का मूल्य एक रुपये वार्षिक निर्धारित किया गया था, परंतु सभ्रांत व्यक्तियों के सम्मानार्थ उनसे तीन रुपये लिए जाते थे।

पत्रकारिता के इसी क्रम में 1917 में गिरिजादत्त नैथानी ने दुगडडा से 'पुरुषार्थ' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ किया।[7] आर्थिक कठिनाईयों के चलते 1921 में इसका प्रकाशन रोक देना पड़ा। सामाजिक चेतना तथा राजनीतिक जागृति के विकास में इस पत्र की विशेष भूमिका रही। जहाँ एक ओर नैथानी जी ने वन और बेगार समस्या को उजागर करने का कार्य किया, वहीं दूसरी ओर पत्र के सहायक संपादक डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने गद्य शैली में रचना करके स्थानीय चेतना तथा राष्ट्रीय चेतना के विकास की दिशा में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। इनके अतिरिक्त 'सेना की चिट्ठी' तथा रियासत टिहरी का 'गढ़वाल गजट' पत्र भी प्रकाशित हुआ, किंतु ये अल्पजीवी रहे।[8]

इस काल के गढ़वाली पत्र राष्ट्रीय भावनाओं तथा आचंलिक संस्कृति की विशेषताओं के पोषक बने। जहाँ एक ओर पत्र में राष्ट्रीय प्रश्न उभरकर सामने आए, वहीं दूसरी ओर गढ़वाली समाज व संस्कृति से जुड़े लेख, समाचार, कविताएँ और कहानियाँ प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुईं। आंचलिक पत्रकारिता के माध्यम से सुधारवादियों ने गढ़वाली जीवन में व्याप्त कुरीतियों, कन्या-विक्रय, छुआछूत, जातीय संकीर्णता, पशुबलि आदि का विरोध किया।[9]

20वीं शताब्दी के आरंभिक दो दशकों के अंत में सामाजिक सुधार और साहित्यिक जागरण की यह प्रक्रिया धीमी पड़ने लगी और संपूर्ण राष्ट्र से संबंधित राजनीतिक एवं संवैधानिक प्रश्न गढ़वाल के समाज को प्रभावित करने लगे थे। राष्ट्रीय स्तर पर असहयोग आंदोलन कार्यक्रम का प्रतिपादन किए जाने के उपरांत देश-भर में राजनीतिक चेतना के स्वर आंदोलन में परिणत होने लगे। 1947 तक इन जन-आंदोलनों ने जनमानस को अभिभूत किए रखा। इस अवधि में गढ़वाल संभाग में भी वांछित परिवर्तन देखने को मिलते हैं। यहाँ सुधारवादी नरम विचाराधारा के स्थान पर गर्म विचाराधारा वाले व्यक्तियों का प्रभाव बढ़ने लगा।

जनता में राजनीतिक चेतना के विकास में गढ़वाली पत्रकारिता प्रेरणा का स्रोत बनी रही। 'क्षत्रिय वीर' इस अवधि का एक उल्लेखनीय पत्र था। 1922 में गढ़वाली प्रेस देहरादून से मुद्रित 'तरुण कुमायूँ' मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। इस पत्र के शिल्पी मुकुंदीलाल तुर्की के युवा तुर्क आंदोलन की तर्ज पर इस पत्र को सम्मुख लाए थे। सामाजिक-राजनीतिक सुधारों का वाहक यह पत्र 2 वर्ष के पश्चात् ही बंद हो गया।[10]

1924 में महिशानंद थपलियाल द्वारा रत्नांबर चंदोला, भगतराम कोटनाला एवं डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के सहयोग से 'हृदय' नामक पत्र का प्रकाशन मेरठ से किया गया। यह एक साहित्यिक पत्र था। 1929 में देवकीनंदन ध्यानी का 'विजय' नामक पत्र प्रकाशित हुआ, जो मुरादाबाद से मुद्रित होता था। यह पत्र काँग्रेस की गर्म विचारधारा से प्रभावित था। यह पत्र भी मात्र दो वर्षों में आर्थिक संकट के चलते बंद हो गया।

1930 में जब राष्ट्रीय आंदोलन की गति अपने चरम पर थी तो हरिराम चंचल ने दो पत्र 'संदेश' (1930) तथा 'गढ़देश' (1932) प्रकाशित किए, किंतु आर्थिक समस्या के कारण अधिक चल नहीं पाए। 1934 में 'उत्तर भारत' नामक पत्र का प्रकाशन महिशानंद थपलियाल द्वारा किया गया। यह राष्ट्रीय विचारधारा का पत्र था। इनके अतिरिक्त सत्यवीर, श्रमयुग, हिमालय की

ललकार, पहाड़ी मंच आदि अन्य अनेक पत्र प्रकाशित हुए।

1939 में भक्तदर्शन तथा भैरवदत्त धूलिया द्वारा 'कर्मभूमि' का प्रकाशन किया गया। कर्मभूमि ने गढ़वाल के स्वाधीनता-आंदोलन तथा टिहरी रियासत के जनमुक्ति-संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।[11] इस प्रकार उत्तराखंड क्षेत्र में पत्रकारिता का राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक विकास को गति प्रदान करने में उल्लेखनीय योगदान रहा।

15 अगस्त 1947 को देश स्वतंत्र हुआ, किंतु स्वतंत्र देशी रियासतों के विलय का प्रश्न राष्ट्र के समक्ष था। रियासती प्रजा को स्वतंत्र कराने हेतु एक संघर्ष और अनिवार्य था। टिहरी रियासत में भी एक ऐसे ही संघर्ष की आवश्यकता अनुभव होने लगी। फलस्वरुप सर्वश्री भगवतीप्रसाद पांधारी, तेजीराम भट्ट और गोपेश्वर कोठियाल जी के संयुक्त प्रयास से 15 अगस्त 1947 को देहरादून से 'युगवाणी' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ, पहले पाक्षिक फिर साप्ताहिक के रूप में। इसके अतिरिक्त सत्यपथ, देवभूमि, नया जमाना, पौड़ी टाइम्स, उत्तराखंड, उत्तरांचल, गढ़वाल मंडल आदि पत्रों की बाढ़ सी आ गई। वस्तुतः स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् पत्रकारिता तथा पत्रकारों की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण हो गई थी। अब पत्रकारिता को एक ओर जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी, उसे अक्षुण्ण रखना था, दूसरी ओर राष्ट्र के पुनर्निर्माण व समाज-सुधार का कार्य भी करना था। इस मनोरथ में उत्तरांचल के पत्रकारों ने अपनी यथायोग्य भूमिका का निवर्हन किया है।

1947 के पश्चात स्वतंत्र भारत में पत्रकारों की स्थिति में अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। पत्रकार राष्ट्र की भाँति ही दासता की बेड़ियों से मुक्त हैं तथा अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतंत्र हैं। हमारे संविधान द्वारा भी प्रेस की स्वतंत्रता तथा विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान की गई है। इस प्रकार आज का पत्रकार स्वतंत्र चिंतन तथा स्वस्थ मानसिकता के साथ पत्रकारिता कर सकता है। एक पत्रकार का दायित्व है कि वह स्वस्थ व स्वच्छ पत्रकारिता को ही अपना ध्येय बनाए तथा निर्भीकता और निष्पक्षता के गुणों को आत्मसात करे। पत्रकारिता का उद्देश्य जनजागरण तथा समाजसेवा हो। आवश्यकता इस बात की है कि पत्रकारिता मात्र व्यवसाय बनकर ही न रह जाय। आज पत्रकारिता तथा पत्रकारों के समक्ष नई-नई चुनौतियाँ हैं, जिनका सामना सेवा-भाव तथा निष्पक्ष भाव से ही किया जा सकता है। ये ही समय की माँग भी है।

संदर्भ

1. पांडे, गढ़वाल में दिवंगत विभूतियाँ, पृ॰ 412
2. वेणीराम अंथवाल, उत्तराखंड का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, सरिता बुक हाउस, पृ॰ 147
3. पांडे, गढ़वाल में दिवंगत विभूतियाँ, पृ॰ 10 412
4. वेणीराम अंथवाल, उत्तराखंड का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ॰ 147
5. धस्माना, गढ़वाल में जनजागरण और जनआंदोलनों का इतिहास, पृ॰ 7
6. वही
7. गढ़वाल मासिक, फरवरी 1908, पृ॰ 17
8. धस्माना, गढ़वाल में जनजागरण और जनआंदोलनों का इतिहास, पृ॰ 39
9. वेणीराम अंथवाल, उत्तराखंड का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ॰ 149
10. वही
11. गढ़वाल मासिक, फरवरी 1908

साहित्य, समाज और संस्कृति के अंत:संघर्ष का द्रष्टा

डॉ॰ रमेश तिवारी
सहायक प्राध्यापक, हिंदी (तदर्थ)
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय (दिल्ली वि॰वि॰)
बेनितो जुआरेज मार्ग, नई दिल्ली 110021

डॉ॰ आदित्य प्रचंडिया एक वरिष्ठ साहित्यकर्मी हैं। इन्होंने अपना समस्त जीवन अध्यापन के द्वारा भावी पीढ़ी के जीवन-निर्माण को अपनी जीविका का माध्यम बनाकर जीया है। ऐसे ही अध्यापन-कर्म से इन पंक्तियों का लेखक भी संबद्ध है और इस नाते भी डॉ॰ प्रचंडिया के लिखे-छपे को पढ़ता रहा है। जहाँ तक मेरी बात है, मैं डॉ॰ प्रचंडिया को उनकी लेखनी और रचनाओं के माध्यम से ही जानता हूँ। ढाई दर्जन से भी अधिक पुस्तकों के लेखन, सहलेखन, संपादन इत्यादि के अनुभव से लबरेज डॉ॰ प्रचंडिया का जीवन अज्ञान के तिमिरांधकार से जूझते हुए निरंतर ज्ञान के प्रकाश की खोज करता रहा है। महाप्राण निराला की कालजयी कविता 'राम की शक्तिपूजा' की एक पंक्ति है- है अमा निशा उगलता गगन घन अंधकार/ खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध है पवन चार...इस प्रसंग में निराला आगे लिखते हैं–'भूधर ज्यों ध्यानमग्न केवल जलती मशाल'। आज भी परिस्थितियाँ बहुत बदली नहीं हैं। सिर्फ सत्ता-परिवर्तन या कहें सत्ता-हस्तांतरण हुआ है। व्यवस्था-परिवर्तन नहीं हुआ है और जब तक व्यवस्था नहीं बदलेगी, परिवर्तन और परिवर्तन का प्रभाव नहीं दिखेगा। डॉ॰ आदित्य प्रचंडिया ने भी अपने चारों तरफ व्याप्त अज्ञानरूपी अंधकार को ज्ञान की मशाल थामे दूर भगाने की आजीवन कोशिश की है। अपनी लेखनी और रचनाओं के दम पर निरंतर इस जड़ समाज और जड़ व्यवस्था को झकझोरने और बदलने की कोशिश की है। इसलिए जब-जब मैं इनके चिंतनपरक निबंधों-आलेखों को पढ़ता हूँ, मुझे उनके लेखन से एक आश्वस्ति मिलती है।

यूँ तो डॉ॰ प्रचंडिया ने एक से बढ़कर एक कई कृतियों की रचना की है, जिनको पढ़कर एक नई ऊर्जा का अनुभव होता है, किंतु यदि इनकी किसी एक कृति को मैं सामने रखकर अपनी बात कहना चाहूँ तो वह कृति है–'साहित्य और संस्कृति का अंत:संघर्ष'। इस कृति का प्रकाशन हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर ने 2015 में किया है। डॉ॰ प्रचंडिया दयालबाग शैक्षिक संस्थान (मानित वि॰वि॰), दयालबाग, आगरा में हिंदी प्राध्यापक पद पर काफी लंबे समय से सेवारत हैं। इन्होंने स्वयं इस कृति के बारे में 'आमुख' के अंतर्गत लिखा है–'प्रस्तुत पुस्तक गत चार दशकों से मेरे द्वारा लिखे और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे आलेखों का संकलन है।' इससे यह अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है कि लेखक की रचनात्मकता कम-से-कम विगत चालीस वर्षों से तो रही ही है। चालीस वर्षों से विविधायामी चिंतन और सामाजिक सरोकारपरक लेखन को बनाए रखना

सबके बस की बात नहीं है। ऐसी प्रतिभा और दृढ़निश्चय बिरले व्यक्तित्वों में ही संभव हो सकता है। डॉ॰ प्रचंडिया ऐसे ही विरले व्यक्तित्व के धनी हैं। उनके लिखे-बोले को पढ़ना-सुनना और गुनना एक नए प्रकार के अनुभव से गुजरने-जैसा है। इन अर्थों में भी डॉ॰ प्रचंडिया का लेखन हम सबके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत कृति में कई ऐसे चिंतनपरक आलेख हैं, जो हमें सोचने-समझने की नई दिशा प्रदान करते हैं। चिंतन में सकारात्मकता डॉ॰ प्रचंडिया का विशेष और उल्लेखनीय गुण है। 'संस्कृति और अध्यात्म' शीर्षक आलेख का एक अंश पुस्तक के आरंभ में ही दिया गया है, जिससे इनकी सकारात्मक दृष्टि का संकेत भली-भाँति मिल जाता है। 'संस्कृति जीवनशैली है और दर्शन जीवन-दृष्टि है। जीवनशैली के मूल में जीवन-दृष्टि होती है,...संस्कृति का उन्नयन दर्शन या जीवन-दृष्टि पर ही निर्भर है।...भारत में अनेक दर्शन पुष्पित-पल्लवित हुए हैं, उन सबकी जीवन-दृष्टि समान ही है। भारतीय दर्शन अनेक हैं, किंतु जीवन-दृष्टि एक ही है। यहाँ तक चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन की जीवन-दृष्टि भी भौतिकवादी या भोगवादी न होकर मूलत: आध्यात्मिक ही है, चार्वाक भी एक ऋषि हैं।...'वे चाहे ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत' की बात कहते हैं, फिर भी वे 'ऋणं कृत्वा मद्यं पीवेत' की बात नहीं करते हैं। जैन और बौद्ध भी चाहे अनीश्वरवादी हों, फिर भी वे भौतिकवादी या भोगवादी नहीं हैं। प्राचीन भारतीय दर्शनों में चाहे वे श्रमण-परंपरा के दर्शन हों या वैदिकधारा के दर्शन हों, सभी मूलत: भोगवादी नहीं हैं, त्यागवादी हैं।' (पृष्ठ 6)

इस प्रकार की विश्लेषण-क्षमता सकारात्मकता के बिना संभव नहीं हो सकती। अब तक हम सबने चार्वाक के दर्शन का अध्ययन-विश्लेषण करते हुए भोगवादी होने का आरोप लगाकर अपने कर्तव्यों की इतिश्री कर ली है, किंतु यहाँ लेखक ने अपनी प्रतिभा और विश्लेषण- क्षमता का सदुपयोग करते हुए यह रेखांकित किया है कि चार्वाक ने जो कहा, वह कम-से-कम नकारात्मकता का संदेश तो नहीं ही देता है। इसलिए यह ध्यान दिलाते हुए लेखक ने यह लिखा है कि 'वे चाहे ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत' की बात कहते हैं, फिर भी वे 'ऋणं कृत्वा मद्यं पीवेत' की बात नहीं करते हैं और इस अर्थ को समझ लेने के बाद यह समझना मुश्किल नहीं है कि इन अर्थों में उन्हें पूरी तरह नकार देना भी उनके दर्शन के प्रति न्याय नहीं कहा जा सकता।

साहित्य को प्रेमचंद ने समाज का दर्पण कहा है। जो चेहरे पर होता है वही दर्पण दिखता है। ऐसे ही जो समाज में होता है, साहित्य वही दिखाता है। लेखक ने इसी बात को अपने शब्दों में अलग तरीके से लिखा है, 'साहित्य अपने काल का प्रतिबिंब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। साहित्य से रुचि जगती है, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति मिलती है,...साहित्य संस्कृति का वाहक है। संस्कृति के तत्त्व सार्वकालिक और सार्वदेशिक हैं। संस्कृति की विशेषताएँ, साहित्य की विभिन्न विधाओं में व्यक्त चरित्रों के पारस्परिक व्यवहार से उभरकर सामने आती हैं। साहित्य, संस्कृति की विशेषताओं को अपने में सँजोए हुए भिन्न देशकाल में जहाँ जाता है, वहाँ ले जाता है।' (वही, पृष्ठ 8)

इस पुस्तक के पहले ही आलेख का शीर्षक है 'संस्कृति का सम्यकत्व'। इसके अंतर्गत संस्कृति को स्पष्ट करते हुए लेखक संस्कृति का संबंध कृषि से बताते हुए लिखता है–'कृषि का उद्देश्य है भूमि की विकृति को दूर कर लहलहाती खेती को उत्पन्न करना।....संस्कृति में भी यही

किया जाता है। मानसिक, वाचिक और कायिक विकृतियाँ दूर की जाती हैं। विकारों को हटाकर विचारों का विकास किया जाता है। वह संस्कार व्यक्ति से प्रारंभ होकर परिवार, समाज, राष्ट्र, और संपूर्ण विश्व में परिव्याप्त हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र का संशोधन और संस्कार करना ही संस्कृति है।....संस्कृति मानव-जीवन का ही एक प्रगतिशील तत्त्व है।' (वही, पृष्ठ 14) इसी आलेख में आगे इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लेखक लिखता है–'मानव-जीवन के ज्ञान, भाव और कर्म ये तीन पक्ष हैं, जिसे दूसरे शब्दों में बुद्धि, हृदय और व्यवहार कहा जा सकता है। इन तीनों तत्त्वों का जब पूर्ण सामंजस्य होता है, तब संस्कृति होती है।' (वही)

ये तो हुई संस्कृति की विवेचना, इस विवेचना को आगे बढ़ाते हुए डॉ॰ प्रचंडिया संस्कृति के तत्वों पर भी प्रकाश डालते हैं। 'संस्कृति के चार तत्त्व हैं–तत्त्वज्ञान, नीति, विज्ञान और कला। विज्ञान, दर्शन, धर्म और संस्कृति का अंतर स्पष्ट है कि बाहर की ओर देखना विज्ञान है, अंदर की ओर देखना दर्शन है और ऊपर की ओर देखना धर्म है, किंतु संस्कृति में धर्म, दर्शन और विज्ञान इन तीनों का पूर्ण सामंजस्य है, अर्थात् संस्कृति में धर्म भी है, दर्शन भी है, विज्ञान भी है और कला भी है।' (वही, पृष्ठ 14)

लेखक की दृष्टि में संस्कृति और सभ्यता का संबंध शरीर और आत्मा का संबंध है। 'संस्कृति अंत:करण है तो सभ्यता शरीर है। संस्कृति अपने को सभ्यता के द्वारा व्यक्त करती है। संस्कृति वह साँचा है, जिसमें समाज के विचार ढलते हैं। वह बिंदु है, जहाँ से जीवन की समस्याएँ देखी जाती हैं। (वही, पृष्ठ 15)...संस्कृति आभ्यंतर है और सभ्यता बाह्य है। (पृष्ठ 16) इस आलेख के अंत में लेखक ने भारतीय संस्कृति का शाश्वत स्वर वसुधैव कुटुंबकम् को स्वीकार किया है, जहाँ क्षुद्र स्वार्थों की जगह परमार्थ की धारा गतिमान है।

साहित्य और समाज निबंध के अंतर्गत लेखक ने साहित्य और समाज को परिभाषित करते हुए इनके बीच के रिश्ते की भी विवेचना की है। एक तरफ जहाँ शब्द और अर्थ के सहभाव को साहित्य के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है, वहीं समाज और व्यक्ति को एक-दूसरे के लिए अनिवार्य बताया गया है। बचपन से ही हम सब पढ़ते आ रहे हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के होने की सार्थकता यही है कि वह जहाँ भी होगा, उसका कोई-न-कोई समाज जरूर होगा। बिना समाज के मनुष्य और बिना मनुष्य के समाज की परिकल्पना ही अधूरी है। इसलिए मनुष्य और समाज दोनों के बीच के अन्योन्याश्रित संबंध को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। स्पष्ट है कि मनुष्य है तो समाज है और समाज है तो सामाजिक गतिविधियाँ हैं। इसके बाद हमें साहित्य को समझना चाहिए और वह भी यदि प्रेमचंद के शब्दों के सहारे समझने की कोशिश करें तो और सुगमता होगी।

प्रेमचंद ने बिलकुल ठीक कहा है कि साहित्य समाज का दर्पण है। दर्पण झूठ नहीं बोलता, साहित्य में भी झूठ को जगह नहीं दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि जो समाज में है, वही साहित्य में प्रस्तुत किया जाता है। जैसे हमें अपने चेहरे की वास्तविक स्थिति को ज्ञात करने के लिए दर्पण की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार समाज की वास्तविक तस्वीर देखने के लिए उस समाज के साहित्य की आवश्यकता होती है। इसलिए हमें जिस किसी भी समाज के बारे में जानना हो, उसे जानने के लिए हमें उस समाज-विशेष के साहित्य को पढ़ना नितांत अनिवार्य होगा। जैसे हम दर्पण में चेहरे का प्रतिबिंब देखकर उससे भली-भाँति परिचित

होते हैं, ऐसे ही समाज-विशेष के साहित्य को पढ़कर उसके प्रतिबिंब से भली-भाँति परिचित हुआ जा सकता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि साहित्यकार अपने युग-परिवेश से असंपृक्त नहीं रह सकता, उसकी रचनाओं में देश-काल की अनुगूँज कमोबेश होती ही है। इस दृष्टि से लेखक ने साहित्य और समाज के अंत:संबंध को भली-भाँति स्पष्ट करते हुए अपनी संतुलित विश्लेषण-क्षमता का परिचय दिया है।

साहित्य के मूल्य क्या हैं, क्या हो सकते हैं, क्या होने चाहिए आदि पर लेखक ने 'साहित्य के मूल्य' शीर्षक के अंतर्गत गंभीरतापूर्वक विचार किया है। यूँ तो इस विषय पर बड़े-बड़े भारतीय और पश्चिमी विद्वानों ने अपने मत दिए हैं। यहाँ उनका विश्लेषण करना अपना उद्देश्य नहीं है। अपितु मात्र लेखक की विवेचना-विश्लेषण दृष्टि का परिचय देना है। लेखक के विचार-विश्लेषण का जो निष्कर्ष है, उसके अनुसार साहित्य सत्य, शिव और सुंदर की प्रतिष्ठा के लिए रचा जाता है। जो हमारी अनुभूतियाँ है वे 'सत्य' हैं, उनकी प्रस्तुति 'शिव' है और रमणीयता की दृष्टि से प्रस्तुति में कलात्मकता का यथोचित समावेश ही 'सुंदर' है। इस प्रकार एक साहित्यकार को अपनी कृतियों के माध्यम से जीवनानुभव के सत्य का लोकहितपरक शिवत्व भावना के साथ पाठकों की रुचि और अपनी सामर्थ्य के अनुसार कलात्मकता का समायोजन करते हुए साहित्य-रचना द्वारा समाज के विकास में अपना योगदान देना होता है। जो साहित्यकार इस परिपाटी का अनुसरण करेगा, वह दीर्घजीवी होगा अन्यथा लिखने को तो असंख्य लोग लिखनेवाले हैं। हिंदी सहित्य की ही बात करें तो आज भी कबीर, सूर, तुलसी, गुप्त, प्रसाद, प्रेमचंद, निराला, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, हरिशंकर परसाई आदि जैसे रचनाकार तो विरले ही मिलेंगे और इन्हीं विरले रचनाकारों को साहित्य अपनी थाती मानते हुए निरंतर इन्हीं से शक्ति प्राप्त कर अशक्त को सशक्त बनाने में अपनी भूमिका अदा करता रहेगा, यह तय है।

पहले उल्लेख किया गया है कि डॉ॰ प्रचंडिया एक विश्वविद्यालय में हिंदी के प्रोफेसर हैं और देश की युवा पीढ़ी को शिक्षित करते हुए उनका भविष्य निर्माण करने का पुनीत कार्य कर रहे हैं। आज समाज में अधिकारों की तो अक्सर बात की जाती है, किंतु अपने दायित्वों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। एक प्राध्यापक और साहित्यकर्मी की हैसियत से लेखक यह स्पष्ट करता है कि यदि हम सब अपने-अपने दायित्वों को भली-भाँति समझते हुए उनका निर्वहन करें तो समाज सुचारु रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। बिडंबना है कि ऐसा नहीं होता। हममें से अधिसंख्य लोग अपने अधिकारों की, हितों की चिंता तो करते हैं, किंतु अपने दायित्वों की नहीं। इस बिंदु पर प्रकाश डालते हुए हम देखते हैं कि आज के समाज और सामाजिक जीवन पर लेखक की बहुत गहरी पकड़ है। एक कुशल प्राध्यापक और सजग साहित्यकार होने के नाते वे 'साहित्यकार का दायित्व' शीर्षक से अपने विचारों को पाठकों के सम्मुख रखते हैं। 'परिस्थितियों के संघर्षों को साहित्यकार ही वाणी देता है।...वही अंधकार से प्रकाश की ओर ले जानेवाला है, उसी के लिए समस्त पीड़ित मानवता की यह पुकार है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' वही निश्चेष्ट जड़ता से क्रियाप्रभूत चैतन्य की ओर ले जानेवाला है, उसी से जड़ता के बोझ से आक्रांत ऊबी हुई सृष्टि का यह आह्वान है–'असतो मा सद्गमय'।...युद्धजन्य परिस्थितियों ने, वैज्ञानिक भूत तंत्रों के अमानुषिक उपयोग ने मानव को जिस संकटापन्न अवस्था में जकड़ लिया है, उसी की दुर्वह कल्पना से आज का मानव-मानस-साहित्यकार उद्वेलित है।...आज के युग में जितने

संकट और खतरे हैं उतने कभी नहीं थे।' (वही, पृष्ठ 46-47)

यहाँ आखिरी पंक्ति को हमें ठीक से समझने की जरूरत है। वास्तव में हर युग में जीवन और जीवन जीने का संघर्ष बड़ा कठिन होता है। किसी भी युग का जीवन इतना सरल कभी नहीं रहा। आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक हम किसी भी युग के मानव-जीवन का मूल्यांकन करें तो यही सच सामने आएगा। फिर इस तरह की पंक्ति के क्या मायने हैं? वास्तव में जब हम पूरे काल को समग्रता में देखते हैं तो पाते हैं कि अतीत और भविष्य के मुकाबले वर्तमान हमेशा ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है और इसीलिए हम अपने विश्लेषण-विवेचन में वर्तमान पर अधिक जोर देने के लिए प्रायः इस तरह की पंक्तियों का उल्लेख करते-पढ़ते-सुनते हैं।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि इसके पूर्व का जीवन बड़ा सरल था। बहरहाल! लेखक का यह कहना कि आज के युग में जितने संकट और खतरे हैं, उतने कभी नहीं थे, का आशय मात्र इतना है कि आज का जीवन बहुत जटिल है और जीवन जीने के लिए असंख्य बार मरना पड़ता है। बचपन में रेडियो पर सुने एक भोजपुरी गीत की पंक्ति प्रसंगवश याद आ गई है, जिसका उल्लेख पाठकों के लिए और अपनी बात की पुष्टि के लिए जरूरी प्रतीत हो रहा है : 'दीयरा के बाती अइसन जरे के पड़ी/ दुनिया में जिए खातिर मरे के पड़ी।' हम देखते हैं कि लेखक इन खतरों की बात करते हुए आगे कहता है कि 'हम उन खतरों की यथार्थ परीक्षा के अधिकारी तो नहीं, पर कर्त्तव्य की वेदी पर अपने सोच के साथ उन्हें प्रस्तुत करना हमें ईप्सित है।...आगे लेखक की चिंता है कि 'हिंदी में हम आज के साहित्यकार को उलझन में पड़ा हुआ पाते हैं। वह अहंकार के शिखर पर आरूढ़ हो आकाशकुसुम की बात करता है। अपनी भ्रांत मौलिक सूझों को मानव- कल्याण का हेतु बताता है।...आज का साहित्यकार निश्चय ही अध्यात्म की ओर नहीं जाता, फिर भी प्रेम की अलौकिक कल्पना से उसका छुटकारा नहीं हुआ है। वह प्रेम का आकर्षण दो शरीरों का आकर्षण नहीं, दो आत्माओं का आकर्षण स्वीकारता है। प्रेम दूसरे रूप में शारीरिक आवश्यकता को प्रकट करने का साधन-भर है।...अध्यात्म-पक्ष में प्रेम वह चीत्कार है, जो परमतत्त्व से वियुक्त होने के कारण जीव के हृदय में उठता है। भौतिकपक्ष में यौन-उद्रेक ही प्रेम है। अब यहाँ जो बात लेखक ने अपनी आखिरी पंक्ति में कही है, 'यौन-उद्रेक ही प्रेम है' इस कथन से सभी सहमत हों, जरूरी नहीं है। मुझे भी यह कथन हजम नहीं होता। यदि यौन-उद्रेक ही प्रेम है तो वासना क्या है? और फिर देशप्रेम, भाषाप्रेम, कर्तव्य-प्रेम, पशु-प्रकृति-मानव के परस्पर प्रेम आदि का क्या होगा? क्या उन सबको प्रेम की परिधि से बाहर कर दिया जाएगा? मनुष्य-मनुष्य के बीच का प्रेम, माँ-बेटे-बेटी का प्रेम, पिता, गुरु, व अन्य रिश्तेदारों का प्रेम किस श्रेणी में रखा जाएगा, क्योंकि वहाँ तो कोई यौन-उद्रेक कार्य नहीं करता। मुझे लगता है कि यहाँ इन बिंदुओं पर डॉ॰ प्रचंडिया को अपनी बात को और विस्तार से प्रकट करने की आवश्यकता है। बहरहाल! यह लेखक साहित्यकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता है कि साहित्यकार आखिर क्यों अपनी निजी इच्छा को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है? अवश्य ही वह उसका प्रचार-प्रसार चाहता है, तब उसे अपनी बुद्धि को परिमार्जित ही नहीं, संस्कारयुक्त ही नहीं, स्वतंत्र भावना से उसको परीक्षित कर साहित्य के कर्म में नियोजित करना होगा। यदि ऐसा नहीं होता है तो साहित्य खतरे में है।...भय साहित्यकार के लिए उतना ही घातक है, जितना प्रलोभन अथवा विवशता।...साहित्यकार सर्जक होता है विध्वंसक नहीं।' (पृ॰ 49) दीगर बात यह

है कि साहित्य हमें प्रवृत्त करता है निवृत्त नहीं। साहित्यकार बुद्धिनिष्ठ की श्रेणी में आता है और अपनी बुद्धिनिष्ठा का प्रयोग करते हुए समाज की वस्तुस्थिति का उद्‌घाटन करता है, वर्तमान के प्रति सजग-सचेत रहता है, भविष्य का मार्गदर्शक होता है। साहित्यकार भूत से प्रेरणा पाकर भविष्य पर दृष्टिक्षेप करते हुए वर्तमान को सजाता-सँवारता है।...साहित्यकार संवेदनशील होता है। अतः उसमें दायित्वबोध होता है।

साहित्यकार के दायित्व के साथ ही साहित्य की पठनीयता का सवाल भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रसंग में दिल्ली विश्वविद्यालय के एक महाविद्यालय में सहायक प्राध्यापक-हिंदी पद हेतु आयोजित साक्षात्कार में विशेषज्ञ के रूप में उपस्थित एक विद्वान प्रोफ़ेसर द्वारा पूछा गया सवाल यहाँ उल्लेखनीय है। उनका सवाल था कि रागदरबारी में श्रीलाल शुक्ल ने जो गाँव (शिवपालगंज) का चित्रण किया है, वह पूरी तरह यथार्थ है या उसमें कल्पना है? मैंने प्रेमचंद के कथन को उद्धृत करते हुए कहा कि साहित्य समाज का दर्पण है और दर्पण कभी झूठ नहीं बोलता। इसलिए साहित्य पहली नजर में सच ही है, झूठ तो कतई नहीं। इसके साथ-साथ मैंने पश्चिमी विद्वान ड्राइडन के कथन की भी याद दिलाते हुए कहा कि 'काव्य (साहित्य) मानव-जीवन का यथावत् और जीवंत प्रत्यंकन है।' इन विद्वानों के साथ-साथ हम यदि भारतीय संस्कृत आचार्य के भी कथन को स्मरण रखें तो बात और स्पष्ट हो जाएगी। वह कथन है–रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं। काव्य अथवा साहित्य की सार्थकता तभी है, जब वह रमणीय अर्थ का बोध कराए। इसके अभाव में साहित्य साहित्य नहीं रहेगा, कुछ और भले ही हो। अब सवाल यह है कि आज मानव-जीवन इतना जटिल, संघर्षमय और नीरस है कि उसकी यथावत् प्रस्तुतिमात्र की जाए तो साहित्य में जीवंतता आ ही नहीं सकती और जीवंतता के अभाव में साहित्य के समक्ष पठनीयता का बहुत बड़ा संकट खड़ा हो सकता है। इसलिए जहाँ तक मेरा मानना है कि चाहे वह किसी भी विधा का साहित्य हो, यदि वह साहित्य है तो उसमें यथार्थ के साथ कल्पना का समावेश अनिवार्य है। और इस दृष्टि से यह स्वीकार करना उचित होगा कि श्रीलाल शुक्ल ने अपने उपन्यास रागदरबारी में शिवपालगंज नामक गाँव के चित्रण में भी यथार्थ के साथ-साथ कल्पना का सहारा निश्चित रूप से लिया है और यह समावेश गैरवाजिब बिलकुल नहीं है।

डॉ॰ प्रचंडिया भी 'साहित्य की पठनीयता : दशा और दिशा' के अंतर्गत अपनी दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। समाचार-पत्र और साहित्य का अंतर स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, 'समाचार-पत्र हमें केवल समाचार देता है। कवि उस दुर्घटना को अपनी कल्पना से पुनर्जीवित कर हमारे सामने उपस्थित करता है। जो कार्य चित्रकार अपनी तूलिका से करता है, वह कार्य कवि अपनी भाषाशक्ति द्वारा करता है।' (वही, पृष्ठ 57)

मुख्य समस्या यह है कि आज के इस अर्थप्रधान युग में सब-कुछ अर्थकेंद्रित हो गया है। साहित्य-रचना भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं है। हम देखते हैं कि जब तक साहित्य को आम जनमानस के दुख-दर्द से जोड़कर रचा गया तो जनमानस ने भी उसमें अपने दुखों और संघर्षों की प्रतिच्छवि देखी और अपना साहित्य मानकर उसे पढ़ने वालों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हुई, किंतु आज जब साहित्यकार अपना फायदा देखते हुए रचना कर रहे हैं तो पाठकों का भी रचना की ओर आकृष्ट होने से पूर्व उसमें अपना फायदा देखना लाजमी है। इस अपना-अपना के चक्कर में साहित्य का बंटाधार हो रहा है। आज समाज की असली तस्वीर दिखाने वाले साहित्य-रचना

की प्रवृत्ति घटी है और पूँजीपतियों, दबंगों, सत्तासीनों के दरबार की चापलूसी में अपने निहित स्वार्थपूर्ति के लिए रचना करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इससे साहित्य और साहित्यकार दोनों की अलोकप्रियता बढ़ी है, विश्वसनीयता घटी है। ऐसी स्थिति में साहित्य की पठनीयता का संकट तो होगा ही। हालाँकि लेखक इन संकटों के बावजूद साहित्य की पठनीयता की दशा-दिशा पर सार्थक विचार करता है। डॉ॰ प्रचंडिया साहित्य और साहित्य के मूल्यों को लेकर अधिक जागरूक हैं। अपने लेखकीय और अध्यापकीय जीवन में वे अक्सर इन प्रश्नों से जूझते दिखाई देते हैं। 'साहित्य के मूल्य' आलेख में डॉ॰ प्रचंडिया लिखते हैं, 'वह भाव सुंदर है, जो मानव को क्षुद्रता से ऊपर उठाकर औदात्य की ओर ले जाए। राग-द्वेष के बंधन से मुक्त होने में सहायता करे, साहित्य का सौंदर्य यही है। साहित्य का एक व्यापक उद्देश्य है मानव-कल्याण में सक्षम होना।. ..साहित्य का अंतिम उद्देश्य भी हितकर फूलों अर्थात भावों की उपलब्धि है,.....सौंदर्य का अर्थ है वह भाव या वस्तु, जिसमें हमारे मन को मुग्ध करने की सामर्थ्य हो। यदि किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर ग्लानि या शोक द्वारा हमारा हृदय द्रवीभूत हो जाता है तो उस समय इन भावों का वह रूप-विशेष निश्चय ही सुंदर कहलाने का अधिकारी है। वस्तुत: जीवन की अनुभूतियों में वे ही रूप रमणीय होते हैं, जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके।' (वही, पृष्ठ 45) ऐसे एक नहीं अनेक स्थल लेखक ने इस कृति में पाठकों के लिए उपलब्ध कराए हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक स्वत: इन पंक्तियों के पीछे छिपी जीवन-दृष्टि से परिचित हो सकेगा।

आज जिस समाज में हम रह रहे हैं, वह आधुनिक समाज कहा जाता है। यह जानना आवश्यक है कि आधुनिक समाज की परिभाषा क्या है? आधुनिकता क्या है? ऐसा नहीं है कि आज से पूर्व किसी ने इन बिंदुओं पर विचार नहीं किया है। निश्चय ही विचार करने वालों ने कई-कई बार विचार किया है और अपनी मान्यताएँ भी समाज के समक्ष रखी हैं।

डॉ॰ प्रचंडिया ने भी अध्ययन-अध्यापन के क्रम में इन शब्दों से गुजरते हुए और उनके अर्थों को ज्ञात करने के लिए कड़ी मेहनत की है। इसी चिंतन-मनन की परिणति है एक अन्य आलेख, जिसका शीर्षक है 'आधुनिकता-बोध : रूप और रंग'। इस आलेख में लेखक ने आधुनिकता और आधुनिकता के प्रति हमारे बोध, हमारी समझ को और साफ करने की कोशिश की है। इसके विविध रूप-रंगों को स्पष्ट करने की कोशिश की है। यह तो स्पष्ट स्वीकार करना चहिए कि जब भी कोई भाषा, वस्तु, विचार, विषय आदि हमारी जरूरतों को पूरा करने में असमर्थ होने लगता है, तब उसे चुका हुआ मान लिया जाता है और तब हमारी जरूरतों को पूरा करने के लिए हम किसी नई भाषा, वस्तु, विचार, विषय आदि की खोज करते हैं और तब वह अस्तित्व में आता है। यही बात आधुनिकता के लिए भी लागू होती है। हम सब जानते हैं कि मध्यकाल में बहुत सी खामियाँ रही हैं (और कुछ खूबियाँ भी रही हैं)। खामियों को दूर करते हुए हमने मध्यकालीनता के बरक्श जिस नई जीवन-पद्धति को विकसित किया है, उसका नाम आधुनिकता है।

मेरी मान्यता है कि मध्यकाल की भेदभावपूर्ण जीवन-पद्धति से मुक्ति और जीवन-स्तर को सरल-सुगम बनाने के लिए ही आधुनिकता का जन्म हुआ होगा। किंतु अभी भी आधुनिकता ने अपने लक्ष्य को पूरी तरह हासिल नहीं किया है। इस आलेख में लेखक कहता है, 'कवींद्र रविंद्र का मानना है कि विश्व को व्यक्तिगत आसक्त भाव से न देखकर निर्विकार तद्गत भाव से देखना

ही आधुनिकता है। डॉ॰ नामवर सिंह आधुनिकता को कभी मूल्य के रूप में आँकते हैं तो कभी प्रक्रिया के रूप में। अज्ञेय इसे 'सापेक्षवाद' में देखते हैं तो कुबेरनाथ राय 'विचार' में। लक्ष्मीकांत वर्मा आधुनिकता को 'मानसिक दृष्टि' स्वीकारते हैं और डॉ॰ रघुवंश 'असंपृक्त यथार्थदृष्टि'। डॉ॰ रामदरश मिश्र आधुनिकता को मूल्य एवं नियति के रूप में मानते हैं। असल में आधुनिकता की मानसिकता का नियामक तकनीकी विकास है, साथ ही आधुनिकता की प्रक्रिया से संपर्क पाकर संस्कृति की प्रासंगिकता बढ़ जाती है। क्योंकि आधुनिकता पुरातन की पड़ताल की प्रक्रिया नहीं है। उसमें नूतन सर्जना, परीक्षण, प्रासंगिकता और परिवर्तन की क्रियान्विति है। इसीलिए आधुनिकता की संस्कृति के आधार पर विधान में हर अनुपयोगी, पुरानी, प्रतिगामी वस्तु के बहिष्कार की भावना है।' (पृष्ठ 50)

लेखक ने इस आलेख में आधुनिकता के बरक्स समसामयिकता पर भी विचार किया है और अपने महत्त्वपूर्ण विचारों से पाठकों और छात्रों की कठिनाइयों को दूर करने की पर्याप्त कोशिश की है। हालाँकि इस चर्चा में लेखक यह स्पष्ट कर देता है कि 'जिस तरह कोई रूढ़ि परंपरा नहीं हो सकती, उसी तरह समसामयिकता आधुनिकता भी नहीं हो सकती। समसामयिकता अपने युग की चेतना है और आवश्यक नहीं कि मध्ययुगीन समसामयिकता आज अपनी प्रासंगिकता रखती है।' (वही) अतीत, वर्तमान और भविष्य की विभिन्नता उसके समसामयिक होने के ही कारण है। लेखक भक्तिकालीन और रीतिकालीन साहित्य की भिन्नता का कारण समसामयिकता को ही बताता है। लेखक की मान्यता है कि 'समसामयिकता ही आधुनिकता का स्थान ले सकती है'। वाल्मीकि, भवभूति और राम के उदाहरण द्वारा वह अपनी बात को और प्रभावशाली ढंग से पाठकों के समक्ष रखता है। निचोड़ बस इतना है कि जो अतीत में न्यायोचित था, वह आज भी न्यायोचित हो, जरूरी नहीं है। क्योंकि समयचक्र अपनी गति से गतिमान है। प्रकृति निरंतर परिवर्तनशील है। परिवर्तन ही सबसे बड़ा सत्य है। जैसे मध्यकाल में नारी के प्रति जो सोच थी वह उस समय के परिवेश के कारण साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुई, किंतु आज भी वही चलता रहे, यह माँग तो सरासर अनुचित ही कहा जाएगा। सबको मालूम है अब जमाना बदल चुका है, नारी की स्थिति और नारी के प्रति समाज की सोच में परिवर्तन आना लाजमी है। कल तक नारी की आलोचना पर उतना ध्यान न देकर इसे समाज में उसकी स्थिति से जोड़ दिया जाता था, किंतु आज वही बात नारी-विरोधी की श्रेणी में रखी जाती है और कहने वाले को नारीविरोधी होने का ठप्पा लग जाएगा। इन संदर्भों में हम कबीर और तुलसी की पंक्तियों को भी नहीं बख्शते हैं। लेखक की मान्यता बिलकुल ठीक है कि 'समकालीन बोध यह तमीज सिखाता है कि कुल समसामयिकता में से क्या उपजीव्य है, यह उपजीव्य कैसे उपभोग्य है, यह शऊर आधुनिक बोध देता है।.... आधुनिकता को हम एक ऐसी विचारदृष्टि और बोध-प्रक्रिया कह सकते हैं, जो अपने समाज का युगानुरूप संस्कार करती हुई पुरातन पड़ गए समय-बाह्य मूल्यों को नकारकर युगसम्मत जीवन-मूल्यों की स्थापना का ईमानदार प्रयत्न करती है।...आधुनिकता को एक प्रकार की प्रश्नाकुलता कहा जा सकता है, जो प्रत्येक मूल्य और स्थिति को विवेक की तुला पर खरा पाकर ही ग्रहण करती है। इस प्रकार, आधुनिकता एक सतत प्रक्रिया है, जो हर युग में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है। आधुनिकता काल-सापेक्ष होते हुए भी कालजयी है। कालसापेक्ष अर्थ में आधुनिकता एक युग-विशेष की द्योतक है और कालजयी के अर्थ में यह विभिन्न प्रभावों से

उत्पन्न मानसिकता की। इस दृष्टि से आधुनिकता न केवल एक गतिशील प्रत्युत रचनात्मक प्रक्रिया है, जीवनमूल्यों की अनिवार्यता भी है।....वस्तुतः आधुनिकता जीवन के विकास-क्रम की अपरिहार्य प्रक्रिया है, नियति है, जिसे स्वीकार करना ही होगा। इन आलेखों के अतिरिक्त भी कई ऐसे आलेख हैं, जो मेरी दृष्टि में बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित हैं। इनमें 'स्त्री : चेतना, अस्मिता और विमर्श', 'आधुनिक संदर्भ में संतकाव्य की प्रासंगिकता', 'हिंदी ग़ज़ल : स्वरूप और परंपरा', 'समकालीन हिंदी लघुकथा : संवेदना और संभावना', 'हिंदी कविता: नवें दशक से सन 2010 तक' प्रमुख हैं। ऐसे प्रतिभाशाली शलाका-पुरुष डॉ॰ प्रचंडिया की कृतियों को पढ़ना मेरे लिए एक स्मरणीय अनुभव रहा है और उनकी कृतियों के बारे में अपने विचार आप सुधीजनों तक पहुँचाना मेरी गौरवानुभूति के लिए पर्याप्त है।

मो॰ 9868722444

संपूर्ण भारत को एकसूत्र में बाँधने हेतु दक्षिण भारत में हिंदी : क्यों और कैसे

डॉ॰ वी॰ जयलक्ष्मी
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी
मद्रास क्रिश्चियन कालेज, ताम्बरम (चेन्नै)

'एक हृदय हो भारत जननी'

मनुष्य ने भाषा का सृजन किया था अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए। अत: भाषा साधन है; एक सरलतम साधन। देश का हर नागरिक, हर बच्चा राष्ट्र की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। सबसे ही राष्ट्र एवं राष्ट्रीय भावनाओं का निर्माण होता है। यदि एक-दूसरे के विचारों का आदान-प्रदान ही न हो सके तो स्थिति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, अस्तु समस्याओं के समाधान के लिए एक भाषा, एक राष्ट्रभाषा का प्रश्न सामने आया। भारत में अनेक भाषाएँ हैं, अनेक बोलियाँ हैं, किंतु संपर्क भाषा एवं राजभाषा हिंदी है। राष्ट्र-भर में बहुसंख्यकों की भाषा, हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक जन-जन उसे जानता है, पहचानता है, बोलता है।

हिंदी एक भाषा है; राष्ट्र-भर में बहुसंख्यकों की भाषा; देश को जोड़ने वाली एक महत्त्वपूर्ण भाषा; भारत की संपर्क भाषा, भावैक्यता की भाषा, राष्ट्रभाषा राजभाषा।

हिंदी को एक भाषा मानते हुए, उसे मात्र एक भाषा स्तर पर छोड़ देना उचित नहीं है। वह भारत की राष्ट्रीय एकता का महत्त्वपूर्ण साधन है, उसकी आत्मा में भावात्मक एकता है। एक भाषा का विकास दूसरी भाषा की उन्नति में सहायक होता है। अंतर्प्रांतीय संपर्क की भाषा के रूप में हिंदी को अकस्मात् ही नहीं चुना गया। इसकी एक पृष्ठभूमि है। 19वीं शताब्दी में स्वामी दयानंद, केशवचंद्र सेन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, बालगंगाधर तिलक जैसे महान समाज-सुधारकों ने इसे समस्त भारत के लिए संपर्क भाषा के रूप में चुना था। वे सभी हिंदीतर भाषी थे। आगे चलकर महात्मा गांधी जी ने तो हिंदी प्रचार को राष्ट्रीय आंदोलन का एक हिस्सा बना दिया और उसके फलस्वरूप देश के कोने-कोने में राष्ट्रीय चेतना व्याप्त हो गई। उस समय उनके सामने ये सच्चाई थी कि अँग्रेजी के माध्यम से वे केवल कम प्रतिशत ही पहुँच पाएँगे, जबकि हिंदी के माध्यम से वे पूरे देश को एकसूत्र में बाँध सकते हैं। गांधी, विनोबा, जगतगुरु शंकराचार्य, सुब्रह्मण्य भारती आदि भी हिंदीभाषी नहीं थे, किंतु हिंदी के प्रचार-प्रसार, विकास में इनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। इन सबके मन में राष्ट्रीय एकता का प्रश्न सर्वोपरि था।

तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम के जो नेता परंपरागत प्रमुख वर्गों के खिलाफ लड़ रहे थे, वे उन्हीं वर्गों का हित साधने वाली अँग्रेजी भाषा की माँग करने लगे और अपनी जनभाषा

तमिल की उपेक्षा करने लगे।

हिंदी और भारतीय भाषाओं को यह असमानता मिलने से यह अंतर समाप्त हो सकता है। शासकवर्ग और जनसाधारण की भाषा एक होने से जनता के विकास की गतिविधियों में अधिक सहयोग मिल सकता है। यदि जनता और सरकार की भाषा एक होगी तो सरकारी विभागों से भ्रष्टाचार भी खत्म होगा, क्योंकि अफसरों के कामों पर जनता की सीधी निगरानी रहेगी और वे एक अबूझ भाषा की आड़ में मनमानी नहीं कर पाएँगे। इसके अलावा जो बच्चे इस समय विदेशी भाषा के आतंक के कारण उचित शिक्षा नहीं ले पाते और बीच में ही स्कूल छोड़ देते हैं, वे भी पढ़-लिखकर देश के विकास में योगदान दे सकेंगे।

भारतीय संविधान की भाषा-नीति के अनुसार भारत का दक्षिणी भाग (आंध्र, तमिल, कर्नाटक और केरल) पश्चिम के दो राज्य (महाराष्ट्र एवं गुजरात) पूर्व के तीन राज्य (बंगाल, उड़ीसा और असम) यह सभी राज्य अपनी-अपनी भाषाओं को अपने राज्यों की राजभाषाएँ घोषित कर चुके हैं। इन भाषाओं को राज्य के सभी कार्यकलापों के लिए सशक्त बनाया जा रहा है। दूसरी तरफ उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली आदि हिंदी राज्यों के क्षेत्र में शामिल हैं। पंजाबी और कश्मीरी जो हिंदी से मिलती-जुलती हैं, भाषायी क्षेत्रों के अनुसार हिंदी से प्रभावित भू-भाग के अंतर्गत आ जाती हैं। इस तरह भाषायी क्षेत्र के अनुसार भारत दो भागों में बाँटा हुआ नजर आता है। एक तरफ हिंदी और हिंदी से प्रभावित क्षेत्र और दूसरी तरफ वे राज्य, जहाँ पर हिंदीतर भाषाएँ प्रचलित हैं।

संविधान के अनुसार, आज भारत की राजभाषा हिंदी है और अँग्रेजी सहायक भाषा। आज कई कारणों से हिंदी को उतना महत्त्व नहीं मिल पा रहा, जितना उसको मिलना चाहिए। फिर भी किसी-न-किसी दिन हिंदी को भारत की राजभाषा बनना ही है। इसलिए हिंदी के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह विकसित एवं समृद्ध अँग्रेजी भाषा के स्थान को ग्रहण करने के लिए ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों को सशक्त अभिव्यक्ति देने वाली उस अँग्रेजी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति को अर्जित करे।

इतना ही नहीं, आज उसे हमें अंतर्राष्ट्रीय व्यवहारों को निपटाने का एक संपर्क भाषा-माध्यम भी बनना है। अँग्रेजी अब तक यह दायित्व निभाती रही है। हिंदी को उस दायित्व को निभाने के लिए सशक्त करना है। हिंदी आज विश्व की प्रमुख भाषा है। इसको बोलने और समझने वाले सारे भूमंडल में फैले हुए हैं—मारिशस, फिजी, गयाना, सूरीनाम, मैडगास्कर आदि अफ्रीका के कई देशों में काफी संख्या में हिंदीभाषी हैं। यहाँ तक कि हिंदी मारिशस की राजभाषा भी बन चुकी है। इस नाते हिंदी अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के माध्यम के रूप में पहले से ही एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुकी है।

संपूर्ण भारत को एक सूत्र में बाँधने हेतु दक्षिण भारत में हिंदी : (कैसे)....

शिक्षा के जरिये

हिंदी अविकसित है, अप्रबुद्ध है कहते बैठे रहेंगे तो बैठे ही रह जाएँगे। हिंदी विकसित, प्रबुद्ध, सर्वविद्या संपन्न बनेगी तो हमारे ही श्रम से। हमारी शिक्षा-प्रणाली सौ साल से भी ज्यादा पुरानी है, जिसे अँग्रेजों ने अपनी जरूरतों के अनुसार रूपयित किया था। स्वतंत्रता के बाद बदले

हुए युग के अनुरूप यहाँ की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। अत: के॰जी॰ से लेकर पी॰जी॰ तक अँग्रेजी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। जितने भी ऊँचे ओहदे हैं उनके लिए अँग्रेजी में परिणत व्यक्ति ही योग्य माने जाते रहे हैं। अँग्रेजी के सामने दक्षिण भारत में (खासकर तमिलनाडु में) हिंदी को प्रमुखता नहीं दी जा रहीं है। जो हिंदी को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, उन लोगों का उतावलापन ही उसको और बढ़ाने में योग दे रहा है। हिंदीतर भाषियों को इस तथ्य से अवगत होने है कि उनकी भाषाओं का हक अँग्रेजी मार रही है न कि हिंदी।

यदि हम अपने राज्य की भाषा के साथ अँग्रेजी को सीखने-सिखाने की बढ़-चढ़कर कोशिश करते हैं तो राजभाषा के साथ राष्ट्रभाषा क्यों नहीं सीख सकते! यह तभी संभव होगा जब दक्षिण भारत के हर प्रांत में हिंदी भाषा शिक्षा का माध्यम बने। दक्षिण भारत में खासकर तमिलनाडु में हिंदी कम बोली जाती है, लेकिन लोगों में हिंदी सीखने का उतावलापन जरूर है। घर में माँ-बाप अँग्रेजी नहीं बोलते, मातृभाषा का ही प्रयोग करते हैं, लेकिन बच्चे प्री॰के॰जी॰ यानि ढाई-तीन साल में ही अँग्रेजी बोल लेते है और समझ लेते हैं। कारण यह है कि स्कूलों में अँग्रेजी बोलना अनिवार्य कर दिया जाता है और जब बच्चे बार-बार शब्दों को सुनते हैं पहचानते हैं तो जल्द ही उस भाषा को ग्रहण कर लेते हैं। इस तरह आसानी से अँग्रेजी बोल-सीख लेते हैं। यही मान्यता अगर हिंदी को दी जाय तो जरूर हिंदी भी सरल रूप से सब दक्षिण भारतीयों के जुबान पर होगी, इस तरह हर भारतवासी हिंदी बोलने लगेगा। अत: हिंदी के॰जी॰ से पढ़ाया जाए और अँग्रेजी माध्यम स्कूलों में जारी न रखें। वे वहीं जारी रहे, जहाँ मातृभाषा अँग्रेजी हो। इसका यह अर्थ नहीं कि अंग्रेजी को हटा दें पर उसे स्कूल में केवल एक भाषा के रूप में पढ़े। अँग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय संपर्क भाषा बनती जा रही है। इसलिए उसे पढ़ना उचित है, पर एक माध्यम के रूप में नहीं। कॉलेजों में भी राजभाषा के अलावा हिंदी सीखना अनिवार्य किया जाना चाहिए।

आज कंप्यूटर के युग में सब अँग्रेजी का इस्तेमाल कर रहे हैं। हम पर जो भाषायी संकट है, उसका समाधान यह भी हो सकता है कि हम अपनी बहुभाषाओं को 'ई-शिक्षा' का माध्यम बनाएँ और उसमें एक सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में स्वीकार करें। यह त्रिभाषा सूत्र का एक बेहतरीन उपाय भी होगा। त्रिभाषा सूत्र का अभिप्राय है–हिंदी, अँग्रेजी और एक भारतीय भाषा (मातृभाषा) की जानकारी।

जनसंचार माध्यम के जरिये

देश का संचार माध्यम इतनी तेजी से बढ़ता हुआ नजर आ रहा है कि उसके माध्यम से भी हिंदीभाषा को दक्षिण में प्रचलित किया जा सकता है। संचार माध्यमों में अत्यंत लोकप्रिय है आकाशवाणी तथा दूरदर्शन। इस दोनों साधनों द्वारा हिंदीभाषा का परिचय देना एवं उसे सिखाना, समझाना सरल है एवं व्यावहारिक भी है, पर अब अधिकतर हिंदी चैनलों को डब कर दिया गया है, जिससे हिंदी चैनलों को लोग अपनी भाषा में समझ लें। अत: हिंदी सीखने का एक सरल रास्ता भी कम हो गया। इसलिए दक्षिण भारत में हिंदी को सिखाने और समझाने के लिए दूरदर्शन के जरिये एक खास चैनल या कार्यक्रम आरंभ किया जाना चाहिए। दक्षिण भारत के जनवासी उसे जरूर उत्सुकतापूर्व देखेंगे। आज यह देखा जा रहा है कि दक्षिण भारत के लोगों में (खासकर

तमिलनाडु में) हिंदी सीखने का उतावलापन तो है, लेकिन सिखाने वाले बहुत कम हैं। वैसे तो दक्षिण भारत में काफी हिंदी प्रचारक हैं, फिर भी प्रचारकों की कमी महसूस हो रही है। अब तो इंटरनेट में भी ऑन-लाइन इसे सीखा और सिखाया जा सकता है। दक्षिण भारत के अहिंदीभाषियों को प्रोत्साहित करने से उत्तर-दक्षिण के मध्य तनाव भी कम हो सकेगा।

साहित्यिक अदान-प्रदान के जरिये–

आधुनिक युग के एक प्रतिठिष्त लेखक इलियट ने कहा था–दुनिया उस वक्त तक नहीं बदलेगी, जब तक कि हमारे राजनीतिज्ञ साहित्य पढ़ना शुरू नहीं करेंगे। किसी शायर ने कहा भी है–

है अँधेरा वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है,
मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं है।

अत: यह साहित्य ही है, जिसके बलबूते पर भारत जैसे विशाल देश के नागरिक सारी भिन्नताओं के बावजूद एक सूत्र में बाँधे जा सकते हैं।

साहित्य में वैचारिक समानता और संवेदनात्मक एकसूत्रता का जो स्वरूप हमारे सामाजिक जीवन के खंडित आदर्श को अभी भी एकसूत्र में बाँधने का प्रयास करता है, उसका अधिकतम, बल्कि सारा का सारा श्रेय साहित्यिक आदान-प्रदान को ही जाता है। हिंदी साहित्य के आदान-प्रदान से न केवल हमारे देश की विभिन्न राज्यों का साहित्य समृद्ध हो रहा है, बल्कि यह हमारे देश की एकता और अखंडता के सूत्र को पुख्ता करता है।

भारतीय साहित्य एक है। उसकी संस्कृति, उसकी जमीन एक है। उसकी चिंतनधारा एक है, उसका मूल आम स्थान है। अगर एक ही प्रकार का दार्शनिक चिंतन, सामान्य नैतिक मानदंड और कलात्मक मानदंड के करण इस देश में दृष्टिकोण की एकता है तो फिर क्यों नहीं हम (उत्तर एवं दक्षिण) भारत को एकता के सूत्र में बाँधें! भावात्मक एकता ही जिसकी आत्मा है, राष्ट्रीय आत्म-गौरव ही जिसका जीवन है, भारत की तमाम भाषाओं के साहित्य रस का रक्त ही जिसकी धमनियों में प्रवाहित होता है और भारतीय संस्कृति के स्पंदन ही जिसके हृदय की धड़कनें हैं, उस हिंदी की हिमायत करना राष्ट्र एवं राष्ट्र में रहने वालों का गौरव बढ़ाना ही है। अत: राष्ट्रीय एकता के लिए यह जरूरी है कि हिंदी साहित्य का आदान-प्रदान निष्पक्ष रूप से हो।

अनुवाद के जरिये

भारतीयभाषाओं के लेखकों और साहित्यकारों में इधर अब कुछ वर्षों से यह मानसिक प्रवृत्ति पाई गई कि वे अपनी रचनाओं को दूसरी भाषा तक और विशेषकर हिंदी में पहुँचाने की अभिलाषा रखते हैं। यह मानसिकता अच्छी है और स्वागत योग्य भी। यहीं पर हम भारतीय भाषाओं के बीच संबंध जोड़ने और आदान-प्रदान करने की दिशा में हिंदी में अनुवाद के महत्त्व को स्वीकार कर सकते हैं। वास्तव में दक्षिण भारतीय भाषाओं के बीच संपर्क और संबंध जोड़ने का एक जबरदस्त माध्यम अनुवाद भी है।

समुत्तिरम का लिखा तमिल उपन्यास 'ओरु कोटुकु वेलिए' का हिंदी अनुवाद पढ़कर कोई महसूस भी नहीं कर पाता कि यह तमिल उपन्यास है। उसे लगता कि यह शुद्ध रूप से

हिंदी में लिखा भारत का साहित्य है और उपन्यास का समाज और परिवेश भारत के किसी भी कोने का हो सकता है। अत: सभी प्रादेशिक भाषाओं से हिंदी में अनुवाद हो रहा है। आज हिंदी में जितने अनुदित ग्रंथ उपलब्ध हो रहे हैं, उतने किसी अन्य भाषा में नहीं। दिलचस्प बात तो यह है कि यह अनुवाद-कार्य अहिंदीभाषियों द्वारा ही किया जा रहा है।

सभी भारतीय भाषाओं को साथ लेकर हम हिंदी को राष्ट्रभाषा का ही नहीं, विश्व की अग्रणी अंतर्राष्ट्रीय भाषा का दर्जा दिलाएँ–तभी विश्व-मंच पर हमारी अपनी पहचान बनेगी। हिंदी नहीं पनपेगी तो शेष भारतीय भाषाएँ भी स्वत: निष्प्राण हो जाएँगी।

अत: जहाँ तक राष्ट्रभाषा हिंदी का सवाल है, उसकी रक्षा का एक मार्ग तो यह होगा कि राजभाषा-संबंधी अधिनियमों का जो भी उल्लंघन करेगा, उसे दंडित करने का प्रावधान बने। संविधान के अनुच्छेदों, राजभाषा नियम और राष्ट्रपति के आदेश का उल्लंघन अगर अपराध माना जाता है तो शायद हिंदी को उसका सम्मान देने की बात भी लोगों को गले उतरे। वह केवल एक भाषा नहीं, बल्कि इस राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने वाली कड़ी है। उसे उसके आसन पर ससम्मान स्थापित करना हमारा प्रमुख दायित्व होना चाहिए। इतना ही नहीं, दुनिया में पचास ऐसे देश हैं, जहाँ हिंदी का प्रयोग होता है। विश्व का एक तिहाई मानव हिंदी समझता है, बोलता है, फिर क्यों नहीं वह विश्वभाषा बन सकती। अपनी संप्रेषणशीलता, वैज्ञानिकता, नित्य चेतनाशक्ति, सामर्थ्य से वह सर्वत्र व्यापक है एवं बढ़ती रहेगी।

दक्षिण भारत (अहिंदी राज्य) के लोगों में काफी उत्सुकता है हिंदी में बोलने और समझने के लिए, लेकिन केवल चाहने से कुछ नहीं होता। शिक्षा में परिवर्तन, साहित्यिक आदान-प्रदान एवं अनुवाद (हिंदी में) जनसंचार का विकास (हिंदी के संदर्भ में) आदि सबके जरिये इसकी सिद्धि हो सकती है।

एक शक्तिशाली और स्वाभिमानी भारतवर्ष के निर्माण हेतु यदि भावनात्मक एकता पर बल देना आवश्यक हो तो हमारा पवित्र कर्तव्य बनता है कि हम अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं की सीमाओं को लाँघकर हिंदी रूपी गंगा में अवगाहन करें और संपूर्ण राष्ट्र की वैचारिक समानता को परखने का प्रयास करें।

इसलिए हिंदी को ऐसी एक समग्र, सर्वांगीण, सशक्त अभिव्यक्ति का स्वरूप दिया जाए, जिससे वह दक्षिण भारत एवं विभिन्न देशों में रहने वाले हमारे प्रवासी भारतीयों का भाषिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आरक्षण कर सके और हमारे अंतर्राष्ट्रीय कार्यकलाप एवं व्यवहारों के लिए संपर्क भाषा का माध्यम भी बना सके।

'मथुरा', प्लॉट नं॰ 38
पाँचवाँ क्रास स्ट्रीट, गोकुलनगर
पेरुमबाक्कम, चेन्नई 600100
फोन: 09445181971, 044-49594734
ई मेल: mathurajaya@gmail.com

हिंदी शब्दकोश की रूपसंरचना

डॉ॰ डी॰एन॰ प्रसाद

प्रस्तावना

शाश्वत सत्य है–'शब्द' ब्रह्म है, शब्दों की संस्कारिता-शृंखला से ही जीवन निबद्ध होते हैं, शब्दों की अपनी इयत्ता होती है (शब्दों के अपने जीवन होते हैं, वे हँसते हैं, रोते हैं, गाते हैं और संवेदनात्मक अनुभूति से संसार को आच्छादित कर देते हैं, फिर ब्रह्म में लीन होकर शाश्वत हो जाते हैं। शब्दों की यह जीवटता सांसारिक होने में मदद ही नहीं, ऊर्जा का प्रेरण भी करती है, यह प्रेरण ही जीवन का प्राण है और हम अनुप्रणित होते हैं कुछ करने को...

शब्द

मन की अविकल छटपटाहट में जब कंठ फूटे होंगे, अभिव्यक्ति के अंग से शब्द शब्दायित हुए होंगे और भव-संसार में भाषा के सवांग से आच्छादित हो गए होंगे। मनुष्य को भाषा के लिए शब्द मिल गए होंगे। इसलिए शब्द भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य कड़ी है। शब्द मन के अमूर्त भाव, इच्छा, आदेश, कल्पना का वाचिक प्रतीक, ध्वन्यात्मक प्रतीक है। शब्द जब मौखिक था तो वह समीरण था। उसका अस्तित्व क्षणिक था। वह क्षणभंगुर क्षण का प्रतीक था। लिखित होकर वह छवि बन गया, चित्र बन गया, मूर्त बन गया। ताड़पत्रों पर, पत्थरों पर अंकित होकर टिकाऊ हो गया। लिपि ने शब्द को स्थायित्व दिया। मुद्रण-कला के आविष्कार से वह शाश्वत हो गया। ज्ञातव्य हो, छपे हुए शब्द ही शाश्वत होते हैं, शब्दों की तलाश होती है, मुद्रित मुद्रा में सर्जित हो जाने की, तभी वह शब्दित होते हैं, शब्दित होना ही शब्दिता है और शब्द जब अपनी टकसाल से निकलकर खजाने में अनुशासित होता है तो उस अनुशासन से आकारित स्वरूप को **'शब्दायन'** भी कह सकते हैं, **'शब्दकोश'** तो कहते ही हैं, और उस अयन में शब्द-क्रोड़ तथा शब्द-क्रीड़ा से जो संभोगित होगा, वही शब्दकोश-कला में निपुण होगा।

शब्दकोश

सामान्यत: शब्द का अर्थ देखने के लिए शब्दकोश की उपयोगिता है, परंतु एक ही किताब में इतने सारे शब्द कैसे आ गए, यह जानना अपने आपमें रोमांचक है। आदमी अपनी उपयोगिता की हर चीज बना लेता है। यही बात कोश-निर्माण के लिए भी है। कोश-निर्माण की प्रक्रिया में शब्दों के संकलन में सभ्यता और संस्कृति के उदय के साथ ही आदमी जान गया था कि भाव के सही संप्रेषण के लिए सही अभिव्यक्ति आवश्यक है। सही अभिव्यक्ति के लिए सही शब्द-चयन आवश्यक है। सही शब्द-चयन के लिए शब्दों के संकलन आवश्यक हैं। शब्दों और भाषा के मानकीकरण की आवश्यकता समझकर आरंभिक लिपियों के उदय से पहले ही आदमी ने शब्दों का लेखा-जोखा रखना शुरू कर दिया था। इसके लिए उसने कोश बनाना शुरू किया।

ज्ञातव्य हो कि सबसे पहले शब्द-संकलन भारत में ही हुए। हमारी यह परंपरा वेदों जितनी, कम-से-कम पाँच हजार साल पुरानी है। **प्रजापति कश्यप** का **'निघंटु'** संसार का प्राचीनतम शब्द-संकलन है। इसमें अठारह सौ वैदिक शब्दों को इकट्ठा किया गया है। **'निघंटु'** पर **महर्षि यास्क** की व्याख्या **'निरुक्त'** संसार का पहला **शब्दार्थ कोश** और कहें तो विश्वकोश यानी एनसाइक्लोपीडिया (Encylopaedia) है। इस शृंखला की अन्यतम और सशक्त कड़ी है। छठी-सातवीं सदी में लिखा गया अमरसिंह कृत **'नामलिंगानुशासन'** या **'त्रिकांड',** जिसे सारा संसार **'अमरकोश'** के नाम से जानता है।

संसार में शब्द-संकलन का एक प्राचीन प्रयास भारत से बाहर का है अक्कादियाई संस्कृति की शब्द-सूची, जो ईसापूर्व सातवीं सदी की रचना है। ईसा से तीसरी सदी पहले **'ईर्या'** नाम का चीनी भाषा का शब्दकोश मिलता है, परंतु आधुनिक शब्दकोशों की नींव इंग्लैंड में सन् 1775 में **सैमुएल जॉनसन** ने डाली। उनकी **'डिक्शनरी ऑफ इंग्लिश लैंग्वेज** (Samuel Johnson's Dictionary of the English Language)' ने कोश-कला को नया आयाम दिया। इसके साथ ही शब्दकोशों का सफर चल पड़ा। पूरे संसार ने इसे शब्द-ज्ञान के लिए आवश्यक माना। ठीक इक्यावन साल बाद, सन् 1826 में अमेरिका के नोह वैबस्टर की **'अ कपैंडियस डिक्शनरी ऑफ इंग्लिश लैंग्वेज** (Noah Webster's A compendious Dictionary of the English Language) प्रकाशित हुई। इसने इंग्लैंड के सैमुएल जॉनसन से आगे की स्तरीयता को स्थापित किया। इसमें साहित्यिक शब्दावली के साथ-साथ कला और विज्ञान के क्षेत्रों को भी स्थान दिया गया। कहने का तात्पर्य कि वैबस्टर के बाद अँग्रेजी शब्दकोशों का रिवीजन और प्रकाशन अपनी रफ्तार में आ गया। धीरे-धीरे अन्य भाषाओं के शब्दकोशों का निर्माण शुरू हो गया। कई शिक्षण-संस्थानों ने तो कोश-निर्माण के लिए कोश-विभाग भी स्थापित कर दिए।

(क) कोश : (Dictionary)

कोश का कोशगत अर्थ खजाना के संदर्भ में सुरक्षित व व्यस्थित व्यवस्था है। शब्द पद के संयोग से बना शब्दकोश शब्दों की व्यस्थित व्यवस्था का अर्थगत भंडार है। अँग्रेजी में शब्दकोश को Dictionary कहा जाता है। Diction से बना Dictionary शब्द के पूर्व की अवधारणा में Diction =k Choice of worosQ अर्थात् शब्द-चयन है, पद-रचना भी है और Diction में Prefix (प्रिफिक्स) ary का संयोग उसे अर्थ आयाम में कोशार्थ बना देता है। आगे यह भी स्पष्ट है कि Diction से तात्पर्य शब्दों के चयन के आधार पर उनका शैलीगत (Stylistic) प्रयोग होता है और यह भी स्पष्ट हो कि प्रयोग की शिक्षा व्याकरण देता है, किंतु सबसे महत्त्व शैली में अर्थ का होता है। इसलिए Dictionary केवल शब्दकोश नहीं, शब्दार्थ का कोश है। हिंदी में शब्दार्थकोश कहना कोई आलंबन नहीं है, लेकिन शब्दकोश से भी अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। अर्थकोश के और रूढ़ अर्थ में शब्दकोश व्याकरण का संकेत तथा अर्थों की छटाएँ लिए रहता है, जो किसी भी 'शब्दकोश' का सौंदर्य है। अस्तु, 'शब्दकोश' और Dictionary समानार्थी हैं।

(ख) विश्वकोश : (Encyclopaedia)

एनसाइक्लोपीडिया की अवधारणा में अतिव्यापकता की जो व्यापकता है, उसे समाहित करने में विश्वकोश की व्यापकता भी सर्वज्ञ है, सर्वज्ञानार्जनावाद की परिधि में विश्वकोश की

अपनी अवधारणा तथा आवश्यकता और Encyclopaedia के अर्थगत विस्तार में विश्वज्ञानवाद हेतु सर्वांग और महत्त्वपूर्ण विवरण की व्यवहारपरक व्याख्या सर्वव्यापी है। इस दृष्टिगत संदर्भ में विश्वकोश और Encyclopaedia भी समानार्थी हैं।

(ग) थिसॉरस : (Thesaurus)

थिसॉरस को प्राय: लोग विश्वकोश की समझ से विश्वकोश ही समझ लेते हैं, जो सर्वथा अनुचित है। विश्वकोश के विरचन में सर्वज्ञानार्जनावाद से अलग थिसॉरस (Thesaurus) पर्याय-शब्दकोश का प्रतिभूत है। शब्दों के बहुपर्याय, विचार और प्रयोग की प्रासंगिकता को बहुअर्थ प्रदान कर शब्दायित करना थिसॉरस है, जिसे हिंदी में 'समांतरकोश' की संज्ञा से विभूषित करना उपयुक्त होगा। आगे एक सूत्र में कहें तो शब्दकोश शब्द को 'अर्थ' देता है और थिसॉरस अर्थ को, विचार को 'शब्द' देता है। एक अच्छा 'कोश' हमें शब्द का मर्म समझाता है, पर एक अच्छा 'थिसॉरस' शब्द का बहुपर्यायवाची समांतर शब्द से आलोड़न कर हमारी वाग्मिता को विचारवान व वाचस्पति बनाता है।

फ्रांसीसी मूल के कला-नाटक समीक्षक, वैज्ञानिक-इंजीनियर पीटर मार्क रोजेट की थिसॉरस 'रोजेट्स थिसॉरस ऑफ इंग्लिश वर्ड्स एंड फ्रेजेज' (Rozet's Thesaurus of English worosQ & Phrases) सन् 1852 ई॰ में प्रकाशित संसार का पहला थिसॉरस है, जिसे 'रोजेट्स थिसॉरस' भी कहा जाता है। इससे पूर्व भारत में संस्कृत में अमरसिंह ने छठी-सातवीं सदी में 'अमरकोश' विरचन करके थिसॉरस की नींव डाल दी थी, लेकिन सामान्य दृष्टि से उसे कोश ही समझा जाता था, यह हमारी भारतीय-विज़न की कमी ही है, क्योंकि वहीं रोजेट महोदय 'अमरकोश' के अँग्रेजी अनुवाद के अध्ययन पर बाद में अपने थिसॉरस को समसामयिक सामाजिक संदर्भ दे पाए। 'अमरकोश' भी समसामयिक समाज के लिए ही प्रणीत था। अंतत: थिसॉरस को 'शब्दकोश' कह सकते हैं, कोश को 'थिसॉरस' कहना अनुचित होगा।

'थिसॉरस' में सामाजिक संदर्भ अनिवार्य होता है। 'अमरकोश' का विरचन भी प्राचीन भारतीय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही हुआ था। मेरी जानकारी में भारत में अँग्रेजी पत्रिका **केरेवान** के संपादक श्री अरविंदकुमार विरचित हिंदी में 'समांतर कोश-हिंदी थिसॉरस' (सन् 1996) के रूप में इस तरह का पहला काम है। पुन: इन्होंने 21 वीं सदी के सातवें वर्ष (2007) में 'द पेंगुइन इंग्लिश-हिंदी-हिंदी इंग्लिश थिसॉरस एंड डिक्शनरी' (The Penguin English-Hindi-Hindi-English Thesaurus and Dictionary) द्विभाषी का विरचन कर थिसॉरस के क्षेत्र में एक नई कड़ी का सूत्रपात किया। मेरे विचार से श्री अरविंदकुमार जी ने अपने इस महत् कार्य के साथ शीर्षक में Dictionary शब्द जोड़कर अच्छा नहीं किया है। Thesaurus तक ही ठीक था, परंतु मुझे लगता है सामान्य बुद्धिजीवी जो भ्रमित रहते हैं, उससे बचने के लिए उन्होंने ऐसा किया हो, क्योंकि एक बड़ी संख्या 'थिसॉरस' को विश्वकोश, शब्दकोश पता न क्या-क्या कह जाती है। मेरी इस अल्प जानकारी के अनुसार सामाजिक संदर्भ में थिसॉरस परिपूर्ण संदर्भ ग्रंथ होता है, जिसे न शब्दकोश कहना उचित होगा और न विश्वकोश!

हिंदी

अपने संस्कार और संस्कृति के कारण हिंदी संसार में शुमार है। अर्थ-छटाओं और शब्द-शक्तियों से परिपूर्ण पदबंधों तथा भाषा-प्रयोग की दृष्टि से हिंदी अत्यंत उन्नत तथा संपन्न

है। चूँकि हिंदीभाषा एक ऐसी प्रतिगामी भाषा है, जिसमें प्रतिवर्ष अनेक नए शब्द बेरोक-टोक प्रवेश करते रहते हैं। फलस्वरूप कुछ शब्द अपना रूप बदल लेते हैं तो कुछ शब्द नए अर्थ देने लगते हैं। समयानुसार शब्द के अर्थ-विस्तार के फलक खुलते भी हैं और बंद भी होते हैं। यह शब्दशक्तियों के अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकुचन का काल-निर्णय निर्धारित करता है। अन्य शब्दकोशों की तरह हिंदी शब्दकोश का काम अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधिक कठिन इसलिए है कि इसमें सभी विषयों और शास्त्रों के ऐसे-ऐसे शब्द आ जाते हैं, जिनका ज्ञान होना किसी एक व्यक्ति के लिए लगभग असंभव-सा तब और हो जाता है, जब कोई नया संशोधित, परिवर्तित, परिवर्द्धित, व्यवस्थित और कलात्मक शब्दकोश उपलब्ध न हो। ऐसे में आवश्यकता महसूस होती है ऐसे कोश की, जो आधुनिक हिंदीभाषा के शब्दकोश की उपयोगिता पूरी करे।

संस्कृत भाषा को सौष्ठव प्रदान करने का महत् श्रेय वैयाकरण कुलगुरु पाणिनी को प्राप्त है। उनके द्वारा अष्टाध्यायी में जहाँ एक ओर ऐसे सूत्र हैं, जो सहस्रों शब्दों की सिद्धि करते हैं, वहीं कुछ ऐसे सूत्र भी हैं, जो केवल एक ही शब्द की सिद्धि के लिए लिखे गए हैं। पाणिनी ने लोकजीवन, प्रकृति और पूर्व साहित्य के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ शब्दों की गति, प्रकार एवं शक्ति को हृदयगंम कर जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, उनसे शब्दसागर संयमित हो गया। शब्दों की मूल प्रकृति का, धातुओं के रूप एवं अर्थों के अनुसार शब्दों के स्वरूप का प्रत्ययों के रूप में संघटन कर आचार्य पाणिनी ने शब्दों को अमरता प्रदान की है। पाणिनी के शब्द-संयम और शब्द-शाश्वतता से ही प्रभावित होकर प्रो॰ मोनियर विलियम्स ने 'द संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' (The Sanskrit-English Dictionary) सन् 1872 में प्रणीत की। यह संस्कृत भाषा की मातृत्व-शक्ति के कारण हुआ। हिंदी में ऐसे शब्दकोश तो बहुत आए, परंतु फादर कामिल बुल्के का Technical English-Hindi Glossary (1955) तथा English-Hindi Dictionary (1968) अपने सोद्देश्यों के कारण प्रतिष्ठित मानक बने। हिंदी में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का 'हिंदी शब्द सागर' के बाद आज डॉ॰ हरदेव बाहरी, डॉ॰ बद्रीनाथ कपूर कृत कोश उपयोगी तो है, परंतु अभी आगे की शृंखला में मील का पत्थर 'हिंदी शब्द सागर' से आगे नहीं बढ़ा। हिंदी शब्दकोश के क्षेत्र में यह कार्य होना अभी बाकी है।

हिंदी शब्दकोश

परिवेश विविधता और शब्द-वैविध्य के संगम के कारण हिंदी विविधा है। विविधस्वरूपा हिंदी अपने भाव में भाष्य की भाषा है। भाषिकी और भाषा पर स्थान, जलवायु और सभ्यता का बड़ा प्रभाव पड़ता है और इस परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण परिवर्तन से लोगों के उच्चारण में अंतर पड़ जाता है। इसी प्रकार सभ्यता की उन्नति के कारण नए-नए विचारों के लिए नए-नए शब्द बनाने पड़ते हैं, जिससे भाषा का शब्दकोश बढ़ता जाता है। कोश-निर्माण के लिए जिस शब्द और भाषा-चेतना की अनिवार्यता होती है, वह भाषिकी और वैयाकरण से ही संपादित होती है, क्योंकि शब्दों का व्याकरणिक परिचय और भाषिकी का भाष्य ही किसी भी भाषा के शब्दकोश को उसकी उपयोगिता और स्तरीयता को प्रामाणिक बनाता है। इसलिए भी कोश-निर्माण के लिए भाषा-ज्ञान तथा व्याकरण-ज्ञान आवश्यक है। कहा भी गया है-'शक्ति ग्रहं व्याकरणोपमान को शाप्त वाक्याद् व्यवहारतश्च' अर्थात् शब्दों के अर्थ का निश्चय व्याकरण, उपमान, आप्तवाक्य तथा लोक में अर्थों के प्रयोग की परंपरा देखकर किया जाता है।

किसी भी भाषा के अनेक स्रोती आयाम से शब्द की निर्मिति होती है। भाषा को एकरूप एवं सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए जिन उपादानों, विधानों की आवश्यकता होती है, उसमें उस भाषा के शब्दकोश का स्थान महत्त्वपूर्ण है। लोकव्यवहार में प्रयोग किए जाने वाले शब्दों का परीक्षण, विद्वानों द्वारा शब्दों की नवीन रचना तथा व्याकरण के अनुसार शब्दों का व्युत्पत्ति-शास्त्र शब्दों के खजाने को शब्दकोश में प्रस्तुत करता है। उसमें अर्थ एवं लिंग-संबंध की एक मान्य व्यवस्था भाषा को अनुशासनहीन होने से बचाती है।

'प्रामाणिक हिंदी कोश' सन् 1949 के प्रणयकर्ता आचार्य रामचंद्र वर्मा की अंतिम कृति शब्दार्थ-दर्शन शब्द-अर्थ की व्यापकता का जो दर्शन कराती है, उससे स्पष्ट होता है कि अर्थ शब्द की आत्मा होती है। अर्थ शब्द के अनन्य संबंध के कारण हरेक शब्दकोश का अपनी भाषा से अनन्य संबंध भी होता है। सुनिश्चित, सटीक और प्रतिगामी भाषा के प्रयोग की दृष्टि से अन्य भाषा के शब्दकोशों की तरह हिंदीभाषा के शब्दकोश का भी महत्त्व निस्संदेह है। स्वरूपगत वैशिष्ट्य की दृष्टि से सन् 1892 ई॰ में बाँकीपुर (पटना) से बाबा बैजूदास द्वारा संपादित 'विवेक कोश' नामक पहला शब्दकोश हिंदी में प्रकाशित हुआ। इसके कुछ समय बाद 'गौरी नागरी कोश', हिंदी कोश, मंगल कोश, श्रीधर कोश आदि अनेक छोटे-बड़े शब्दकोश समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। इस प्रकार हिंदी शब्दकोश का स्रोत अधिक प्राचीन न होकर समय की गति से निरंतर प्रवाहित शब्दमय ऐसा सरिता-सलिल है, जिसका पान कर शब्दार्थ-अन्वेषियों को अद्‌भुत परितोष का आनंद होता है। शब्दकोश का प्रणयन शब्दार्थ-अन्वेषियों के समागम का प्रतिफलन ही है। हिंदी में व्यवस्थित तथा कलात्मक रूप से बड़ा और सर्वांगपूर्ण कोश बनाने का काम पहले-पहल नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने सन् 1909 में आरंभ किया था और उसने बीस वर्षों बाद सन् 1929 में 'हिंदी शब्दसागर' शीर्षक से प्रकाशित होकर अपना प्रतिमान स्थापित किया, जो आज भी प्रतिष्ठित है। यह कोश हिंदीवालों के लिए तो सर्वश्रेष्ठ आदर्श है ही, भारतीय भाषाओं में भी यह अपने ढंग का पहला कोश है। इसमें ऐसे अनेक तत्त्वों का समावेश हुआ था कि वह हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कोश प्रमाणित हुआ। बड़े-बड़े विद्वानों ने भी इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। ज्ञात हो कि हिंदी शब्दसागर की प्रामाणिकता और उपयोगिता की प्रतिष्ठा को समझकर भारत सरकार ने इसके द्वितीय संस्करण के संशोधन व प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता भी उपलब्ध कराई थी। इस बहुश्रुत शब्दकोश के प्रधान संपादक बाबू श्यामसुंदर दास थे तथा सहायक संपादकों में पं॰ बालकृष्ण भट्ट, लाला भगवानदीन, बाबू अमीरसिंह, आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा आचार्य रामचंद्र वर्मा थे। इन्हीं रामचंद्र वर्मा के हाथों हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के अनुरोध पर मानक हिंदी कोश का पाँच खंडों में प्रणयन हुआ, जिस पर भारत सरकार ने इन्हें 'पद्‌मश्री' से अलंकृत किया। ध्यातव्य रहे कि इन्होंने उ॰प्र॰ सरकार की 'राजकीय कोश' का भी प्रणयन किया है।

कोश-कला के उपांग

कोश-निर्माण शब्द-साधना का प्रतिफल है। जो शब्द-साधक होगा, वह इसमें रम जाएगा और कबीर की रमैनी की तरह वागर्थ देगा। पर यह है अत्यंत जटिल और विशद-कार्य! सचमुच यह है कष्टसाध्य, श्रमसाध्य, समयसाध्य और व्ययसाध्य अनुष्ठान! इस अनुष्ठान के लिए अनेक साधकों और प्रचुर साधनों का आलिंगन ही शब्दब्रह्म का उपासक बनाता है!

कोश-कला के विन्यसन में जिन कला-घटकों का अभ्यास जरूरी है उनमें

- **शब्द-चयन**
- **शब्दों का मानक रूप**
- **उच्चारण**
- **भाषा-स्रोत**
- **व्युत्पत्ति**
- **शब्द-भेद**
- **लिंग-निर्धारण**
- **अर्थ विचार** और
- **मुहावरे**

ये नौ पूर्ण घटक हैं, जिन पर कोश-कला अवलंबित है।

शब्द-चयन एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। शब्दकोश-निर्माण में ज्ञान के किन-किन क्षेत्रों के शब्द चयनित हों और कितना हो, यह प्रमुख प्रकरण है। साथ ही अमुक शब्दकोश किस **वय, व्यवहार** और **व्यवस्था** (अनुशासन) के लिए है, तभी शब्द-चयन संयमित होगा और वह शब्दकोश अपने उद्देश्य के प्रति सार्थक सिद्ध होगा।

शब्दों का मानक रूप, उच्चारण, भाषा-स्रोत तथा व्युत्पत्ति एक-दूसरे से शृंखलाबद्ध होने पर भी कोश-निर्माण में प्रत्येक की अपनी सुदृढ़ स्थिति वैसे ही है, जैसे शरीर के प्रत्येक अंग। शब्द का मानकरूप उच्चारण की शुद्धता से स्पष्ट होता है और यह उस शब्द के मूल-स्रोत में जाने से उसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो जाता है। उसी आधार पर शब्दों की मानकता उसके उच्चारण से साफ होती है तथा उस भाषा-स्रोत से शब्द-रचना संभव हो जाती है। ध्यातव्य है कि शब्दों की निरुक्ति का प्रश्न बहुत ही विकट है, तब भी भाषा के मूल में जाने के लिए हमें हर हाल में संस्कृत के वलयन (Air का संस्कृत वलयन 'ईर') से गुजरना पड़ेगा तभी हम किसी भी भाषा की मूल व्युत्पत्ति तक पहूँच पाते हैं। प्रो॰ मोनिअर विलियम्स के The Sanskrit-English Dictionary के पीछे संसार की प्राचीनतम भाषा के छिपे रहस्य का उद्गम जानना ही था, क्योंकि उन्हें भारतीय संस्कृति को समझकर दुनिया को बताना था।

शब्द के मानक रूप जानने के बाद **शब्द-भेद** आवश्यक हो जाता है कि अमुक शब्द व्याकरण की दृष्टि से क्या है? संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण या क्रिया-विशेषणादि। इससे शब्द के स्वरूप का आचरण स्पष्ट हो जाता है।

शब्द का आचरण स्पष्ट हो जाने के बाद उसका **लिंग-निर्धारण** आवश्यक हो जाता है, तभी वह शब्द अपने प्रयोग में सुव्यवस्थित होकर व्यावहारिक बनता है। ज्ञात हो कि हिंदी में लिंग-निर्धारण इतना जटिल और दुरूह है कि उसकी ठीक-ठीक मीमांसा असंभव-सी लगती है। फिर भी, उस शब्द के लोकमर्यादित व्यवहार उसे लिंगवत् व्यवस्थित कर देते हैं और सच पूछा जाय तो हिंदी के लिए लोकव्यवहार ही मजबूत आधार देते हैं। इसलिए भी हिंदी लोक की भाषा है।

लिंग-निर्धारण के बाद शब्द के **अर्थ-विचार** प्रकरण शब्द को अर्थ और व्याख्या देकर शब्दकोश विज्ञान को पूर्ण करते हैं। यदि शब्द भाषा का शरीर है तो अर्थ उसकी आत्मा है। अस्तु, शब्द-कोश का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग वह होता है, जिसमें शब्द के अर्थ और संदर्भित व्याख्या हो।

शब्द-अर्थ व शब्द-व्याख्या के व्याप्तिदोषरहित और सुगम, सरल तथा स्पष्ट होने से उस पदार्थ या भाव का ज्ञान सहज हो जाता है, जिसका वाचिक वह शब्द है।

चूँकि बहुत से शब्दों के साथ कुछ मुहावरे भी संलिप्त होते हैं और कुछ कहावतें भी। इसलिए शब्दकोशों में अंतिम प्रकरण **मुहावरे** का आता है। कुछ समस्त या कुछ यौगिक पद भी होते हैं, जो मुहावरे-तत्त्व से गर्भित होते हैं, अत: उनका अर्थ-विस्तार भी उस मुहावरे-तत्त्व के हिसाब से करने पर भाव साधारणीकृत हो जाते हैं। इन उपांगों की व्याख्या का संदर्भ कोश-कला के कलागत प्रयोगों की व्यावहारिकी है, क्योंकि इन्हीं उपांगों की कसौटी पर कोई भी शब्दकोश खरा उतर पाता है।

उपसंहार

निष्कर्षत: शब्दकोश-संरचना अपने सर्वांग उपांग में वैसी ही है, जैसे शरीर की संरचना हो या भवन की! इसमें किसी का भी विचलन दोषव्याप्ति से आच्छादित कर शब्दार्थ की मर्यादा को भंग कर देता है। अत: शब्दकोश-संरचना को शब्दकोश विज्ञान कहना भी उचित जान पड़ता है, क्योंकि क्रमगत पद्धति से किया गया कार्य ही Scientific System है और शब्दकोश-निर्माण भी इस वैज्ञानिक पद्धति से पूर्णत: आच्छादित होकर परिणामगत कला का आनंद देता है, कारण कि इसका व्यावहारिक उपयोग ज्ञानार्जन का आनंद ही तो है।

अब हिंदी शब्दकोश निर्माण की परिधि में यह तय करना होगा कि वह किसके लिए और किस परिप्रेक्ष्य में हिंदी शब्दकोश निर्माण कर अपना अलग प्रतिमान बनाना चाहती है। मेरे विचार से एक ऐसा हिंदी शब्दकोश का निर्माण हो, जिसमें हिंदी भाषा की शब्द-संपदा का उपयोग आधुनिक वैश्विक परिदृश्य में **साहित्य, संस्कृति, समाज-विज्ञान, विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी, चिकित्सा-विज्ञान तथा प्रबंधन-व्यवसाय और विधिक शिक्षा** के शब्द-अर्थ-पर्याय का संगुंफन समाहित हो। इस शृंखला में कम-से-कम पाँच खंडों में **हिंदी शब्दकोश** का प्रणयन कर एक कीर्तिमान स्थापित हो ताकि शिक्षा का माध्यम हिंदी से किसी भी व्यवधान का समाधान हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा प्रणीत **हिंदी शब्दकोश** से समाधानित हो जाय। यथा :

प्रथम खंड - **साहित्य, संस्कृति एवं समाजविज्ञान से संबंधित**
द्वितीय खंड - **विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी**
तृतीय खंड - **प्रबंधन-व्यवसाय**
चतुर्थ खंड - **विधिक शिक्षा की व्यवहारिकी को स्पष्ट अर्थ दे।**
पंचम खंड - **चिकित्सा विज्ञान के दुरूह शब्द से लोकव्यापि अर्थ दे।**

इन पाँच खंडों में सर्वस्व समाहित हो जाता है और शब्दकोशित वे शब्दार्थ जीवन-व्यवहार में पग-पग उपस्थित होते हैं। इस संदर्भ में एक बात यह भी गौर करने लायक है कि शब्दकोश का महत्त्व अर्थ और विवृति से है, शब्द-संख्या से नहीं, अत: शब्द-संख्या गिनाने की अपेक्षाकृत विषयगत शब्द के संयमन से शब्द संधानित हों।

असिस्टेंट प्रोफेसर
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
गांधी हिल्स, वर्धा 442001 **(महाराष्ट्र)**
मो. 09420063304

छायावादी काव्य एवं छायावादोत्तर काव्य में कल्पना-तत्त्व

डॉ॰ (श्रीमती) आशुतोष
हिंदी प्रख्याता
राजकीय महाविद्यालय, जाटौली, हेलीमंडी, गुड़गाँव (हरियाणा)

छायावादी काव्य एवं छायावादोत्तर काव्य का अनुपालन करने से पूर्व कल्पना-तत्त्व को जान लेना अपरिहार्य है। काव्य के कलापक्ष की समृद्धि के लिए कल्पना-विधान का महत्त्व सर्वाधिक है। इसका संबंध व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया से है। 'कल्पना' शब्द संस्कृत की 'कल्प' धातु से व्युत्पन्न है। लैटिन भाषा में इसके पर्याय 'इमेजिनेशन' का प्रयोग भी आरंभ में ही इसी अर्थ में हुआ। मानसिक बिंबवाची 'इमेज' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति की गई।'[1] अतएव 'कल्पना' अँग्रेज़ी शब्द 'इमेजिनेशन' का समानार्थी है, जिसका शाब्दिक अर्थ है सृष्टि करना। भारतीय साहित्यशास्त्र में कल्पना के लिए 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'भामह' ने प्रतिभा को काव्यहेतुओं में श्रेष्ठतम माना है।[2] अभिनवगुप्त प्रतिभा को नवरूपविधायिनी मानसिक शक्ति मानते हैं, जिसका विवेचन अँग्रेज़ी कल्पना के समानार्थी है।'[3] कालिदास ने कल्पनाजन्य श्रम का वर्णन शाकुंतलम् में किया है। डॉ॰ गोविंद त्रिगुणायत ने अपने शास्त्रीय समीक्षासिद्धांत में कहा है कि भारतीय मनीषा अपूर्व वस्तु के निर्माण के समर्थन में प्रज्ञा को कल्पना मानती है।[4] डॉ॰ निर्मला जैन के विचार में कल्पना और प्रतिभा का अंतर वस्तुतः आधुनिक रोमांटिक और प्राचीन क्लासिक दृष्टि का है।'[5] कल्पना सौंदर्यप्रसाधिका रचनात्मक शक्ति है। संयोजिका के रूप में यह दो खंडित सत्यों को मिलाती है। कल्पना मन की वह दिव्य शक्ति है, जिसमें कवि अपने रूपचित्रों को ऐसा रूप दे देता है, जो कहीं न होने पर भी संभाव्य सत्य-से प्रतीत होते है। डॉ॰ नगेंद्र इसे एक सशक्त समन्वयकारी शक्ति मानते हैं।[6] आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी 'कल्पना को काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग माना है।'[7] प्रतिभा में भावपक्ष प्रधान है तो कल्पना में बोधपक्ष। हिंदी साहित्यकोश के अनुसार पूर्वानुभूतियों की पुनर्योजना से पूर्व की अनुभूति उत्पन्न करने की क्रियाशक्ति को कल्पना कहते हैं।[8] डॉ॰ रामदहिन मिश्र के शब्दों में-'अनुपस्थित वस्तु की मानस प्रतिमा खड़ी करने की शक्ति का नाम कल्पना है।'[9] बाबू श्यामसुंदर दास का कथन कल्पना का स्पष्टीकरण करने में सहायक होगा। विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है, वही कविता में कल्पना है।'[10] हिंदी में छायावादी कविता का कल्पना के प्रति विशेष मोह है। महादेवी वर्मा को 'कल्पना से परिपूर्ण क्षणों में विश्राम मिला है।'[11] किंतु दिनकर जैसे राष्ट्रीय भावनाओं के कवि ने कल्पना को 'व्योम कुंजों की परी' कहकर संबोधित किया है। डॉ॰ भगीरथ मिश्र इस विषय का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए कहते हैं-'निराकार वस्तुओं और भावों को आकार देना, घटना की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना और भाव को जगाने वाले चित्र अंकित करना कल्पना के द्वारा ही संभव होता है।[12] पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि

में कल्पना मस्तिष्क की सौंदर्यबोधात्मक प्रवृत्ति की प्रक्रिया है। कॉलरिज ने इसे जादुई शक्ति कहा है, शेली ने काव्य को कल्पना की अभिव्यक्ति माना है। वह 'कल्पना को अमर अवतार मानते हैं, जो नश्वर वासना को मुक्ति प्रदान करने के लिए विग्रह धारण करता है। वर्ड्सवर्थ 'प्रकृति को कल्पना का सहायक मानते हैं।' स्टीफेन डडलस ने लिखा है–'कल्पना के पवित्र गर्भ में अरूप शब्दों को मांसल रूपाकर मिला।' ब्लेक ने तो यहाँ तक कहा है कि कवि को केवल एक ही शक्ति बनाती है और वह है कल्पना, एक दिव्य दृष्टि।[13]

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कल्पना वह प्रक्रिया है, जिसके परिणामस्वरूप मन विशिष्ट पदार्थों अथवा क्रिया-व्यापारों के गोचर न रहने पर बिंब ग्रहण अथवा नवीन बिंबों का निर्माण अपने भीतर करता है।' कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है तथा संपर्क-ग्रहण के लिए पाठक या स्रोता में ग्राहक कल्पना।' अतैव व्यक्त प्रतिक्रियाओं का पूर्ण अनुभूतियों में मूर्तित करना सृजनशील कल्पना का मूल धर्म है। जिस शक्ति के द्वारा अर्थ का सच्चा स्वरूप प्रतिभासित होता है, वहीं अभिनवगुप्त की काव्य-निर्माण क्षमता प्रतिभा, कान्ट की सृजनशीलता कल्पना और क्रोंच की सहजानुभूति है। भारतीय आचार्यों ने प्रतिभा को स्पष्टत: प्रज्ञा कहा है। काव्यबिंब कवि-हृदय का संपूर्ण राग है तो कल्पना उस राग को रूपकात्मकता प्रदान कर प्रेषणीय बनाने का एकमात्र साधन है। एक ऐसा साधन, जिसके बिना साध्य ही अस्तित्वहीन है।[14]

कल्पना विश्लेषण–काव्य का विशिष्ट आयाम 'कल्पना' वस्तु और कला का संयोजक तत्त्व है। इसका कार्य सौंदर्यसृष्टि, तीव्रानुभूति और प्रतीक-सृजन है। अनागत भविष्य के अंतराल की झाँकी उपस्थित करने वाली कल्पना 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' की उक्ति को सार्थक बनाती है। कलाकार सौंदर्यविषयक कल्पना का पुजारी है। आधुनिककाल में छायावादी कवियों ने कल्पना को मात्र व्योमकुंजों की परी माना। छायावादोत्तर कवियों ने कल्पना की भावभूमि पर काव्यसृजन किया, किंतु कल्पना की अपेक्षा यहाँ भी निरंतर बनी रहती है।

सातवें दशक के कवि डॉ॰ श्यामसिंह 'शशि' ने अपने काव्य 'अग्निसागर' की भूमिका में लिखा है–मेरा मनु, प्रसाद के मनु से भिन्न है। वह मानवेतर की मधुर कल्पना में जीता है। 'कल्प' से 'कल्पना' शब्द का आभाष मिलता है और यही हमारे सौरमंडल की वायु की ओर इंगित करता है। कल्पना का विश्लेषण तीन प्रकार से होता है–1. यथार्थपरक कल्पना, 2. प्रकृतिविषयक कल्पना, 3. मानवजीवन-संबंधी कल्पना।

यथार्थपरक कल्पना–कल्पना यथार्थ का अंग है। एक सच्चा यथार्थवादी लेखक जब कल्पित घटनाओं एवं पात्रों का उपयोग करता है, तो वह ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य भले ही न हो, वह यथार्थ के अनुरूप होता है।' उचित ही है, किंतु सिर्फ यही पर्याप्त नहीं है। लेखक की प्रमुखतम विशेषता तो इसमें है कि वह किस हद तक इतिहास की सही दिशा को अपनी कल्पना में बाँधकर उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति कर सकता है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में यथार्थवादी लेखक उसे कहा गया है, जो सुंदर वस्तुओं पर लिखना पसंद नहीं करता वरन् उसके बदले गंदी, घिनौनी चीज़ों का ही वर्णन करता है और यथातथ्य चित्रण में विश्वास रखता है।[16] अज्ञेय ने अपने युगयथार्थ को कल्पना के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है। उनके विचार में कला का यथार्थ विषयीगत होता है, विषयीनिरपेक्ष नहीं।'[17]

आज का यथार्थ जनता के जीवन का यथार्थ है। इसका संबंध हमारी प्रतिदिन की जीने वाली ज़िंदगी से है।[18] छायावाद में शृंगारकाल की कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियों का आधुनिक रूप है, जैसे सौंदर्य और प्रेम सौंदर्यवादी दृष्टि छायावादी साहित्य में प्रधान एवं अत्यंत सूक्ष्म रूप में प्रकट हुई। जयशंकर प्रसाद तो छायावाद को सौंदर्य का पर्याय मानते हैं।

छायावाद के प्रमुख कवि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा के अतिरिक्त, हरिवंशराय बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेंद्र शर्मा, रामधारीसिंह दिनकर, रामेश्वर शुक्ल अंचल आदि इस युग के कवि हैं। इस युग की कविता को प्रमुख प्रवृत्तियाँ सौंदर्य प्रेम-भावना, मानवतावादी दृष्टिकोण जीवन के बदलते हुए मूल्यों की अभिव्यक्ति, हास्य-भावना, वेदना की युवानुरूप विवृत्ति, विज्ञान का प्रभाव, देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भावना, शृंगारिकता की भावना, चिंतन एवं अनुभूति, गीति और प्रगीत मुक्तक आदि हैं।

छायावाद में कल्पना की प्रवणता की बहुलता है। महादेवी वर्मा ने अपनी कल्पना को स्पष्ट किया है। मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी कल्पना के पीछे सदा ही हाथ बाँधकर चलता रहा है। इसी से जब रात दिन होने का प्राकृतिक कारण मुझे ज्ञात न था, तभी संध्या से रात तक बदलने वाले आकाश के रंगों में मुझे परियों के दर्शन होने लगे थे। प्रसाद ने 'झरना' नामक काव्य-संग्रह में 'किरण' कविता में स्पष्ट किया है—कवि उसे देखकर जिज्ञासा करता है कि स्वर्णकमलों की धूल के समान सुनहरे परमाणुओं को उड़ाती हुई, बालरवि के सुंदर मुख पर घुँघराली लटों के समान क्रीड़ा करती हुई तुम (किरण) कौन हो? कवि किरण के साथ आत्मीयता स्थापित करके उसकी नाना अनुभूतियों को अपने में ढाल लेना चाहता है। कभी उसे प्रणय के रंग में रँगकर प्रेयसी के रूप में चित्रित करता हो तो कभी पृथ्वी और स्वर्ग को मोड़ने वाले सुंदर सूत्रों के रूप में। अंत में कवि चंचल किरण से सुमन मंदिर के द्वार खोलकर वहाँ सोये हुए बसंत को जगाने का अनुरोध करता है।

इसी प्रकार पंत ने प्रथम रश्मि कविता में अपनी कल्पनाप्रवणता का परिचय दिया है। आत्मसौंदर्य की अभिव्यक्ति करने वाली छायावादी कविता की कल्पना आधुनिक कविता को एक बहुत बड़ी देन है। इस युग की कविता में कल्पना की ऊँची उड़ान है और इसका आधार प्रायः उच्च अनुभूति है। उसमें कवियों की हृदय का सौंदर्य स्पष्ट झलकता है। छायावादी कवियों की कल्पनाएँ उत्कृष्ट कोटि की हैं।[19]

छायावादोत्तर कविता में कल्पना के स्वरूपनिर्माण प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता पर दृष्टि निक्षेप कर लेना भी अनिवार्य है। प्रगतिवाद युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया, इसलिए प्राचीन विश्वासों के प्रति हमारे भाव और कल्पना के मूल्य हिल गए। श्रद्धा-विश्वास में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के नग्न रूप में सहम गई। आर्थिक अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए एक सामूहिक प्रयत्न का सूत्रपात हुआ, जिसका मूल दर्शन मार्क्सवाद है।

नई कविता के अज्ञेय का काव्य निरंतर भावुकता से यथार्थ की ओर बढ़ा है। उनकी कल्पना ने नागरिक सभ्यता की कृत्रिमता पर असंतोष व्यक्त करने के लिए 'साँप' को चुना है-

साँप! तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगरों में बसना। भी तुम्हें नहीं आया

एक बात पूछूँ–उत्तर दोगे?

तब कैसे सीखा डसना। विष कहाँ से पाया?[20]

अज्ञेय का कवि कभी कल्पना में नहीं सत्य में जीना चाहता है। रात-दिन जीवन की मणियाँ है, यह वाक्य कहने और सुनने में तो अच्छे लगते हैं, किंतु प्रश्न यह है कि कौन जौहरी इन अनमिल मनकों को एक सूत्र में गूँथ पाएगा। अज्ञेय का कवि सुख की तलाश में वास्तविक जगत से दूर विचरण नहीं करना चाहता–'रातभर आते रहे सपने। एक भी अच्छा नहीं था, किंतु वास्तविक जगत में मुझको अनेक बार सुख मिलता है।'[21] कवि देवलोक को पार लाने की कल्पना नहीं करता, वस्तुत: वह तो इस मानवलोक की मिट्टी को ही बार-बार पूजता है। 'हरी घास पर क्षणभर' की कविताएँ कवि के कल्पनालोक से उतरकर हरी-भरी घास पर आने का स्पष्ट संकेत देती हैं–

क्रौंच बैठा हो कभी-वाल्मीकि पर। तो मत समझ

वह अनुष्टुप वाँचता है संगिनी के संस्करण के जान ले, वह दीमकों की टोह में है।[22]

वाल्मीकि की छंद-रचना के समय से क्रौंच का चित्रण किया गया है, वह प्रणय का कांक्षी नहीं है। वह अपने पेट की ज्वाला शांत करने के लिए दीमकों की टोह में लगा हुआ है।

मुक्तिबोध तथा अन्य तारसप्तकीय कवियों में कल्पना की अतिशयता नहीं मिलती। इन्होंने ईमानदारी के साथ अपनी अनुभूतियों को सामने रखा है दुनिया की कल्पना करते हुए इन्होंने अपनी यथार्थपरक दृष्टि का परिचय दिया है। यही कारण है कि रेत के ढेर-सी दिखती है ये दुनिया तो किसी को पके हुए बेर-सी दिखती है।[23]

नरेश मेहता ने 'संशय की एक रात' में राम के जीवन के उस प्रसंग को चुना है। जब राम की सेनाएँ रावण से युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हैं। राम के मन में संकल्प और विकल्प की आँधी उठती है कि उन्हें युद्ध करना चाहिए या नहीं। इसी दुविधा की स्थिति में कवि ने दशरथ और जटायु की आत्मओं के साथ राम के संलाप की कल्पना की है। कवि की यह कल्पना दशरथ के रूप में राम का साक्षात्कार यथार्थ से कराते हुए कहता है–

कीर्ति, यश, नारी, धरा

वर्चस्व से अर्जित हुए थे आज तक।

वो विकल्पित पुत्र मेरे

परिस्थितियाँ धेनु हैं।

दुहों इनको, निष्ठुर अंगुलियों से दुहो इनको।[24]

नरेश मेहता ने पौराणिक प्रसंग को नए युग बोध से जोड़ने का सफल प्रयास किया है। धर्मवीर भारती की युगधारा को परखते हुए लिखी गई एक कविता है–'कनुक्रिया' की राधा अपनी कल्पना को जीवंत मानती है तथा यथार्थ के लिए एक प्रश्न उपस्थित करते हुए कहती है–

मानलो कि मेरी तन्मयता को गहरे क्षण

रंगे हुए, अर्थहीन, आकर्षण शब्द थे

तो सार्थक फिर क्या है कनु?[25]

कैलाश वाजपेयी अपने आपको कल्पना एक मर रही बंद आँखों के रूप में करते हैं, जिसके साथ मानो एक संसार मर रहा होता है। कवि ने परास्त बुद्धिजीवियों के वक्तव्य के रूप में कल्पना और यथार्थ की वाणी देते हुए कहा है–

हमारी परणति न आत्मा है।
न जंग लगी हुई आरी
मुरदा इतिहास की पोली मीनार में
हम दो चुंबकों के बीच स्थिर है।[26]

निष्कर्षत: कवि यथार्थोन्मुख भावों को प्रकट करने के लिए ऐसी कल्पना करता है, मानो बावली गली उससे प्रश्न करते हुए गुनगुना उठी है कि हे कवि! वह राजपथ पर कौन आ रहा है? श्यामसिंह शशि 'प्यार' को सुमधुर कल्पना मानते हुए भी उसके यथार्थ मिश्रित कगारों का स्पर्श करते हैं तथा पुन: जीवन पाने के लिए शताब्दियों तक साथ-साथ चलने की कामना करते हैं। अतैव छायावादोत्तर काव्य में कल्पना के यथार्थ रूप के दर्शन अधिकांश कवियों की रचनाओं में स्वाभाविक रूप से परिलक्षित होते है।

प्रकृतिविषयक कल्पना

छायावादी कवि प्रसाद जी ने प्रकृति के नाना रूपों में उषा का चित्रण किया है। लहर में उषा को अंबर पनघट में तारारूपी घट को डुबोती हुई नागरी के रूप में कल्पना की है–

बीती विभावरी जागरी
अंबर पनघट में डुबो रही तारा घट उषा नागरी।। [27]

निराला ने 'संध्या' सुंदरी कविता में संध्या को मेघमय आकाश से उतरती हुई परी के रूप में कल्पना की है–

मेघमय आसमान से उतर रही है।
वह संध्या परी-सी।'[28]

महादेवी वर्मा 'जग पतझर का नीरव रसाल' में अपने जीवन के सुख-दुख की कल्पना करती है।

छायावादोत्तर प्रगतिवादी कवियों ने प्रकृति के माध्मय से सौंदर्य-चिंतन न करके क्रांति का आह्वान किया है। पंत ने ताजमहल कविता में जीवन और जगत की कल्पना की है। सामाजिक दर्शन और प्रकृति स्वरूप और जनवादी धारा को प्रकट किया है। सामाजिक यथार्थवाद, सामाजिक समस्याओं के प्रति संचेष्टा, बौद्धिक और व्यंग्य का प्रसार, परिवर्तन की पुकार एवं क्रांति की भावना, समन्वय की भावना, नारी-स्वातंत्र्य की पुकार, शोषितवर्ग के प्रति सहानुभूति एवं शोषक वर्ग के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है।

प्रयोगवादी कवियों ने कल्पनाशीलता के स्थान पर यथार्थवाद का आग्रह किया है। छायावाद में कल्पनाशीलता का प्राधान्य था। प्रगतिवाद में अति यथार्थवाद प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। प्रकृति का प्रतिबिंब देखते हुए अज्ञेय का कवि मन कल्पना करता है मानो–

सूनी-सी साँझ एक
दबे पाँव मेरे कमरे में आई थी।
मुझको भी वहाँ देख, थोड़ा सकुचायी थी।[29]

श्यामसिंह शशि के काव्य 'अग्निसागर' में मनु जब भौतिक सभ्यता से अशांति का वरदान पाकर श्रद्धा मनु के साथ-साथ प्राकृतिक दृश्यों को अपलक निहारते हुए सुखद कल्पना में खो जाती है–

श्रद्धा अपलक देखती रही शोभा अनुपम
गिरि के आभार, उस पार दूर
लता-तोरण द्वारा प्रकृति कर रही
अतिथियों का सत्कार।[30]

श्रद्धा को ऐसा प्रतीत होता है मानो जड़ होते हुए भी प्रकृति अतिथियों का सत्कार कर रही है। अवधेशकुमार ने पेड़ों के हरेपन की कल्पना नए रूप में की है–

पेड़ लपेटे हुए हरे तौलिये, भीगा-भीगा गात
पुरुष हुए सब पेड़, करें केवल नारी की बात।[31]

मानव-संबंधी कल्पना

छायावादी कविता उस काल में विकसित हुई है। जब भारतीय जीवन में गहरी निराशा व्याप्त थी। अज्ञेय ने मावन-जीवन विषयक दृष्टिकोण को काव्यात्मक स्वर प्रदान किए हैं तथा इसमें उनकी क्षण-संबंधी कल्पना भी ध्वनित है–

ना ना, फेर नहीं आती ये सुंदर रातें,
ना ये सुंदर दिन, नहीं बाँधकर रखा जाता
छोटा-सा पल छिन, चढ़ डाले पर चली
जा रही काल की दुलहिन।[32]

शमशेर की मानव-संबंधी कल्पना व्यावहारिकता के सिंहासन पर प्रतिष्ठित है। कवि की दृष्टि में मध्यवर्ग का व्यक्ति महत्त्वपूर्ण होते हुए भी महत्त्वपूर्ण नहीं है–

ओ मध्य वर्ग तू क्यों-क्यों कैसे लुट गया
तू कहाँ है, कहीं भी तो नहीं
इतिहास में भी तू, अहसनीय
रूप से दयनीय।[33]

गंगाप्रसाद विमल आज के गरीब आदमी से कविता को विमुख पाकर अपने मनोभावों को इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

कविता से गरीब का क्या काम?
वह सिर्फ पसीना लिखती है
खून को देखते हुए अनदेखा करती है।[34]

कला मानव का मनोरंजन कर उसे भावालोक में ले जाती है, किंतु वह सर्वदा ही तो उस स्थिति में विचरण नहीं कर पाती। कल्पना मानव के समक्ष जीवनानुभूति के क्षितिज अवश्य खोलती है, किंतु स्थिरता उसे सांसारिक परिवेश से ही सुलभ हो पाती है।

संदर्भ

1. हांसकृत, लेवाय यथन: संपादक माइकल ओट शैल, बेसिल, ब्लैकवेल, आक्सफोर्ड, दूसरा अध्याय।
2. काव्यालंकार, भामह, पृ॰ 1-5
3. ध्वन्यालोक लोचन, अभिनवगुप्त, पृ॰ 92
4. शास्त्रीय समीक्षा सिद्धांत, डॉ॰ गोविंद त्रिगुणायत, भाग 1, पृ॰ 84

5. रससिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, डॉ॰ निर्मला जैन, पृ॰ 415
6. आस्था के चरण, डॉ॰ नगेंद्र, पृ॰ 116
7. चिंतामणि भाग-1, आचार्य रामचंद्र शुक्ल
8. हिंदी साहित्य कोश, पृ॰ 205, 206
9. काव्यदर्पण, रामदहिन मिश्र, पृ॰ 32
10. साहित्यलोचन, बाबू श्यामसुंदर दास
11. आधुनिक कवि, श्रीमती महादेवी वर्मा, पृ॰ 25
12. काव्यशास्त्र, डॉ॰ भगीरथ मिश्र, पृ॰ 21
13. साहित्यसिद्धांत एवं समालोचना, पृ॰ 17
14. दि पोयटिक इमेज, पृ॰ 65
15. अग्निसागर, श्यामसिंह शशि, पृ॰ 10-13
16. मुक्तिबोध पुनर्मूल्यांकन, डॉ॰ संवत् ठाकुर, पृ॰ 68
17. तार सप्तक के कवियों की समाज-चेतना, डॉ॰ राजेंद्रप्रसाद, पृ॰ 130
18. मुक्तिबोध रचनावली, पृ॰ 285
19. हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ जयकिशन प्रसाद, पृ॰ 460
20. चुनी हुई कविताएँ, अज्ञेय, पृ॰ 64
21. अरी ओ करुणा प्रभामय, अज्ञेय, पृ॰ 145
22. हरी घास पर क्षणभर, अज्ञेय, पृ॰ 28
23. भूरी खाक धूल (चुनी हुई कविताएँ), पृ॰ 87
24. संशय की एक रात, नरेश मेहता, पृ॰ 46
25. कनुप्रिया, धर्मवीर भारती, पृ॰ 71
26. प्रतिनिधि कविताएँ, कैलाश वाजपेयी, पृ॰ 43
27. लहर, जयशंकर प्रसाद
28. संध्या सुंदरी, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
29. सर्कना के कण, अज्ञेय, पृ॰ 48
30. अग्निसागर, श्यामसिंह शशि, पृ॰ 69
31. चौथा सप्तक, अवधेशकुमार, पृ॰ 51
32. चुनी हुई कविताएँ, अज्ञेय पृ॰ 177, 178
33. चुका भी हूँ, मैं नहीं शमशेर, पृ॰ 77, 78
34. बोधिवृक्ष, गंगाप्रसाद विमल, पृ॰ 51

पत्नी श्री सुरेशकुमार
गाँव व डा॰ आसियाकी गोरावास
तहसील व जिला रेवाड़ी, हरियाणा 123035
मो॰ 08684911862

'त्रिवर्णी' एवं 'कुछ भी सहज नहीं' को पढ़ते हुए

डॉ॰ निशा तिवारी

शचींद्र भटनागर के सद्य: प्रकाशित (2015) नवगीत संकलन 'त्रिवर्णी' एवं 'कुछ भी सहज नहीं' जीवन, प्रकृति और परिवेश को रेखांकित करनेवाली सहज और अनुभूतिपरक काव्य-सृष्टियाँ हैं, जिनमें नवगीत-आंदोलन की वैज्ञानिक तथा वातावरणगत प्रखरता और बौद्धिकता नहीं है, अपितु जीवन-जगत को समझने और अभिव्यक्त करने की परंपरागत भावनामय और अनुभूतिपरक तरलता है। अकविता को अनियत लयबद्ध बौद्धिकता और जीवन-जगत को समझने के तीखेपन और खुरदरेपन के बदले इन नवगीतों में संवेदनों की आर्द्रता है, मानो ताप से झुलसते मरुभूमि में कोई हरा-भरा लघु उद्यान उग आया हो। उनके गीतों की कोमल अभिव्यक्यिाँ कभी सूर-तुलसी-मीरा के गीतों-सी बानगी प्रस्तुत करती हैं तो कभी छायावादी प्रगीतों की तर्ज पर लय और प्रवाह से अपने गीतों को गतिशील बनाती है। उनके गीतों की रागात्मकता एक ओर परंपरागत इतिहास-बोध से समन्वित है तो दूसरी ओर वैयक्तिक और समष्टिगत चेतना से संश्लिष्ट। मुक्तिबोध के 'कविता के दूसरे क्षण' की भाँति शचींद्र वैयक्तिक अनुभूतियों को तटस्थ नहीं करते, बल्कि अपने रचना-कौशल से उसमें ऐसे रंग भरते हैं कि पाठक को वे अपनी-सी लगती हैं। उनके गीतों में तटस्थता के बदले एक तल्लीनता है—बरखा के पहले फुहार-सी, अंतर्मन को रससिक्त और आंदोलित करने वाली। नई कविता एवं अन्य परवर्ती काव्यांदोलनों की अबूझ क्लिष्ट तथा श्रमसाध्य अर्थ-छवियाँ उनके नवगीतों में नहीं हैं, बल्कि हृदय के अतल छोर से निकली वे कल्पना छवियाँ हैं, जो दूसरे के दु:ख को अपने दु:ख से मिलाकर अनुभूतिपरक बिंबों का रचाव करती हैं।

शचींद्र का 'त्रिवर्णी' नवगीत संकलन जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है—तीन रंगों अर्थात् उनके पूर्व प्रकाशित तीन गीत-संकलनों की प्रतिनिधि रचनाओं का संग्रह है। 1973 में प्रकाशित 'खंड-खंड चाँदनी' 1960 से 1970 तक के गीत से अठारह गीत, 'हिरना लौट चलें 1970 से 1995 के गीत से बीस गीत तथा 'ढाई आखर प्रेम के' 1962 से 1995 तक के गीत से सोलह गीत चयनित कर प्रस्तुत संकलन तैयार किया गया है, जो 'त्रिवर्णी' नाम से 2015 में प्रकाशित हुआ है।

त्रिविध रचनाओं की भाँति 'त्रिवर्णी' काव्य-संकलन का कथ्य भी प्रमुख रूप से त्रिआयामी है। प्रकृति-सौंदर्य, औद्योगीकरण और शहरीकरण के चलते गाँव से अपने निर्वासन की पीड़ा तथा लौकिक प्रेम इन प्रमुख तीन आयामों के अतिरिक्त अन्य लघु-लघु उपकथ्य भी इनमें समाहित हैं। यथा 'दो पौधे' गीत में प्रकृति के बहाने 'हम दो हमारे दो' की प्रतीकात्मक व्यंजना हुई है। 'आया रितुराज', 'दिन ठहर गया', 'संध्या और क्षितिज', 'अंधकार उतरा', 'पूस की रात',

'चाँदनी' इत्यादि कविताएँ प्रकृति-सौंदर्य की बिंबधर्मी अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रकृति के सघन बिंब की एक नियोजना द्रष्टव्य है–'अभी-अभी/ इमली के पीछे दिन ठहर गया/ रोक दिया वाक्य ज्यों विराम ने/ पत्तों के पीछे से/ झाँक लिया लँगड़ाते धाम ने/ जैसे मुड़कर देखा हो सजल प्रणाम ने' (दिन ठहर गया, पृ॰ 33)

'दो पौधे' से लेकर 'सहचरी' (पृ॰ 25 से 46) तक की कविताएँ 'खंड-खंड चाँदनी' काव्य-संग्रह की हैं तथा 'कसबे का दर्द' (पृ॰ 47) से 'लेकर हिरना लौट चलें' (पृ॰ 83-84) तक की कविताएँ 'हिरना लौट चलें' काव्य-संग्रह से संकलित हैं। 'हिरना लौट चलें' के अधिकांश गीतों का मूल स्वर औद्योगीकरण से उत्पन्न गाँव से अलगाव की पीड़ा का है। यह पीड़ा और प्रगाढ़ हो जाती है, जब विकास के नाम पर गाँव को कस्बे में परिवर्तित कर दिया जाता है। यह कस्बाईपन आम मनुष्य को त्रिशंकु की भाँति जीने के लिए विवश कर देता है, जहाँ वह न गाँव का रह जाता है और न ही शहर का। गाँव से शहर की ओर पलायन करने की प्रवृत्ति कवि-मन के बौनेपन को इंगित करती है, जहाँ से वह निश्छलता की दुहाई देकर पुनः गाँव की ओर लौट जाना चाहता है, किंतु विडंबना यह है कि की शहर के 'कृत्रिम सिवारों के जंगल' में रहने की विवशता भी उसकी है। कवि के आशंकित मन को विराम नहीं है। यह विवशता सभी के साथ है। अतः कवि इस भोगवादी संस्कृति से छुटकारा दिलाने की अपेक्षा करे भी तो किससे करे, क्योंकि 'है न कोई/ जो तिमिर की भीड़ में/ एक दीपक की/ हिमायत कर सके/ न्याय के जो पक्ष में/ बाँहे उठा/ बात कहने की/ ललक से भर सके/ जो अनय-अन्याय को ललकार दे। अब न ऐसा तीव्र तेजस दीखता।' (निरपेक्ष, पृ॰ 58)

वर्तमान में गाँव से निर्वासन का यह क्षोभ उसे बार-बार अतीत में ले जाता है। कवि-मन नीले आकाश से विस्तृत आँगन की कामना करता हुआ आधुनिक युग के अवमूल्यन पर पश्चाताप करता है। उसे भोर-संध्या-दोपहर सभी ताप-शापित से प्रतीत होते हैं। आधुनिक युग में व्यक्ति ने पश्चिम से आयातित आधुनिकता को ओढ़ लिया है। इस ओढ़ी हुई संस्कृति की कृत्रिमता उसे कभी तो हताश कर देती है और कभी उसे झटक देने का आत्मविश्वास भी जगाती है। एक विचित्र द्वंद्व कवि के मन में है। कभी मन अभिलषित हो उठता है तो कभी असुरक्षा की भावना उसे भीतर-ही-भीतर मथती रहती है। अंततः कवि का हिरना मन इस छद्म वातावरण से दूर पुनः अपने अधिवास में लौट जाना चाहता है।

'फगुनाए दिन' (पृ॰ 85 से लेकर) 'तुम्हारी भूल' (पृ॰ 111 तक) की कविताएँ 'ढाई आखर प्रेम के' काव्य-संकलन से चयनित हैं। यह संकलन कवि की प्रिया पत्नी के परलोकवास से उत्पन्न विरह-पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति है। इन नवगीातों का प्रतिपाद्य लौकिक होते हुए भी अत्यंत सूक्ष्म चित्रण के कारण अलौकिक-सा प्रतीत होता है। ऐसी ही लौकिक प्रेम से उत्पन्न आध्यात्मिकता प्रसाद कृत 'आँसू' में भी चित्रित है। शचींद्र की 'आकर्षण' कविता में विरह से उत्पन्न अलौकिकता की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है–'वह तरल निर्बंधिनी गति/ रुक गई/ एक ऊँचाई/ धरा तक झुक गई/ और मेरी दृष्टि/ हो आई गगन के पार/ गंधिल निर्जनों में/ विमल चंदन-वनों में।' (आकर्षण पृ॰ 97)

कवि के वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यक्ति अशरीरी और मर्यादित है। प्रेम का स्वरूप उदात्तीकृत और अस्खलित है। प्रकृति का उद्दीपनकारी स्वरूप भी कवि को उत्तेजित नहीं करता।

अतीत की स्मृतियों में ही कवि अपने प्रेम को तलाशता है। वैयक्तिक प्रेम को प्रकृति की विराटता से तदाकार करते हुए कवि प्रणत है, विनत है अपनी प्रियतमा के प्रति 'जिसने मरणासन्न धूलि को/ है फिर से कर्मण्य किया।' (तुम्हारी भूल पृ॰ 111)

'कुछ भी सहज नहीं' नवगीत संग्रह की रचनाओं में कवि का स्वर बदला हुआ है। अपने पूर्व नव गीतों की तुलना में इस संग्रह के गीत सामयिक परिस्थितियों से उपजी त्रासदी का बयान करते हैं। इन गीतों में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक विसंगतियों की अभिव्यक्ति ग्रामीण और शहरी दोनों परिप्रेक्ष्य में हुई है यद्यपि किसी प्रतिबद्धमूलकता एवं सांप्रदायिकता का प्रकाशन उनमें नहीं है। यदि वर्तमान विसंगतियों और विषमताओं के प्रति कवि के मन में क्षोभ है तो इस नवीन युग-बोध के साथ-साथ आशावादी दृष्टिकोण भी है। इन कविताओं में विचारों और भावों का स्वस्थ संतुलन है तथा मानवतावाद को साक्षात् करने की मूल्यवादी प्रक्रिया से जुड़ाव भी है। यह जुड़ाव नितांत सामाजिक और वैयक्तिक है–परिपक्व पूँजीवाद (लेट केपिटेलिज्म) से उद्‌भूत बाजारवादी तथा व्यावसायिक मनोवृत्ति से बिल्कुल अलग-थलग। लोक-मानस की समझ को एक सर्जनात्मक अभिव्यक्ति से संपृक्त करने की कोशिश कवि में विद्यमान है जो देशज कहन को आत्मानुभूति और अंत:स्पंदन से प्रमाणित बनाती है। अनुभूतियों और विचारों के इस नएपन के साथ-साथ अपने वैयक्तिक प्रेम को कवि ने अपने पूर्व नवगीतों की भाँति रागात्मकता एवं अलौकिकता प्रदान की है। प्रेम की यह आदर्शात्मक अभिव्यंजना स्वानुभूति को अंतरंगता के साथ गीत के फलक पर सघनता से फैलाती चलती है, किंतु इस काव्य-संग्रह में ऐसे प्रसंग स्वल्प ही है।

आधुनिक युग की चकाचौंध में चतुराई का साम्राज्य है और विभक्त चेतना की राजनीति व्यक्ति को सहज नहीं रहने देती। सबके दामन में दाग है और आत्मा में झूठ परिव्याप्त है। व्यक्ति को दूसरे नहीं अपने ही छल लेते हैं। चेहरे पर लगे मुखौटे उजली चादर के नीचे की कालिमा को धो नहीं पाते। विश्वास खंडित है और आत्मा मलिन। 'अंधा युग' के कवि की भाँति शचींद्र भी चीत्कार करते हुए लिखते हैं–'किसको कहें/ कौन है मैला/ कौन यहाँ बेदाग/....सब बाहर से/ संत दिखते/ भीतर से हैं घाघ।' ('कौन यहाँ बेदाग', पृ॰ 36) शहर की भीड़-भाड़ में मनुष्य कहीं खो गया है तथा भ्रष्टाचार के दानव ने उसकी आत्मा को निगल लिया है। 'ननकू के आवेदन' में इसी तथ्य को रेखांकित किया गया है। राजनीति पंगु है और मनुष्य का अकेलापन उसे खाए जा रहा है। धार्मिकता धन बटोरने का अस्त्रा है। भक्ति, स्वांग बनकर रह गई है, किंतु ऐसी विषमता में भी आश्वस्ति की एक सुनहरी किरण कवि के मन को आलोकित करती है- 'हम उस स्वर-सौरभ के/ वाहक बन जाएँगे/ हम तेजावलय तुम्हारा/ सतत बढ़ाएँगे/ कल भविष्य देखेगा/ वह मनहर गंध-रंग/ और भी निखर गया/ ('आश्वासन' पृ॰ 113)।

जीवन के थपेड़ों से जूझता कवि का संघर्षी मन पुन: बाहर से अपनी जड़ों की ओर लौटता है। पुन: उसका एकाकी मन अतीत की उन स्मृतियों में खो जाता है, जहाँ उसकी रिक्तता को विराम मिलता है, जहाँ सारी उलझनें सुलझ जाती हैं। प्रेम की गरमाहट कविहृदय को आंदोलित करती है–'जब भी/ मंगल-पथ में/ मैंने खुद को/ समझा है एकाकी/ तब-तब देखी/ झलक तुम्हारी/ उस आलोकमयी/ छाया की/ लगा कि मुझसे/ कुछ कहने को/ पहले से तुम खड़ी रही हो।' (गरमाहट, पृ॰ 125) कवि की यही पूर्णता है कि प्रेम के अपरिमित अक्षय-कोश को उसने

पुण्य-अमृत एवं अदृष्ट की प्रेरणा समझकर पान कर लिया है, यही कवि का इष्ट है और साध्य भी। कवि ने अपने समर्पण से निजता का विस्तार किया है।

शचींद्र के नवगीतों में आत्म-छवि के अतिरिक्त यथार्थ की भी अनेक रूपाकृतियाँ हैं जो आधुनिक जीवन की जटिलताओं से उपजी हैं। ये छवियाँ कवि की सहज अभिव्यक्ति हैं। सायास नियोजना इनमें कहीं नहीं है। ये अपनी सहजता में ही विशिष्ट हैं। गीतों की भाषा में भदेसपन है और पद-रचना संगीत की शास्त्रीयता में निबद्ध न होकर लय और प्रवाह से तरंगायित है। सुर-ताल के आरोह-अवरोह न होकर भी नवगीत की प्रकृति और स्वरूप के अनुरूप उनमें गेयता का तत्त्व विद्यमान है। सौंदर्य-विधान जीवंत और अनुभूतिमय है, जिनमें जीवन-जगत और वैयक्तिकता का समावेशी तत्त्व विद्यमान है। शचींद्र की कविताएँ क्लिष्टता का निषेध करती हुई सरलता को स्वीकार करती हैं। किसी विशेष विचारधारा से प्रतिबद्ध न होते हुए भी उनके नवगीत मनुष्यता का आख्यान करते हैं। अतः ये नवगीत बार-बार पठनीय हैं।

त्रिवर्णी, कवि शचींद्र भटनागर
प्रकाशक हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ०प्र०)
प्रकाशन वर्ष 2015, मूल्य 300 रुपए

कुछ भी सहज नहीं, कवि शचींद्र भटनागर
प्रकाशक हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ०प्र०), प्रकाशन वर्ष 2015, मूल्य300 रुपए

गढ़कवि नरेंद्रसिंह नेगी के काव्य में राजनीतिक चेतना

कमलेशकुमार मिश्र, शोध छात्र
डॉ॰ पीतांबरदत्त गढ़वाल हिमालयन राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
कोटद्वार (पौड़ी) उत्तराखंड

'लोकप्रिय साहित्य व कला वह है, जो व्यापक जनता के लिए बोधगम्य हो, जिसमें जनता के अभिव्यंजना-रूपों को अपनाया गया हो, उन्हें समृद्ध बनाया गया हो, जिसमें जनसाधारण के दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया हो, उसे समर्थन दिया गया हो। उसमें सही दिशा में सुधार का प्रयत्न किया गया हो, परंपरा से संबद्ध हो और विकास का प्रयत्न हो'। ब्रेख्त की लोकप्रिय साहित्य की उपर्युक्त परिभाषा में गढ़वाली साहित्य में एक नाम पूरी तरह से फिट बैठता है, जिन्होंने प्रचूर साहित्य की तो रचना नहीं की, परंतु जितना रचा है वह जनमानस की 'अमूल्य निधियाँ हैं' ऐसे प्रखर व्यक्तित्व का नाम है 'गढ़कवि नरेंद्रसिंह नेगी'।

गढ़कवि नरेंद्रसिंह नेगी आज गढ़वाली काव्य-साहित्य व गढ़वाली जनमानस के बीच किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। 12 अगस्त 1949 में पौड़ी गढ़वाल में जन्मे नरेंद्रसिंह नेगी 1970 के दशक में गढ़वाली लेखन एवं गायन से जुड़े तथा गढ़वाली लोकगीतों के सिरमौर बने। आपके गीतों में पहाड़ी लोकजीवन का यथार्थ, व्यथा एवं चिंतन प्रभावी ढंग से जीवंत है। लोकविधाओं में आपने नये युग की शुरुआत की। आपके वर्तमान तक 400 से अधिक गीत व 4 दर्जन से अधिक कैसेट्स आ चुके हैं और इसके अलावा आपने कई गढ़वाली फिल्मों में गीत-संगीत का निर्देशन किया है। आपके द्वारा रचित पुस्तकों में खुचकंडी, गाण्यूं की गंगा खाण्यूं का समोदर, मुट्ठ बोटीक रख व तेरी खुद तेरो खयाल हैं।

वर्तमान में नरेंद्रसिंह नेगी उत्तराखंड के ऐसे गीतकार, कवि, गायक, संगीतकार हैं, जो अपने गीतों के माध्यम से हमको गुदगुदा सकते हैं, हँसा सकते हैं, उदास कर सकते हैं, गुस्सा दिला सकते हैं और रुला भी सकते हैं और पिछले एक दशक में उन्होंने सत्ता-प्रतिष्ठा को अपने गीतों के माध्यम से हिलाने का भी कार्य किया है। बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी श्री नरेंद्रसिंह नेगी ने जहाँ गायक-गीतकार एवं संगीतज्ञ के रूप में ख्याति अर्जित की है, वहीं गढ़वाली लोकगीतों, लोकसाहित्य का भी अध्ययन किया है। सरल स्वभाव, कोमल हृदय, मधुरवाणी व दूसरों के प्रति स्नेहभाव आपके व्यक्तित्व को गरिमा प्रदान करता है।

उत्तराखंड के बहुत कम ऐसे ओठ होंगे, जिन्होंने नरेंद्रसिंह नेगी के गीतों को नहीं गुनगुनाया हो, बहुत कम मन-मस्तिष्क होंगे, जिन्हें उनके गीतों ने उदास या उद्वेलित न किया हो, वर्तमान में श्री नेगी उत्तराखंड के सर्वाधिक लोकप्रिय संस्कृतिकर्मी हैं, नेगी जी के गीतों में पहाड़ की विषेशता, विवषता, विफलता और विडंबना को स्वर मिला है। नेगी जी ने उत्तराखंड आंदोलन

के समय सरकारी सेवा में होते हुए भी अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करते हुए आंदोलन को उत्प्रेरित करने वाले गीतों की रचना की, जो शीघ्र ही लोगों के जुबान पर चढ़ गए। आपके गीतों में राजनीतिक सरोकारों की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। इसलिए भ्रष्टाचार के मुद्दे पर सत्ता-प्रतिष्ठान से टकराने पर भी आप परहेज नहीं करते।

आधुनिकयुग में राजनीति समाज का एक प्रधान अंग है। समाज के निर्माण में व्यक्ति के उत्थान-पतन में इसका विशिष्ट योगदान होता है, सच्चा साहित्यकार जिस समाज में रहता है, जिस मिट्टी पर जीता है और जिस युग के राजनीतिक परिवेश में उसके व्यक्तित्व का विकास होता है, उसकी झाँकी साहित्य के अतिरिक्त और कहाँ देखी जा सकती है।

राष्ट्रीय चेतना का सबसे प्रभावशाली आयाम राजनीतिक चेतना है, स्वतंत्रता के समय से हमारा राष्ट्रीय वातावरण अनेक आंदोलनों से उद्वेलित रहा, स्वतंत्रतापूर्व एवं स्वतंत्रता के बाद के इस वातावरण पर हमारे समग्र कवियों ने युगीनचेतना का प्रस्फुटन किया, स्वतंत्रता जहाँ लोगों के लिए उम्मीद का सूरज बनकर आई, वहीं आजादी के बाद का समय लोगों के लिए उत्तरोत्तर निराशा का सागर बनकर आया, इसी निराशा के दौर में अस्सी के दशक में पहाड़ की पचास लाख की आबादी का सब्र का बाँध भी टूट गया और उन्होंने पहाड़ की विकराल समस्याओं के समाधान के लिए अलग राज्य की माँग की। कवि श्री नरेंद्रसिंह नेगी के शब्दों में–

उठा जागा उत्तराखंडियो सौं उठाणों वक्त ऐगे,
उत्तराखंड का मान-सम्मान बचाणों वक्त ऐगे
भोल तेरा भला दिनों का खातिर जौ कु ल्वै सडवयूं मा बौगी,
वो शहीदों कू कर्ज त्वै पर अब चुकाणौ वगत ऐगे।[1]

(अनुवाद : उठो। जागो। उत्तराखंडियों, शपथ लेने का वक्त आ गया है, उत्तराखंड का मान-सम्मान बचाने का वक्त आ गया है, कल तेरे उज्ज्वल भविष्य के लिए, जिनका लहू सड़कों पर बहा, उन शहीदों का कर्ज चुकाने का वक्त आ गया है।)

वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य को देखें तो हम पाते हैं कि लोकतंत्र के सबसे बड़े राष्ट्र में लोकतांत्रिक मूल्यों को सबसे अधिक चोट चुनावों के समय पहुँचाई जाती है, जब चुनावों में राजनीतिक दल सफलता के लिए अपने मूल्यों को तिलांजलि देते हैं और प्रत्याशी मतदाता को प्रभावित करने के लिए कोई भी रास्ता अख्तियार करने के लिए तैयार रहता है। कवि यहाँ भी बिंब के माध्यम से अपनी बात रखता है–

हाथन हुस्की पिलाई फूलन पिलायै रम,
छवटा दलों निरदलियों न दिदो कच्ची माँ टरकाया हम,
ऐसु चुनौ मा मजा ही मजा दारू भी रूपया भी ठम्म-ठमम,
सुबेर पैग पे घडी दगडी दिन का पैग सैकिल मा चढ़ी,
व्याखुन कुर्सी मा लमतम पडी, राती को हाथी मा बैठी की तड़ी,
ऐसु चुनौ मा ठाठ ही ठाठ, प्रत्याशी पैदल और धोडा मा हम।[2]

(अनुवाद : हाथ वालों ने व्हिस्की पिलाई, फूल वालों ने पिलाई रम, छोटे दलों निर्दलीय भाइयों ने हमें कच्ची में टरकाया, इस चुनाव में तो मजा ही मजा है दारू और नोट भी खटाखट, सुबह की पैग घड़ी वालों के साथ दिन की पैग साइकिल में चढ़ी, शाम को कुर्सी में लंबलैट होकर

रात को हाथी में बैठकर तड़ी, इस चुनाव में तो ठाठ है, प्रत्याशी पैदल और घोड़े में हम हैं।)

राष्ट्रीय उत्थान एवं व्यक्ति के उत्थान में समन्वय का होना आवश्यक है। एक तरफ तो बिजली के लिए लोगों की जमीन, मकान और खेत लिए जाते हैं और दूसरी तरफ सरकारें बाँध बनाकर मुनाफा तो कमाती हैं, लेकिन उन लोगों के कल्याण के लिए कोई कदम नहीं उठातीं, जिनको बेदखल कर वे मोटी कमाई कर रहे हैं। कवि इस पर आक्रोश व्यक्त करता है–

देवभूमि कौ नौं बदली बिजली भूमि केरयाली जी,
उत्तराखंड का धरती योंन डामून डाम्याली जी,
हमारी कूडी पुंघडी बणो मा बिजलीघर बण्याली जी,
जनता बेघरबार होली, सरकार रूप्या कमाली जी। [3]

(अनुवाद : देवभूमि का नाम बदलकर बिजली भूमि कर दिया है। उत्तराखंड की भूमि को इन्होंने लहूलुहान कर दिया है। हमारे मकान, खेतों, वनों में बिजलीघर बनाएँगे। जनता बेघरबार होगी सरकार तिजोरियाँ भरेगी।)

इसलिए राजनीतिक नीति-नियंताओं पर उनका आक्रोश बना रहता है और उसके चिनगारी के रूप में सुलगने का वे इंतजार करते हैं, राजनीतिज्ञों द्वारा फैलाए जा रही आर्थिक असमानता पर गुस्से का इजहार नेगी इन शब्दों में करते हैं–

हँसल्ये स्य हैंसी तेरी सदानी नी रैण,
आख्यूंमा हमारी भी सदानी नि रैण अंसांधरी,
धौस-पट्टी तेरी कब तक सौंण,
मोरि-मोरिकी चुचा कब तक ज्यूण,
पोट्टग्यूंकि आग बणालि बणाग सुलगलि चिनगारी जरा-जरा सदानी नि रैण रें।[4]

(अनुवाद : हँस ले तेरी यह हँसी हमेशा नहीं रहेगी। हमारी आँखों में हमेशा आँसू नहीं रहेंगे। तेरी दादागिरि कब तक सहेंगे, मर-मर कर लोग कब तक जिएँगे, पेट की आग जंगल की आग बनेगी, धीरे-धीरे चिनगारी सुलगेगी, सदा नही रहेंगे रे।)

सत्ता-परिवर्तन कर मतदाता जब अपनी पीठ थपथपाता है तो वह पाता है कि ये तो पहले से भी ज्यादा संवेदनहीन हैं, और फिर जब सत्ता-परिवर्तन कर शेखी बघारता है तो पाता है कि ये तो वही पुराने लोग हैं। इस प्रकार वह बारी-बारी से ठगा जाता है और खुद ही सबक सीखता रहता है। नेगी राजनेताओं के दोहरे चरित्र को बखूबी जानते हैं–

दारू नि प्येंदु मि रम्म रम्म रम्म,
सिकार नि खांदू सिरी-सिरी।
नेता समाज सुधारक छौंऊ,
भज गोविन्दम् भजौ हरी।।
तुमारो गुठ्यारो गोर छऊं, भौट डलयां जरा देख चरी,
जातिकु, थातिकु, भित्रकु, भैराकु, ख और ब का ख्यालकरी,
दारू कछमोली तुमुनै खाण -
तुमारी जीत चा जीत मेरी।
भज गोविन्दम् भजो हरी।। [5]

(अनुवाद : दारू नहीं पीता हूँ, रम्म, रम्म, सिकार नहीं खाता हूँ सिरी-सिरी, नेता समाज-सुधारक हूँ जय गोविंद जय हरि। तुम्हारे गौशाले की गाय हूँ, वोट देना जरा देख-भाल कर, जाति की थाती की अंदर और बाहर की, ठाकुर और ब्राह्मण का ख्याल रखना, शराब और शिकार तुमने भी खाना है, तुम्हारी जीत ही मेरी जीत है।)

राजनीति में परिवर्तन के नाम पर जो लोग आते हैं, कुछ समय के बाद वे भी उसी व्यवस्था का हिस्सा बन जाते हैं, जिसके परिवर्तन के लिए वे सत्तारूढ़ हुए थे। उत्तराखंड आंदोलन के समय राज्य की अवधारणा पर नेगी जी द्वारा लिखा गया यह गीत ध्यान खींचता है–

बोला भै बन्धु तुम थै कनू उत्तराखण्ड़ चयेणू छ,
हे उत्तराखंडीयूं तुमथै कनू उत्तराखंड चयेणु छ,
जात न पात हो, राग न रीस हो,
छौटू न बड्डू हो, भूख न तीस हो,
मनख्यूंमा हो मनख्यात, यनू उत्तराखंड चयेणू छ।[6]

(अनुवाद : बोलो भाई बंधुओ, तुमको कैसा उत्तराखंड चाहिए, बोलो उत्तराखंडियों तुमको कैसा उत्तराखंड चाहिए, जात न पात हो, राग न द्वेष हो, छोटा न बड़ा हो, भूख न प्यास हो, मानव में मानवता हो, ऐसा उत्तराखंड चाहिए।)

नेगी जी के राजनीतिक सरोकार उत्तराखंड राज्य निर्माण के बाद प्रखरता से सामने आए, राजनीतिज्ञों के छलावे से आप पूर्व से परिचित थे। राज्य का निर्माण जिस जनसहभागिता से हुआ, उसी से वे राजधानी निर्माण की उम्मीद भी रखते हैं। इसीलिए उत्तराखंड में राजधानी-चयन पर दीक्षित आयोग की रिपोर्ट को खारिज करते हैं–

तुम भी सुणा मिन सुणियाली, गढ़वाल न कुमौं जालि,
उत्तराखण्डे राजधानी बल देहरादूणी मा राली,
दीक्षित आयोगन बोलयाली,
ऊन बोलण छौ बोलयाली, हमन सुणन छौ सुणयाली,
यां भी लडै लगी राली,
नौ सालम सै कि जागी, धन्य है पन्डा जी पैलागी,
पैसठ लाख रूप्या खर्ची की, देहरादूण अब खोज साकी,
जनता का पैसो की छरयाली। [7]

(अनुवाद : तुम भी सुनो, मैंने सुन लिया, गढ़वाल ना कुमाऊँ जाएगी, उत्तराखंड की राजधानी देहरादून में ही रहेगी, दीक्षित साहब ने कह दिया है। उन्होंने कहना था कह दिया, हमने सुनना था सुन लिया, ये लड़ाई जारी रहेगी, नौ साल में सौ के जागे, धन्य है पंडित जी तुम्हें प्रणाम, पैसठ लाख रुपये खर्च करके, देहरादून अब खोज सके, जनता के पैसों की बरबादी।)

आज उत्तराखंड का युवा पलायन कर चुका है, गाँव खाली हो गए हैं, खेती चौपट हो गई है, पहाड़ दरक रहे हैं। इस पर नेगी सवाल करते हैं–

नौ फरें विकास का, विनाष केन केरी,
यूँ पहाड़ों को खोजा वे सणी, पछाणा वे सणी। [8]

(अनुवाद : विकास के नाम पर विनाश किसने किया इन पहाड़ों का, खोजो उसे, पहचानो उसे।)

अपने गीतों में नेगी जी ने राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार पर व्यंग्य के माध्यम से सर्वाधिक प्रहार किए हैं। अपने एक गीत में नेता जी को लोगों द्वारा पूछने पर कि वोट माँगकर क्या करोगे, हमारे गाँव का विकास कैसे करोगे, नेताजी कहते हैं–जैसे पहले वालों ने किया। जनता जब कहती है कि लिख-पढ़कर हमारे बच्चे बेकार बैठे हैं, इनका ख्याल रखना। नेताजी कहते हैं–पहले अपनो का रोजगार लगाऊँगा। जनता जब पूछती है, शराब की नीति क्या रहेगी, पक्की खुलेगी या कच्ची बिकेगी। नेताजी कहते हैं–दोनों का खयाल रखूँगा। जनता सवाल करती है–आपकी भ्रष्टाचार की नीति क्या रहेगी तो नेताजी कहते हैं–पार्टी से पूछकर बताऊँगा। इस तरह से नेगी जी प्रतीकों के माध्यम से राजनीतिक भ्रष्टाचार पर प्रहार करते-करते थक गए, परंतु कुत्सित-कलुषित राजनीति बदस्तूर चलती रही।

परंतु जब राज्य की पहली निर्वाचित सरकार पर भ्रष्टाचार के आरोप लगने लगे तो आपने इस बार प्रतीक पुरुष पर ही प्रहार कर दिया और उनके मंत्रीमंडल को डकैतों की फौज करार दिया। आपका यह गीत राजनीतिक चेतना की दृष्टि से कालजयी गीत बन गया। कवि के शब्दों में–

कलजुगी औतारी रै नौछमी नरैणा,
उत्तराखंड मुरारी रै नौछमी नरैणा,
छलबली नारैणा रै नौछमी नरैणा,

(अनुवाद : कलजुगी अवतार है नौछमी नारायण, उत्तराखंडी श्रीकृष्ण है नौछमी नारायण, बहुरूपिया नारायण है नौछमी नारायण।)

सत्ता-परिवर्तन के बाद जब 2007 में नई सरकार निर्वाचित हुई और जब वह भी जनता की आकांक्षाओं पर खरी नहीं उतरी और उसके मुखिया पर भी भ्रष्टाचार के तमाम आरोप लगने लगे तो कवि का व्यथित हृदय आक्रोश से भर गया–

कमीसन की मीट-भात, रिश्वत को रैलो,
बस कर अब भण्डी ना सपोड़, अब कथग्या खेलो।[9]

(अनुवादः कमीसन की मीट-भात, रिश्वत का रायता, बस कर अब ज्यादा मत डकार, और कितना खाएगा।)

नरेंद्रसिंह नेगी उत्तराखंड के ऐसे कवि-गायक हैं, जिनकी सामाजिक प्रतिबद्धता विशुद्ध व्यावसायिक गीतों की रचना में भी आड़े नहीं आती, आपके राजनीतिक सरोकार जनता को हमेशा चैतन्य बनाए रखते हैं। आपके गीतों में राजनीति का शायद ही कोई बिंदु अछूता रहा हो, आप अँधेरे के दौर में भी आवाम को उम्मीद का दामन थमाए रखते हैं–

द्वी दिनै की छिनई खैरी, मुट्ठ बोटी कि रख,
तेरी हिकमत आजमाणू बैरी, मुट्ठ बोटिकी रख,
यो घणा डालो बीच छिर्की आलैं घाम, ये रौला मा भी,
सेक्की पालै द्वी घड़ी हौर छिन, मुट्ठ बोटी कि रख

अनुवाद :

दो दिन का ओर है ये कष्ट, मुट्ठी ताने रख,
तेरी हिम्मत आजमा रहा है बैरी, मुट्ठी ताने रख,

इन घने पेड़ो के अँधेरो को भी चीरकर आएगा उजाला,

पाले की हेकड़ी दो वक्त की और है, मुट्ठी ताने रख।

नरेंद्रसिंह नेगी चार दशकों से आज भी उसी ऊर्जा से गीत और गायन से जुड़े हैं।, वे उत्तराखंड के विशाल भूखंड को अपने गीतों के माध्यम से जोड़ते हैं। उम्मीद की जानी चाहिए कि भविष्य में भी उनके गीत जनसरोकारों से जुड़कर जनता के मस्तिष्क में झंझावात पैदा करेंगे।

संदर्भ

1. नरेंद्रसिंह नेगी, गीत यात्रा, बिनसर पब्लिकेशन, पृ॰ 46
2. नरेंद्रसिंह नेगी, गीत यात्रा, बिनसर पब्लिकेशन, पृ॰ 48
3. नरेंद्रसिंह नेगी, गीत यात्रा, बिनसर पब्लिकेशन, पृ॰ 49
4. खुचकंडि, नरेंद्रसिंह नेगी, पृ॰ 43
5. खुचकंडि, नरेंद्रसिंह नेगी, पृ॰ 44
6. मुट्ठ बोटीकि रख, नरेंद्रसिंह नेगी, पृ॰ 40
7. नरेंद्रसिंह नेगी, गीत यात्रा, बिनसर पब्लिकेशन, पृ॰ 50
8. नरेंद्रसिंह नेगी, गीत यात्रा, बिनसर पब्लिकेशन, पृ॰ 46
9. मुट्ठ बोटीकि रख, नरेंद्रसिंह नेगी पृ॰ 37

E-mail- kamleshkumarmishra32@gmail.com

Mobile No. 8126983743

दलित समाज द्वारा परिवर्तन का संकल्प और हिंदी-उपन्यास

डॉ॰ रमाकांत
प्रवक्ता हिंदी (अतिथि)
श्रीमती अरुणा आसफ अली राजकीय महाविद्यालय
कालका, हरियाणा

दलित साहित्य के माध्यम से दलित अस्मिता की अपनी मजबूत पहचान बन रही है। रमेशचद्र शाह जी के उपन्यास 'किस्सा गुलाम' में कुंदन ऐसा ही विद्रोही पात्र है। कुंदन द्वारा भागीरथी से अपनी शादी की बात करने पर जब उसके पिता उसे बुरा-भला कहते हैं तो कुंदन कहता है–'इसमें शरम की क्या बात है? कुंदन ने भी उतनी ही तेज आवाज में कहा–मैं भागीरथी से प्यार करता हूँ। आप अभी-अभी वहाँ बैठे-बैठे जात-पात के बंधन तोड़ने की बात कर रहे थे तो चलिए घर से ही शुरुआत करिए।'[1] भागीरथी से शादी न होने पर कुंदन की मनोदशा को दर्शाते हुए लेखक कहता है–'कुंदन इस हीनभावना से एकबारगी उबर आने को छटपटा रहा है, उसकी यह तथाकथित अनुभवहीनता और निर्दोषिता भी गले में बँधा पत्थर ही नहीं तो क्या है? उसे इसे उतारकर फेंक देना है, तभी वह ऊपर आ सकेगा। नहीं चाहिए उसे अब यह सच बोलने वाली नैतिकता, जो झूठ ही झूठ से लिथड़ी हुई है। झूठ जिसे कुंदन को एकबारगी कुचल देना है। उसे भागीरथी से बदला लेना है। अपने पिता से बदला लेना है, जिसने अभी तक उसका जीना हराम कर रखा था।'[2] गिरिराजकिशोर जी ने अपने उपन्यास 'परिशिष्ट' में अनुकूल के माध्यम से दलितवर्ग के अंदर सामाजिक विषमताओं के प्रति जागरूक होने व विद्रोह करने की प्रवृत्ति को उजागर किया है। होस्टल में खन्ना व उसके मित्रों द्वारा अनुकूल के साथ मारपीट करने पर अनुकूल के पिता उसे वापिस गाँव चलने को कहते हैं तो अनुकूल कहता है–'आप जरा भी सोच-विचार न करें। यहाँ पर सब लोग पढ़े-लिखे हैं। पढ़े-लिखे लोग बंदर भभकी से अधिक नहीं लाँघते। ये न जिंदा जलाएँगे और न जान से मारेंगे। फिर हम लोगों को कभी-न-कभी तो अपने दिलों के डरों से मुक्त होना ही पड़ेगा। जब तक हम अपने को उठाकर ऊपर न खड़ा कर लें, तब तक हर एक क्षण हमको इन स्थितियों का सामना करते रहना पड़ेगा। उनका सामना यहाँ रहकर करूँ या कहीं और क्या फर्क पड़ता है?'[3]

चौधरी साहब के घर पर गुसलखाने की सफाई के मामले पर बहस हो गई। इस पर दो एक लोग बावनराम को कहते हैं–'अरे छोड़िए, आप उम्र में बड़े हैं, वे यही जानना चाह रहे होंगे कि गुसलखाना साफ है कि नहीं। इस पर बावनराम कहते हैं–साफ होने से क्या मतलब? आपके बाथरूम से निकलने के बाद अगर हम यही सवाल पूछें तो आप हमें जिंदा जला डालेंगे। हमारी बेइज्जती नहीं होती? मैल तो सबके शरीर से एक-सा ही निकलता है, ऐसा नहीं कि आप

ऊँची जाति के हैं तो आपके शरीर से कुछ भिन्न प्रकार का निकलता हो। आप सोते हुए कुछ अलग तरह से साँस लेते हों...। माफ कीजिए आप भी यहाँ झोली लेकर आए हैं और हम भी। भिखारी-भिखारी में ज्यादा फर्क नहीं होता। हो सकता है कि आपकी झोली रेशम की हो और हमारी टाट की, पर जो मिलता है वह भीख ही होती है।'[4]

बेगारी प्रथा ने दलितों को घोर विपन्नता दी है। पूँजीपति वर्ग द्वारा किया गया आर्थिक शोषण उनके जीवन का एक हिस्सा बन गया है, परंतु तमाम आर्थिक अवसादों, विभिन्नताओं के बावजूद दलित रचनाकार अपने समाज की अज्ञानता, दरिद्रता व हीनता से लड़ने की अदम्य इच्छा रखते हुए साहित्य-सृजन करता है। उसके अनुभव ही उसकी अभिव्यक्ति है। दलित रचनाकार ही नहीं हिंदी के अन्य लेखक भी अपनी विधाओं में भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत दलित वर्ग की आर्थिक स्थिति, उनके साथ होने वाले शोषण तथा उससे जुड़े तमाम पहलुओं पर अपनी टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपने उपन्यासों में दलितवर्ग को अपने साथ पूँजीपति वर्ग द्वारा किए गए हर प्रकार के शोषण के प्रति विद्रोह व उसका विरोध करने को प्रोत्साहित करते हैं। गिरिराजकिशोर अपने उपन्यास 'परिशिष्ट' में इसी प्रकार के विरोध व बदलाव को दर्शाते हैं। बावनराम जी अपने बेटे अनुकूल को मुग्ध भाव से कहते हैं–'मैं चाहता हूँ कि तुम एक दिन अपनी कार से आकर घर के सामने उतरो...जिससे लोग यह तो देखें कि हम लोगों की संतान भी कारों और मोटरों में बैठकर चलने के लिए पैदा होती है। हम छोटे हैं, क्योंकि हम हिम्मत हारकर यह मान लेते हैं कि हम छोटे हैं और छोटे ही रहेंगे। अपने जमाने में मैंने गाँव का पुश्तैनी काम त्यागकर फैक्ट्री की नौकरी यही बताने के लिए की थी कि हम लोग गाँव के मरे हुए ढोरों की खिदमत के लिए ही नहीं बने, हम फैक्ट्रियों में भी काम कर सकते हैं।'[5]

'नरककुंड में वास' उपन्यास में जगदीशचंद्र जी का पात्र काली इसी प्रकार के शोषण के विरुद्ध विरोध को सही रूप में दर्शाता है। काली जब कारखाने में मुंशी के साथ आए मालिक के आदमी से बात करने को कहता है तो फोरमैन मालिक से शक-भरी नज़रों से पूछता है–'किस बारे में बात करनी है?' इस पर काली थोड़ा आवेश में आकर कहता है–'यही कि हमें कुछ सहूलतें मिलनी चाहिए। काम बहुत गंदा है। पां और खाज-खुज़ली जैसी बीमारियाँ लग जाती हैं जो बाद में बिगड़कर कोढ़ बन सकती है और न सही जो सरकार ने सहुलतें कानूनी तौर पर मंजूर की हैं, वे तो मिलनी ही चाहिए।'[6]

जयप्रकाश कर्दम के उपन्यास 'छप्पर' में सुक्खा को अपने बेटे चंदन की खातिर इसी प्रकार का विरोध करते हुए तथा आर्थिक रूप से पूर्ण जागरूक दर्शाया है। ठाकुर द्वारा अपने बेटे चंदन को वापिस गाँव बुलाने के लिए कहने पर सुक्खा पर उसका कोई असर नहीं हुआ। उसने कहा–'जीवन-भर सब तरह के आघात और यातनाएँ सही मैंने। पीढ़ियों से नारकीय जीवन जीना पड़ा हमको। और क्या हो सकता है? हमारे जीवन में न ढंग से खाना, न पहनना। और दृढ़ निश्चय से उसने कहा–'चाहे भूखे रहकर प्राण तजने पड़ें मुझे। चाहे किसी फुटपाथ पर सड़कर मरना पड़े और चाहे चील-कौए नोंच-नोंचकर खा जाएँ मेरी लाश को, लेकिन अपने जीते-जी चंदन को इस नरक में नहीं पड़ने दूँगा मैं।'[7] 'मुखड़ा क्यों देखे' उपन्यास में अब्दुल विस्मिल्ला ने अल्ली को अपने आर्थिक अधिकारों के प्रति सचेत हो तथा उसके लिए पूरे समाज का विरोध करते दर्शाया है। अल्ली खड़ा-खड़ा ही बोल रहा था और पंडित दयाशंकर पांडेय आँखें फाड़कर सुन रहे थे।

अल्ली कहता है–'लगता है, आप लोगों ने तय कर लिया है कि इस गाँव में हम लोगों की अब कोई जरूरत नहीं है। मगर सुन लीजिए महाराज कि आप लोगन को चाहे जरूरत हो, अउर चाहें न हो, मुलां हम्में जरूरत है। आप लोगन की नहीं, ई गाँव की। ई धरती की। ई देस की। हम गल्ती पर थे महाराज कि आपके पिताजी की मार खाके भाग गए थे। मुलां अब हम कहीं नहीं जाएँगे। ई धरती में हमारी नार गड़ी है। ई धरती हमारी है, ई गाँव हमारा है। हमारे एक लड़िका है, बुधुआ को चाहें आप लोग जेल में डलवा दें, चाहे फाँसी पर लटकवा दें। मुलां अगर कोई ई सोचे कि डर के मारे गाँव देश छोड़ि के कहीं अऊर चले जाएँगे तो ई आप लोगन की बहुत बड़ी भूल है। जहाँ हमारी नार गड़ी है, हुवई हमारी लाश भी गड़ेगी।'[8]

यूँ तो प्रवृत्ति से प्रत्येक कलाकार दलित होता है। जब तक भावनाओं का, विचारों का मंथन व दलन नहीं होगा, तब तक 'अभिव्यक्ति संभव नहीं'। कवि वाल्मीकि ने जब आहत क्रौंच पक्षी का रुदन-क्रंदन देखा तो उनके मुख से भाव उद्वेलित होकर स्वतः प्रस्फुटित हो गए–

'मा निषाद प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शाश्वती समः,
यत्क्रोंच मिथुनादेकम् काममोहितम् वधी।'[9]

किसी भी मानव-प्राणी के साथ अमानवीय व्यवहार करना ही उसका दलन है। यह दलन आर्थिक राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। भारत में मुख्य दलन आर्थिक व सामाजिक प्रकार का है, खासकर सामाजिक। सामाजिक होने का मूल कारण है–वर्ण-व्यवस्था। जातियाँ होना बुरी बात नहीं है। विदेशों में भी जातियाँ हैं, कर्मों के आधार पर। हमारे देश में भी प्रारंभ में जातियाँ कर्मगत ही थीं। चर्म का काम करने वाला 'चर्मकार', कुंभ (घड़े बनानेवाला) 'कुंभकार', लोहे का काम करने वाला 'लोहार', अध्यापन करने वाला 'अध्यापक' था। बाद में ये जातियाँ रूढ़गत हो गईं। अब चाहे लोहार का बेटा अध्यापन करे, लेकिन उसे पंडित नहीं कहा जाता है, अब भी वह लुहार है। दूसरी तरफ चतुर्वेदी (जिसने चारों वेद पढ़े हों) का बेटा जिसने वेद आँखों से भी नहीं देखा हो 'चतुर्वेदी' है। ऐसी विषम स्थितियों के परिणामस्वरूप ही दलित साहित्य प्रकाश में आया। यूँ दलित साहित्य की उत्पत्ति आम साहित्य के साथ ही हुई, लेकिन तब वह आम साहित्य के साथ गुथा हुआ था। डॉ॰ अंबेडकर के आंदोलन के साथ महाराष्ट्र में दलित साहित्य की भी नींव पड़ी। देखते-ही-देखते दलित साहित्य ने एक वेग पकड़ा और महाराष्ट्र के बाद अन्य प्रांतों में भी दलित साहित्य की ओर रुझान बढ़ा और अब हिंदी में दलित साहित्यकारों की एक मजबूत पीढ़ी बन चुकी है।'[10] दलित विद्वानों व विचारकों ने जीवनमूल्यों को दलित साहित्य में सूक्ष्मता के साथ पिरोया है– समता, स्वतंत्रता, बंधुता, न्याय के जीवनानुभव, अनुभवजन्य आशय तथा उस आशय की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति। दलित साहित्य संस्कृति व धर्म के नाम पर वास्तविकता को छिपाकर रखे गए ढोंग को नकारता है। यह साहित्य कल्पनाजन्य प्रतिमानों का निषेध करता है तथा नित्य परिवर्तनीयता के आधार पर जीवनमूल्यों का मूल्यांकन करता है। दलित-साहित्य बंधनमुक्त अभिव्यक्ति है और अनुभवों का सच्चापन जैसा देखा-भोगा उसका वैसा ही चित्रण।

दलित-साहित्य आज अंधश्रद्धा, आस्था की जगह गहन विश्लेषण और विकास की सही दिशाओं–ऐतिहासिक व सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साहित्य के नियमों का अन्वेषण करने की दिशा में कार्य कर रहा है। साहित्यिक कृतियों को धार्मिक पुस्तक बना देने का विरोध करता है। इस

सबके बावजूद आज भी दलितवर्ग को समाज में सवर्णवर्ग द्वारा धर्म व संस्कृति के क्षेत्र में किए जाने वाले भेदभाव उनके द्वारा किए जाने वाले अपमान का शिकार होना पड़ता है। इन्हीं सब चीजों का साहित्य में खुलकर जिक्र किया गया है।

निष्कर्षत: सैद्धांतिक तौर पर यह बिल्कुल सही बात है कि समूची मानव-जाति एक ही पुरखे की संतान है। मुस्लिम, ब्राह्मण, दलित सभी मनुष्य द्वारा बनाई व्यवस्थाएँ हैं, आरोपित हैं। इसलिए साहित्य, साहित्य तभी हो सकता है जब दुनिया का एक ही धर्म हो, भारतीय प्रसंग में प्रत्येक भारतीय, भारतीय हो। मुस्लिम, हिंदू, वैश्य, दलित न हो, तभी कहना ठीक लगेगा कि साहित्य केवल साहित्य होता है।

संदर्भ

1. रमेशचंद्र शाह, 'किस्सा गुलाम', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1986, पृ॰ 187
2. वही, पृ॰ 187
3. गिरीराजकिशोर, 'परिशिष्ट', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1986, पृ॰ 157
4. वही, पृ॰ 68
5. वही, पृ॰ 13
6. जगदीशचंद्र, 'नरककुंड में बास', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1994, पृ॰ 214
7. जयप्रकाश कर्दम, 'छप्पर', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2009, पृ॰ 62
8. वही, पृ॰ 62
9. डॉ॰ धनंजय चौहान (सं॰), 'भारतीय साहित्य एवं दलित चेतना', ज्ञान प्रकाशन, कानपुर, प्र॰सं॰ 2010, पृ॰ 20
10. वही, पृ॰ 20-21

ब्वॉयज हास्टल-5, **ब्लॉक**-2
रूम नं॰ 27, **पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़**
सेक्टर-14, **पिनकोड**-160014
मोबाइल 9646375961
ई-मेल : ramakantphd@gmail.com

यथार्थबोध के संदर्भ में नरेश मेहता की कहानियों का विश्लेषण

अमितकुमार गुप्ता
शोधार्थी हिंदी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

नया शिल्प एवं नई वस्तु अपनाकर कहानी लिखने वाले कहानीकारों में नरेश मेहता का नाम उल्लेखनीय है। डॉ॰ वार्ष्णेय ने सत्य ही लिखा है, 'कहानीपन के जिस नएपन की बार-बार चर्चा की है, कदाचित नरेश मेहता की कहानियाँ उसका वास्तविक प्रतिनिधित्व करती हैं। कहानी को सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनाने, संश्लिष्ट चरित्रों के विधान एवं कथानक के ह्रास तथा कथा-सूत्रों की विशृंखलता, अमूर्त प्रतीक-विधान एवं व्यंजना-रूपों का आधिक्य आदि विशेषताओं की दृष्टि से नरेश मेहता अग्रगण्य थे और प्रेमचंद की यथार्थ और स्थूल कहानी-परंपरा के स्थान पर उन्होंने कहानी का नया ढाँचा प्रस्तुत किया है।'[1]

नरेश मेहता ने कहानी को नया रूप देने का प्रयास किया। अत: सोद्देश्य कहानी-परंपरा को पीछे छोड़ते हुए कहानी का नया रूप प्रस्तुत किया है। मेहता जी की कहानियों के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं। एक वर्ग उन कहानियों का है, जिनमें वे सामाजिक संदर्भों एवं नवीन यथार्थपरक परिवेश की सीमाओं में बँधे रहे हैं। इनमें 'दुर्गा', 'किसका बेटा', 'श्रीमती मास्टन', तथा 'वह मर्द थी' आदि कहानियाँ ली जा सकती हैं। दूसरा वर्ग उन कहानियों का है, जिनमें व्यष्टि-चिंतन, व्यष्टि-सत्य एवं 'एक' को स्थापित करने की चेष्टा है। यद्यपि इन कहानियों में भी समाज, पूर्ण उपेक्षित न हो सका। 'एक समर्पित महिला', 'निशाऽऽ जी' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की हैं।

नरेश मेहता ने चित्रात्मक (निशाऽऽ जी) 'डायरी के पन्नों' (तिष्यरक्षिता की डायरी) प्रतीकात्मक आदि अनेक रूपों की कहानियाँ लिखी हैं। बिंबों एवं प्रतीकों का प्रचुरता से प्रयोग होने के कारण कहानियों की जटिलता एवं संश्लिष्टता में वृद्धि हुई है। पहले कहानियों में उपमानों का प्रयोग होता था, जिससे उसकी सरलता और सुगमता द्विगुणित हो जाती थी, किंतु 'कहानी के नए शिल्प में प्रतीकों की आवश्यकता थी। उपमाएँ प्राय: बाहर की स्थितियों को समझने में सहायक होती हैं। कई बार जिस मानसिक स्थिति को समझाने के लिए पैरे और पृष्ठ रँगने की आवश्यकता होती है, वह मात्र एक बिंब अथवा प्रतीक के माध्यम से समझा दी जाती है।'[2]

श्री नरेश मेहता की सभी कहानियों में कथानक का अभाव है, किंतु इसकी क्षतिपूर्ति उन्होंने अपने पात्रों के चरित्र को उद्‌घाटित कर, व्यक्तित्व को पुर्णरूपेण उभारकर दी है। उदाहरणार्थ यदि हम 'एक समर्पित महिला' को ही लें तो इसमें कथानक के नाम पर कुछ भी

नहीं है, किंतु जिस कौशल से मेहता जी ने श्रीमती शैला का व्यक्तित्व उभारा है। कथानक का ह्रास कहीं खलता नहीं है।

श्री नरेश मेहता भाषा के प्रति विशेष सजग हैं। उनका कथन है, 'प्राय: कहानी के बारे में यह भी कहा जाता है कि वह मनोरंजक होती है इसीलिए उसमें भाषा का कोई विशिष्ट संस्कार आवश्यक नहीं होता। बल्कि कुछ तो संस्कारहीन भाषा को ही कहानी के लिए स्वीकारते हैं। इस बारे में रवींद्र, बुनिन, चेखव आदि अनेक मूर्धन्य नाम लिए जा सकते हैं कि जो अद्यंत संस्कारशील हैं।'[3]

परिमाण की दृष्टि से नरेश मेहता की कहानियाँ स्वल्प हैं। अपने वक्तव्य में कहानियाँ अधिक न लिख पाने की विवशता पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है, 'कहानियाँ कम ही लिखी हैं। इसका कारण एक तो मेरी मायावरी परिस्थितियाँ, दूसरे साहित्य की अन्य विधाओं में भी समान रूप में लिखते रहने के कारण कहानियों को कम समय दे सका।'[4] किंतु उनका कहानी-लेखन जितना भी है एक विशिष्ट स्तर से नीचे का नहीं है। अश्क जी का यह कथन अक्षरश: सत्य है, 'नरेश मेहता अपने उपन्यासों, नाटकों अथवा कविताओं में किसी से प्रभावित हों या न हों, पर कहानियों का रंग उनका नितांत अपना है–उनकी कहानियाँ एक अनुभूतिशील कवि की कहानियाँ हैं।'[5]

मेहता जी का प्रथम कहानी-संग्रह 'तथापि' सन् 1961 में प्रकाशित हुआ था, जिसमें कुल आठ कहानियाँ हैं। कहानी का द्वितीय संग्रह 'एक समर्पित महिला' सन् 1967 में प्रकाशित हुआ था, जिसमें छह कहानियाँ हैं। कहानियों का विवेचन निम्नवत् है–

'चाँदनी' प्रथम संग्रह की प्रथम कहानी है। यह आत्मपरकशैली में लिखी गई है। प्रेम-संबंध के आधार पर लेकर लिखी हुई यह कहानी व्यक्तिमन पर पड़ने वाले प्रभाव को बड़ी सूक्ष्मता से अंकित करती है। पात्र के सूक्ष्म मनोभावों के चित्रण में लेखक कुशल है, कहानी इसका आभास देती है।

'किसका बेटा' जीवन के यथार्थ को लेकर लिखी गई कहानी है। मेहता जी की वे कहानियाँ, जिनको जीवन का स्पर्श मिलता है, अच्छी बन पड़ी हैं। 'किसका बेटा' इसका ज्वलंत प्रमाण है। 'माँगने वाली औरत' की हीन दशा तथा उसका नाजायज बच्चे के बाप के बारे में प्रश्न पाठकीय सहनुभूति उत्पन्न करने में सफल है। लेखक के पास वर्णन-कौशल अपूर्व है। भाषा पात्रानुकूल है।

'निशाऽऽ जी' आत्मपरकशैली में लिखी हुई एक संवेदनात्मक कहानी है। एक छोटी बालिका निशा की मृत्यु के कारण पूरे घर में अवसाद घिर आता है, उसे वाणी न देकर, उक्त अवसाद के प्रभाव को लेखक ने मुखर किया है। 'फ्लैश बैक-पद्धति' के द्वारा लेखक दोनों स्थितियों को अधीत बालिका के जीवनकाल एवं मृत्यूपरांत को जोड़ने में सफल रहा है। भाषा में सजीवता लाने के लिए लेखक ने बाल-सुलभ तोतली बोली का भी प्रयोग किया है।

'दुर्गा' एक गूँगी लड़की है। भाषा-युक्त समाज में एक 'मूक' प्राणी किस प्रकार सोचता है, क्या करता है, लेखक इस तथ्य को उजागर करता है। सुप्रिया चट्टोपाध्याय एवं श्री अनाथनाथ चट्टोपाध्याय की इकलौती बेटी दुर्गा है, किंतु दुर्भाग्यवश वह गूँगी है, अत: अपनी बात अपनी भावनाएँ वह दूसरों के सम्मुख प्रकट करने में असमर्थ है। अपने गूँगेपन के कारण परिवार में

'एडजस्ट' होने में दुर्गा को काफी कठिनाई होती है, साथ ही अपूर्ण व्यक्तित्व के कारण माँ तक उसे संशक दृष्टि से देखती है। इस प्रकार लेखक ने अपूर्ण व्यक्तित्व के समाज में 'फिट' न हो सकने की कथा को उभारा है। पात्र-चरित्रांकन की दृष्टि से यह अत्यंत सफल कहानी है।

'वह मर्द थी' विभाजन के दौरान किस प्रकार की अमानवीयता का आचरण हुआ था, इस तथ्य पर प्रकाश डालती है। शादीलाल होटल वाले की बीबी जिसे कहानी का वाचक 'मर्द' समझता रहा था, वास्तव में औरत है, किंतु 'हिंद-पाक विभाजन' होने पर हिंदुस्तान के लिए आते समय दुश्मनों ने उसके दोनों स्तन काट दिए थे। यह नृशंसता का चरम है।

'तिष्यरक्षिता की डायरी' ऐतिहासिक दंत-कथा का आधार लेकर डायरीशैली में लिखी गई कहानी है। तिष्यरक्षिता वृद्ध अशोक की सुंदर युवती पत्नी है। वह अशोक के पुत्र कुणाल, जो तक्षशिला का शासक है, के प्रति आकर्षित हो जाती है, किंतु कुणाल को विमाता का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगता। प्रतिशोधवश तिष्यरक्षिता कुणाल की आँखें निकलवा देती है, किंतु अशोक को जब इस तथ्य का पता लगता है तो वह उसे फाँसी का आदेश दे देता है। यह कहानी सामाजिक मर्यादा और बंधनों पर व्यंग्य है।

'दूसरे की पत्नी के पत्र' आत्मपरकशैली में लिखी हुई कहानी है। सुकांत अपने मित्र 'कथावाचक' के, जो एक विधुर है, घर आता है। उसकी पत्नी के सारे पत्र सुकांत का विधुर मित्र पहले स्वयं पढ़ लेता है, तदुपरांत मित्र को देता है। अंततोगत्वा जब वह अपने अपराध स्वीकार की भूमिका तैयार करता है, तभी सुकांत अपने कुँआरेपन में स्वयं द्वारा पढ़े गए 'कथावाचक' की पत्नी के पत्र की बात स्वीकारता है। इस प्रकार इस कहानी में अकेले व्यक्ति की मानसिकता को लेखक ने उभारा है।

'तथापि' संवेदनात्मक स्तर पर लिखी गई कहानी है। विपिन प्रयाग से चला गया है। 'तथापि' नियमित अंतराल से आता रहता है। वह पारुल को बहुत पहले से चाहता रहा है, किंतु उसने अपने प्रेम को वाणी नहीं दी और जब वह पारुल के सम्मुख प्रणय का प्रस्ताव रखता है, तब तक बहुत विलंब हो चुका होता है। पारुल, पटल की वाग्दत्ता हो चुकी है। अत: विपिन के प्रणय-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकती। इस कहानी में लेखक ने काव्यात्मक भाषा का प्रचुरता से प्रयोग किया है। पात्रों के अंतर्द्वंद्व को लेखक ने पूर्णरूपेण उभारा है।

मेहता जी का द्वितीय कहानी-संग्रह 'एक समर्पित महिला' सन् 1967 में प्रकाशित हुआ था, जिसमें छह कहानियाँ हैं। कहानियों का विवेचन निम्नवत् है–

'एक समर्पित महिला' एक ऐसी महिला की कहानी है, जो आदर्श के लिए समर्पित हो जाती है। श्रीमती शेला के रूप में कहानीकार ने एक ऐसी आधुनिक नारी का चित्रण किया है, जो अपने को संपूर्ण भाव से कला और साहित्य के प्रति समर्पित मानकर चलती है, लेकिन कला और साहित्य के प्रति समर्पण की यह भावना उसने जीवन की सहजता की कीमत पर प्राप्त की है।

कहानी में व्यंग्य की अति सूक्ष्म प्रच्छन्न धारा प्रवाहमान है। व्यंग्य श्रीमती शोला की इस स्थिति पर है कि साहित्य और कला का एक अलग संसार निर्मित करके वह अपना नितांत निजी और व्यक्तिगत संसार ही खो देती है। वह जैसे जिंदगी जीती नहीं, किताबों में जी गई जिंदगी से खुद को नापती-भर है।

'वर्षा भीगी' कहानी में मनोवैज्ञानिक सजगता है। यह एक प्रतीक कथा है, जिसमें एक उपेक्षिता युवती के मनोजगत् को बड़े बारीकी से उभारने की चेष्टा की गई है। कानन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि किसी को संपूर्ण रूप से चाहने के बावजूद बदले में उसे उपेक्षा और अवमानना ही मिली है। वास्तविक वर्षा में उसका भीगना तो मात्र बाह्य और ऊपरी है–अन्यथा भीगी तो कहीं वह बहुत गहरे में है। अर्थहीन प्रतीक्षा ही अब उसकी नियति है। मेहता जी की इस प्रकार की कहानियों का यथार्थ व्यक्ति की आंतरिक अनुभूतियों की सच्चाई का यथार्थ है।

'श्रीमती मास्टन' इस संग्रह की अच्छी कहानी है। 'एक समर्पित महिला' तथा 'श्रीमती मास्टन' स्त्री-चरित्र के दो अलग-अलग छोर है। श्रीमती मास्टन को लेखक ने यथार्थ के धरातल पर पूरे संदर्भों में उतारा है। 'श्रीमती मास्टन' विधवा महिला के अकेलेपन को पूरी तरह जीती है। झूठ और शराब की आदतों के कारण वह सामाजिक दृष्टि में अवहेलना की पात्र है। इस प्रकार श्रीमती मास्टन, श्रीमती शोला के सामने बौनी लगती है। लेखक ने श्रीमती मास्टन के चरित्र की सही तस्वीर खींचने के लिए सही भाषा का प्रयोग भी किया है। यथा–'एक्सक्यूज़ माइ सन! आउरत किसी चीज से नहीं बँधता, सिर्फ उसके गले में पइस पहना दो, ओ गुलाम बनकर रहेगा. ...लेकिन मोनिका अईसा नहीं है।'[6]

'एकशीर्षकालीन स्थिति' मौत की स्थिति को लेकर लिखी गई कहानी है, 'मौत की स्थिति को लेकर पिछले सालों में बहुत-सी कहानियाँ हिंदी में आई हैं। उनमें से एक कहानी 'एकशीर्षकालीन स्थिति' भी है, जो बहुतों से अच्छी है फिर भी बहुत बढ़िया नहीं है।'[7] प्रस्तुत कहानी में लेखक ने ईसाई परिवार की श्रीमती डेरिक की मृत्यु पर लाश उठाने से लेकर दफनाने तक की स्थिति का चित्रण किया है। लेखक ने विभिन्न पात्रों पर पड़ने वाले कृत्यों के प्रभावों एवं पात्रों की प्रतिक्रियाएँ पकड़ने की कोशिश में है।

'एक-इतिश्री' में प्रेम-संबंधों की समाप्ति पर आखिरी शाम की मुलाकात है। दिवाकर एवं सविता ने आपसी प्रेम-संबंधों का विच्छेद कर लिया है, परिणामत: वे आखिरी शाम को मिलते हैं। इसमें लेखक ने हमारे समाज के बनावटी और अपने आपमें डूबने वाले जीवन के एक पहलू को उजागर किया है। 'नरेश मेहता की कहानियों में प्रेम भावुकतापूर्ण ढंग से कल्पनाशील आधार पर चित्रित न होकर आज के परिवर्तित संदर्भ में आधुनिक परिवेश के भीतर अभिव्यक्त हुआ है। यह चित्रण आत्मपरक आभास देते हुए भी समाज-सापेक्ष्य बन जाता है और व्यापक समष्टि चिंतन की ओर सूक्ष्म संकेत करता है।'[8] प्रस्तुत कहानी में छोटे-छोटे संवाद रोचक बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ–

- तो अब चला जाय।
- तुम्हारी गाड़ी कब आनी है?
- तुम्हारा कन्सर्ट कब खत्म होगा?
- कंसर्ट से तो आठ बजे लौट ही आऊँगी।

इस प्रकार यह कहानी मात्र एक मुलाकात से संबद्ध है। इसमें पाठक को बाँधने की क्षमता है।

'अनबीता व्यतीत' डॉ॰ द्रविड़ और उनकी पत्नी चारु के दस वर्षों के दांपत्य-जीवन को लेकर लिखी गई कहानी है। इस कहानी में लेखक ने द्रविड़ दंपती के प्रेम एवं तनाव के संपूर्ण

विवरण को बड़ी बारीकी से अंकित किया है। आज के समाज में से संस्था बनती चली गई है और अंत में हर व्यक्ति अपने में संस्था बनकर रह गया है। अजनबीपन की भावना आज के समाज की मुख्य विशेषता है। यह अपरिचय इस सीमा तक बढ़ गया है कि पति-पत्नी भी एक-दूसरे के लिए अजनबी और अपरिचित-से हो गए हैं। डॉ॰ द्रविड़ और चारु ऐसे ही दंपती हैं, जो एक साथ रहते हुए भी एक-दूसरे से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। कहानी का अंत रोमांटिक क्षणों में होता है।

कहानी के क्षेत्र में शिल्प की दृष्टि से नरेश मेहता जी ने नए-नए प्रयोग किए। इन कहानियों में व्यक्ति के अंतर्मन को उघाड़कर रखने की चेष्टा दिखाई पड़ती है। भाषा पर कविता का पूरा-पूरा प्रभाव लक्षित होता है।

'तथापि' संग्रह रूप में उनका प्रथम प्रयास है। उनकी कहानियों में प्रायः सभी में कथानक का ह्रास दृष्टिगत होता है।

परिवेश की दृष्टि से 'चाँदनी, 'किसका बेटा', 'दुर्गा', 'वह मर्द थी', 'तिष्यरक्षिता की डायरी', 'दूसरे की पत्नी' एवं 'तथापि' कहानियों में प्रेम, विभाजन के हुए मानवीय अत्याचार, एकाकीपन की समस्या आदि पर 'कवि' एवं 'चिंतक नरेश का व्यक्तित्व हावी है। ये कहानियाँ किसी एक पात्र की मनःस्थिति का सहृदयपूर्वक चित्रण करती हैं। ये सभी कहानियाँ किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्‌घाटन करती हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, द्वितीय महायुद्धोत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, संस्करण 1962, पृ॰ 174
2. उपेंद्रनाथ अश्क, हिंदी कहानी, अंतरंग परिचय, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, सं॰ 1967, पृ॰ 19
3. नरेश मेहता, 'तथापि' हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, संस्करण 1962, पृ॰ 174
4. वही, पृ॰ 31
5. उपेंद्रनाथ अश्क, 'हिंदी कहानी, अंतरंग परिचय', पृ॰ 32
6. नरेश मेहता, एक समर्पित महिला, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, सं॰ 1967, पृ॰ 27
7. रत्नलाल शर्मा, 'आलोचना' नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं॰ 1991, पृ॰ 112
8. डॉ॰ सुरेश सिन्हा, हिंदी कहानी उद्‌भव और विकास, पृ॰ 604

हिंदी पत्रकारिता–समस्याएँ और समाधान : एक विवेचन

डॉ॰ (श्रीमती) बीना शर्मा
हिंदी विभाग, एम॰एम॰एच॰ कालिज
गाजियाबाद (उ॰प्र॰)

खींचों न कमानों को, न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।

–अकबर इलाहाबादी

जिज्ञासा और औत्सुक्य मानवमात्र की सहज–स्वाभाविक वृत्ति है। इनकी संतुष्टि वह समय–समय पर अनेक माध्यमों–साधनों से करता है। इसके लिए उसने अनेक आविष्कार भी किए हैं। नि:संदेह वह जितना विश्वास अपनी दृष्टि पर करता है, उतना ही श्रवण पर। उसने अपनी इन दोनों ज्ञानेंद्रियों का समवेत उपयोग कर ही पत्रकारिता को अन्वेषित किया है।

हिंदी–पत्रकारिता का अंकुरण आंग्लसत्ता–कोप की शिकार भारतभूमि पर जिस समय हुआ, वह काल आंग्ल दमनचक्र की भयंकरता से परिपूर्ण था। ऐसे विपरीत समय में भी हिंदी–पत्रकारिता के शिशु–तरु को निडर साहसी हिंदीप्रेमियों ने पल्लवित–पुष्पित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। आज यह समाचार–पत्र, पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन, इंटरनेट आदि शाखाओं–उपशाखाओं वाले वटवृक्ष के रूप में सुशोभित है।

आज पत्रकारिता सूक्ष्मदर्शी यंत्र की तरह समाज की हर क्षुल्लक एवं सूक्ष्म हरकत को विराट बना, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक फैला देती है। लोकतंत्र में इसका विशेष महत्त्व है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपने आसपास की घटनाओं के अतिरिक्त संपूर्ण विश्व की प्रमुख गतिविधियों को जानना चाहता है। उसकी जिज्ञासा की परम तुष्टि जनसंचार के विविध साधनों से होती है। यही कारण है कि पत्रकारिता से जन–जन का गहरा सरोकार स्थापित हो गया है। पत्रकारिता कुशल गृहणी की भाँति सत्य सूचनाओं को संकलित करने के अतिरिक्त ज्ञान–विज्ञान और विचारों को शब्दों और दृश्यों के मसालों के सहयोग से समाज रूपी रसोई में स्वादिष्ट वैचारिक व्यंजन परोसने का कार्य बखूबी करती है। मनुष्य को अपनी अनुभवी भूमि से जोड़ती है, लोकमंगल की साधना करती है। देश की वैचारिक चेतना को उद्वेलित करती है। कभी मानवीय रुचि के अनुरूप उसका स्वस्थ मनोरंजन कर उसे खिलखिलाकर हँसने को बाध्य करती है तो कभी किसी सत्य का महाविस्फोट कर उसकी आँखों से आँसुओं की पवित्र त्रिवेणी भी बनकर बहने लगती है।

आज का समय वैश्वीकरण का है। उदारीकरण के नाम पर देश की अर्थव्यवस्था विश्व

बैंक से निर्देशित हो रही है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत का बड़ा-खुला बाजार मिल रहा है। राष्ट्रीय स्तर पर निगमीकरण और निजीकरण किया जा रहा है। विदेशी विनिवेश के नाम पर पूँजीपतियों और उनके विदेशी आकाओं का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। श्रमसुधारों के नाम पर पदों में कटौतियाँ और जबरन रिटायरमेंट भी कर दिए जाते हैं। ऐसी स्थितियों-परिस्थितियों में सत्ता स्वार्थसिद्धि के लिए पत्रकारिता में पैबंद लगाती है।

पत्रकारिता का कार्य सत्य को मथना है। सत्य को मथना अत्यंत कठिन कार्य है। मथने से पहले संचय करना होता है और संचय के लिए श्रम पहली शर्त है। श्रम, संचय और मंथन के पश्चात् पत्रकारिता अपनी चेतना-वाणी को साहित्यिकता का कस्तूरी स्पर्श देती है, फिर जो नवनीत तैयार होता है, उसे न्याय की तुला पर रखकर लोकसमर में प्रस्तुत किया जाता है। संतुलन बने रहने पर यह स्वीकारा जाता है कि इससे जुड़े लोगों ने स्वर्ण-रेख बनकर पत्रकारिता के ध्रुवधर्म की रक्षा की है। सत्यता यह है कि जिस प्रकार नट धैर्य, संतुलन, रोमांस और खुशी की अद्‌भुत मिसाल पतले धागे पर चलकर आग के गोले को पार कर अपने करतब दिखाता है, वैसे ही रोमांचक उतार-चढ़ाव के बीच से पत्रकारिता को गुजरना पड़ता है।

किंतु आज अचानक हर गतिविधि को सार्थक आवाज देने में सक्षम, सामाजिक चेतना का प्रसार करने में समर्थ, भीषण आँधियों और झंझावतों से जूझकर भी दीपशिखा-सी जलने वाली पत्रकारिता पर बारंबार अंगुलियाँ उठाई जाने लगी हैं। सेमिनारों में, बौद्धिक विवेचनों में, सभा-समितियों में और जागरूक लोकतंत्रीय पक्षधरों के सम्मेलनों में हिंदी-पत्रकारिता पर अनेक सवाल उठाए जाने लगे हैं। आज साधारण-से-साधारण जन भी खुलेआम इसे ढोंगी करार देने लगा है।

मैंने समस्याओं के महासागर में दुश्चिंताओं के भँवर में फँसी हिंदी-पत्रकारिता की उन समस्याओं को खोजने का प्रयास किया है, जो इसे पथ से विचलित करने में सहयोगी सिद्ध हो रही हैं।

यह सर्वविदित तथ्य है कि हिंदी-पत्रकारिता मात्र मिशन न रहकर एक व्यवसाय एक उद्योग बन चुकी है। पूँजी इसका मेरुदंड है, जिस पर पत्र-पत्रिका का अस्तित्व टिका है। महँगाई के इस दौर में प्रत्येक मालिक उतना ही निवेश करना चाहता है, जितने मुनाफे की संभावना होती है। अधिकाधिक पूँजी जुटाना और निवेश करना इसकी मूलभूत समस्या है। पत्र-पत्रिका का मालिक पूँजीपति ही होता है, अत: भारी मुनाफा बटोरना ही उसका उद्‌देश्य है। 'मुनाफे की आड़ में उसे समाज का भला-बुरा कुछ दिखाई नहीं देता। उसकी आँखों में तो अपनी पत्र-पत्रिका के माध्यम में अधिक-से-अधिक पूँजी कमाना ही समाया रहता है। अपने एक भाषण में पं॰ बाबूराम विष्णु पराड़कर जी ने तो बहुत पहले ही घोषित कर दिया था कि 'पत्रों की उन्नति के साथ-साथ पत्रों (पत्रिकाओं) पर धनिकों का प्रभाव अधिकाधिक परिमाण में अवश्य पड़ेगा....। पत्र के व्यय और लाभ के लिए विज्ञापनों की आय पर हमें अधिकाधिक निर्भर रहना पड़ेगा। यह निर्भरता जितनी ही बढ़ेगी, उतनी ही लेखन-पटु संपादन की स्वतंत्रता घटेगी और कार्यकुशल व्यवस्थापक की बढ़ेगी। बड़े-बड़े विज्ञापनदाताओं की सहायता के बिना बड़े-बड़े पत्र (पत्रिका) निकल नहीं सकते।....पत्र निकालकर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े दानियों अथवा सुसंघटित कंपनियों के लिए ही संभव होगा।'[1] पत्रकारिता के व्यवसायीकरण ने उसे पथविचलित कर दिया है।

हिंदी-पत्रकारिता में संपादकीय समस्या भी महत्त्वपूर्ण है। नि:संदेह संपादक इनका प्राणतत्त्व

होता है। देखने में आता है कि अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं के स्वामी पूँजीपति ही उनके संपादक भी होते हैं। दोहरे पद का निर्वहण करने में वे असफल रहते हैं। संपादक का कार्यक्षेत्र प्रत्यक्ष समाज से जुड़ा है, उसका सच्चा चित्र संपादकीय में खिंचना चाहिए, लेकिन जब तक संपादक साधारण समाज को अपनाएँगे ही नहीं तो वे उसके प्रतिबिंब कैसे बना सकेंगे? आज तो संपादकों की मानो बाढ़ सी आ गई है। जिसे देखो वही संपादक बन जाता है। जिसे स्वयं कुछ ज्ञान न हो, वह भी समाज का उपदेशक बनने में हिचकता नहीं है। इसीलिए सुप्रसिद्ध हिंदी पत्रकार-लेखक पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने एकदम तल्ख लहजे में घोषण कर दी थी, 'हिंदी अखबार-नवीसी के वर्तमान को आमूल-चूल बदलकर रख दें। न तो हर आदमी को पत्र (पत्रिका) निकालने दें, न हर किसी को पत्रकार या संपादक बनने की अनाधिकार चेष्टा करने दें।...संपादक प्रेस का मालिक चुनता है अथवा हर कोई ऐरा-गैरा खुद पत्रकार (संपादक) बन बैठता है।....महज अपना हित-चिंतन पहचानकर जो पद पाते ही जनता, जज, गवर्नमेंट, समाज सब पर व्यवस्था देने, सबकी खिल्ली उड़ाने का अधिकारी हो जाता है।'[2] इसलिए हर ऐरे-गैरे को संपादक नहीं बनने देना चाहिए। सच तो यह है कि जो जगत की आँख-कान हो सके, सबके लिए देख-सुन सके, जीवन को प्रभावित करने वाली दैनंदिन घटनाओं की तीव्र दौड़ में उसके साथ रह सके, देश की जनता के हृदय को आंदोलित कर सके तथा सबके मनोभावों को प्रतिबिंबित कर देने वाला दर्पण बन सके और पाठक के मानस-पटल पर पत्र (पत्रिका) प्रतिबिंब-संस्कार अंकित कर सके, वही सच्चा पत्रकार-संपादक हो सकता है, होना चाहिए।

जिन पत्रों के मालिक अपने यहाँ संपादक अलग से रखते हैं, उनकी समस्या तो और भी विकट है। ऐसे पत्रकारिता-संपादन में उसकी स्थिति दो पलड़ों में झूलनेवाली बनी रहती है। उसको पत्र-मालिक की स्वार्थसिद्धि में सहायक बने रहना है, उनकी चाकरी करते रहना है, जी-हुजूरी में फँसे रहना और अपनी नौकरी बचाए रखना है तो साथ ही आदर्श भरे संपादकीय धर्म का निर्वाह करना है, घोषित पत्र-नीति का पालन करते रहना है और पत्र-पत्रिका हेतु समुचित सामग्री जुटाते हुए पत्र-पत्रिका को अधिकाधिक लोकप्रियता भी दिलाते रहना है तथा उसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार भी कराते रहना है। इसी से उसको असंगत-अनचाहे समझौते भी करने पड़ते हैं, सत्ता और संबंधित अफसरशाही को खुश रखना पड़ता है, सभी तरह के अच्छे-बुरे लोगों से संपर्क साधे रखना पड़ता है। मजबूरीवश उसे आदान-प्रदान वाला संपादन मार्ग अपनाना पड़ता है।

इक्कीसवीं सदी में पत्रकारिता की ताकत खूब बढ़ी-चढ़ी है, पर उसकी यह ताकत बाजार के हवाले हो चुकी है। बाज़ारवाद के प्रभाव से पत्रकारिता में खुलापन बहुत ज्यादा बढ़ गया है। बाज़ारवाद और उदारवाद के बाद दुनिया एक-दूसरे के करीब हुई और स्त्रियाँ इसके उत्पाद के 'प्रमोटर' के रूप पहचान बना रही हैं। स्त्री को जरूरत-बेजरूरत हर विज्ञापन में खूब परोसकर उत्पादों की बिक्री की गारंटी की जा रही है। चित्रा मुदगल के ये शब्द हमें सचेत करने में अहम भूमिका निभा रहे हैं, 'विज्ञापन-सुंदरियों की चकाचौंध दरअसल बाजार द्वारा स्त्री-दिमाग को धकियाने और उसके देह पर कब्जा जमाने की ही युक्ति है।...पहले नाभिदर्शना साड़ी होती थी, अब जींस और बाकी पहनावे भी हो गए हैं। देह पर अतिरिक्त जोर का आलम यह है कि शिक्षालय तक में रैम्प और फैशनपरेड का विस्तार हो गया है।'[3]

पत्रकारिता का दृश्य रूप आज गतिशील दुनिया के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसलिए आम आदमी की जिंदगी में इसका गहरा हस्तक्षेप होने लगा है, किंतु आज इस पर प्रकाशित होने वाले अधिकांश कार्यक्रमों से हमारे नैतिक, सामाजिक मूल्यों का पतन हो रहा है। हमारी मानसिकता रुग्ण हो रही है, भावनाएँ कुंठित हो रही हैं, सामाजिक संबंध सिमटते जा रहे हैं। एक अजीब-सी संस्कृति घर-घर में घुस गई है, जिसका वास्तविकता से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है। भावनाएँ तड़प रही हैं। संवेदनाएँ सूख गई हैं। दृश्य मीडिया के प्रभाव ने समाज को संवेदनहीन तथा स्वार्थी बना दिया है। हरि ठाकुर जी ने सच ही कहा है–

नदी वही है, नाव वही है, लेकिन मल्लाह नहीं है।
धन बटोरने की चिंता में, जनहित की पहवाह नहीं है।

पत्रकारिता के बदलते स्वरूप को देखते हुए हम भी स्वयं को हरि जी का ही समर्थन करते हुए पाते हैं। इलैक्ट्रॉनिक समाचार चैनलों की हकीकत श्री वर्गीज के शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्ति पाती है–'कुकुरमुत्तों की तरह बढ़ने वाले 24 घंटे के चैनलों के कारण टी॰वी॰ का प्रसार तो हुआ है, साथ ही अपनी साँस रोकने वाली ब्रेकिंग न्यूज के कारण इन्होंने व्यापक ताकत से प्रिंट मीडिया को भी प्रभावित किया है।...किसी समाचार या घटना पर बिना शोध किए ही कैमरे के सामने न्यूज रूम के लिए आवश्यक बनाने के लिए एक न्यूज रूम से दूसरे न्यूज रूम में उछल-कूद करते रहते हैं। इससे ऊपरी तौर पर मनोरंजन भले ही हो जाए, लेकिन जो जरूरी जानकारी मिलनी चाहिए, वह नहीं मिलती।'[4]

अक्सर चैनल वाले यह तर्क पेश करते हैं कि 'हम वही दिखाते हैं, जो जनता चाहती है 'या' वही दिखता है, जो बिकता है। वे तो यहाँ तक भी कह देते हैं कि हमारा काम जनता की रुचि को भुनाना है, उसकी रुचि का निर्माण करना नहीं। जनता की रुचि का दावा करते हुए वे अपने हर जायज-नाजायज हथकंडे अपनाते हैं। राजेंद्र यादव जी पत्रकारिता के इस कर्म पर प्रहार करते हुए लिखते हैं, 'उपभोक्ताओं को आप अपनी बिक्री के लिए तैयार करें और बाकी प्रोग्रामों के लिए 'जनता' यही माँगती है' का तर्क दें? यह डुगडुगी बजाकर बंदर तमाशा दिखाने के बाद ताकत की गोलियाँ बेचने का हथकंडा नहीं है।'[5]

बाज़ारीकरण और भूमंडलीकरण के दौर में मीडिया का मनोरंजन पक्ष बेहद आक्रामक और विखंडनकारी है। आज की पत्रकारिता पुराने मिथों को तोड़कर नए मिथ गढ़ रही है। एंटरटेनमैंट चैनल इसे गति देने में अपनी अहम भूमिका निभा रहे हैं। इनमें मोहक जीवन-शैलियों को इस अंदाज में परोसा जा रहा है, जहाँ नए विकल्पों के अनगिनत द्वार खुलते हैं। आज यह कहना नामुमकिन है कि ये नए द्वार हमें कहाँ ले जाएँगे ? पुण्य प्रसून वाजपेयी के ये शब्द नजरअंदाज नहीं किए जा सकते, 'दरअसल, टी॰वी॰ एकमात्र ऐसा माध्यम है, जो पूँजी-मुनाफे की थ्यौरी को समाजशासक में बदल देता है। यहाँ यह बहस बेमानी है कि न्यूज चैनल सतही हो चले हैं या फिर खबर छोड़ किसी दूसरी राह पर चल पड़े हैं, जहाँ खबर का मतलब मनोरंजन होता जा रहा है। सिनेमा, सेक्स, अपराध, धर्म को दिखाकर न्यूज चैनल धंधा कर रहे हैं।'[6]

हिंदी-पत्रकारिता के रक्षकों का अँग्रेजी-प्रेम भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या बनता चला जा रहा है। भाषा का उदारीकरण इस कदर विकास पाता जा रहा है कि हिंदीभाषा अपने सही मायनों को खोती-सी नजर आने लगी है। हिंदी के सरलीकरण और अँग्रेजी के समीप जाने की चाह ने

उसे कठघरे में ला खड़ा किया है। कोई भी जब ये पूछता है कि क्या अँग्रेजी के बिना काम नहीं चल सकता तो इन महानुभावों का जवाब होता है हिंदी में शब्द कहाँ हैं? जब शब्द बन जाएँगे तब हिंदी शुरू करेंगे। यह तो वैसी ही बात है जैसे 'बिना पानी में गए तैरने की इच्छा।'[7] 40 करोड़ के देश में 40 लाख अँग्रेजी जानने वाले सामंती लोग और नौकरशाह समूचे देश की तकदीर बनाते-बिगाड़ते हैं।[8] विदेशी भाषा के प्रवेश के साथ-साथ विदेशी पत्रकारिता का भारत-प्रवेश भी हिंदी-पत्रकारिता के मार्ग में रुकावट बन रहा है। समाचार-पत्रों में हिंदी की अपेक्षा अँग्रेजी के समाचार-पत्र कम मूल्य और अधिक पृष्ठों के होते हैं। यही हाल उन पत्रिकाओं का भी है, जो हिंदी की तुलना में कहीं सस्ती, सुंदर और मोटी होती हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में राजनीति की समस्या को हम नजरअंदाज नहीं कर सकते हैं। 1975 की आपातकालीन स्थिति और सत्ता द्वारा पत्रकारिता और पत्रकारों पर किए गए अत्याचारों और दमनचक्र के घाव आज तक भी भर नहीं पाए हैं। कागज-कोटा, लाइसेंस और विज्ञापनादि में बंदरबाँट होना तो पत्रकारिता-जगत का आम व्यवहार बन चुका है। शासन और शासनाधिकारियों की जी-हुजूरी करना, पत्र-पत्रिकाओं में उनको ही प्रमुखता देना तथा उनको ही अधिकाधिक ओब्लाइज करना और करते रहना पत्रकारों की विवशता-भरा फैशन बन चुका है। सरकार चाहे कोई सी और किसी भी दल या दल-समूह की हो, कथनी-करनी में अंतर रखती है। उसकी एकमात्र चाह होती है, पत्र-पत्रिकाएँ उसकी चाटुकारिता करती रहें, उसकी झूठी-सच्ची खबरों का प्रचार-प्रसार करती रहें, उसकी नीतियों का डंका पीटती रहें और षड्यंत्रों-घोटालों, कांडों, कुकर्म-कर्मियों आदि का जरा भी भंडाफोड़ न करें। अपनी इसी स्वार्थसिद्धि के लिए वह सरकारी धनराशि से लेकर विज्ञापन सुविधाएँ तक अपनी पक्षधर पत्रकारिता को खुले हाथ लुटाते हुए विरोधी पत्रकारिता पर अंकुश लगाने की हर कोशिश करती है।

जनतांत्रिक जीवन और शासन-प्रणाली के लिए आधारभूत चौथा स्तंभ मानी जाने वाली पत्रकारिता पर व्यावसायिकता पूर्णतया हावी होती जा रही है। ये अपने प्राणतत्त्व बौद्धिक खुराक को खोती चली जा रही है। आज की पत्रकारिता को हम इस रूप में पाते हैं–

जी हाँ हुजूर पत्रकारिता खबर बेचती है।
जी हाँ यह मनोरंजन बेचती है।
नारी की अर्धनंगी देह बेचती है।
भूत-प्रेत, अंधविश्वास, अपराध बेचती है।
सिनेमा, सेक्स, खेल बेचती है।
विश्व बाजार में ये सभी कुछ बेचती है।

पत्रकारिता पर बाजार हावी है। ये लोग व्यवसाय कर रहे हैं। इस दशा में इनसे संवेदनशीलता और मूल्यों की अतिशय अपेक्षा यदि की जाती है तो फिर निराशा के सिवा कुछ भी हाथ आने वाला नहीं है, इतिहास गवाह है कि भारतवर्ष में यह चिर परंपरा रही है कि निराशा के बाद आशा का सूर्य अवश्य उदित हुआ है, चाहे वह विदेशी दासता का ही काल क्यों न रहा हो। ऐसी भारतभूमि में हम हिंदी-पत्रकारिता की समस्याओं को देखकर सिहर तो उठते हैं, लेकिन कहीं-न-कहीं हमारे मन में आशा का तानाबाना बुनता-सा महसूस होता है। पत्रकारिता के 'न्यू मीडिया' ने मठाधीशों और पाषाणी सोच रखने वाले रचनाकारों की आँखों के सुरमे ने सेंध लगा

ली है। उनकी नींद चुरा ली है। अभिव्यक्ति की आजादी का नया उद्घोष ही इसकी पहचान है। फेसबुकिय क्रांति और ब्लाग्स अभिव्यक्ति पत्रकारिता को नए आयाम दे रही है। आज आवश्यकता इस बात की है कि आम आदमी, पूँजीपति और सरकार सभी ठंडे मन से विचार कर पत्रकारिता के उज्ज्वल भविष्य के लिए प्रयत्नशील हों। सरकार को इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। समुचित बैंकिग सहायता सहकारी संस्थाएँ बनाकर उनकी वित्तीय सहायता करना, मशीनरी आदि पर टैक्स कम-से-कम करना, प्रेस को कागजादि से लेकर स्थानादि तक की सुविधाएँ देना, भ्रष्ट नौकरशाही पर अंकुश लगाना आदि कार्य करने होंगे। पूँजीपतियों को पत्रकारिता को मात्र व्यवसाय मानने की भूल को सुधारना होगा। उसे स्वीकारना होगा कि मुनाफा तो मुनाफा है, लूट नहीं। आम आदमी को शार्टकट से तरक्की न पाना और गुमराही को रोशनी से चकाचौंध न होने की कसम खानी होगी। इस प्रकार हम हिंदी-पत्रकारिता के ऊपर मँडराते खतरे के काले बादलों को बरसने से रोकने में समर्थ हो सकते हैं। हम सभी के सद्प्रयासों से यह प्रगति के उन्नत पथ पर अग्रसर रहेगी, ऐसा मेरा अटूट विश्वास है। सत्य ही कहा है–

अगर जागते हों कलम के सिपाही।
तो संभव है रुक जाएगी तबाही।

संदर्भ

1. डॉ॰ एस॰ निर्मल, आज की हिंदी-पत्रकारिता, पृ॰ 85
2. डॉ॰ एस॰आर॰ सिंह, समाचार सिद्धांत और व्यवहार, पृ॰ 89
3. चित्रा मुदगल, बया, 2006, पृ॰ 29
4. प्रभात खबर, राँची परिशिष्ट 14 अगस्त 2007
5. राजेंद्र यादव, हंस अंक जनवरी 2007, पृ॰ 9
6. पुण्यप्रसून वाजपेयी, बया 2006, पृ॰ 18
7. डॉ॰ वी॰के॰ अरोड़ा, भारत में राममनोहर लोहिया और समाजवाद, पृ॰ 105
8. राममनोहर लोहिया व रामकमल राय, आचरण की भाषा, पृ॰ 128

के॰आई॰ 21, **कविनगर, गाजियाबाद (उ॰प्र॰)** 201002
मो॰ 09873605905, **दूरभाष** 01202701485

राजेंद्र अवस्थी एक परिचय

डॉ॰ दीपशिखा भारद्वाज
हिंदी विभाग
आर॰के॰एस॰डी॰ स्नातकोतर महाविद्यालय (कैथल)

साहित्य व समाज में अटूट संबंध है। साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। साहित्यकार जो कुछ भी अपने साहित्य में लिखता है, उसका जीवन में गहरा संबंध होता है। लेखक के व्यक्तित्व के अनेक पक्ष उसके साहित्य को किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रभावित करते हैं। वह अपनी कृतियों में अपने समय के समानांतर एक नई दुनिया निर्मित करता है। तद्युगीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों का आकलन व अध्ययन करता है, जिसकी झलक उसके लेखन में स्पष्ट दिखाई देती है। किसी भी साहित्यकार के साहित्य का अध्ययन या विश्लेषण हेतु उसका जीवन-परिचय प्राप्त करना अत्यंत जरूरी है। साहित्य और जीवन में घनिष्ठ संबंध होता है। किसी भी रचना में हमें उसके रचयिता के जीवन की झलक अवश्य मिलती है। किसी भी लेखक के साहित्य के मूल में पहुँचने से पहले हमें उस लेखक के संपूर्ण जीवन के बारे में जान लेना जरूरी होता है, क्योंकि यहीं से ही लेखक के साहित्यिक जीवन की शुरुआत होती है। किसी भी सामाजिक प्राणी को समझने, जानने में उसकी पारिवारिक भूमिका की विशेष महत्ता होती है कि किन-किन पड़ावों से गुजरकर कोई व्यक्ति कहाँ, किस लक्ष्य तक पहुँचा है। अवस्थी जी साहित्य जगत के वे स्तंभ हैं, जिनकी जड़ों को जाने बिना उन्हें पहचानने व समझने में कठिनाई होगी।

जन्म स्थान व परिवार

राजेंद्र अवस्थी जी का जन्म 25 जनवरी 1930 ई॰ को मध्य प्रदेश के जबलपुर नगर में हुआ। उनके पिता श्री घनेश्वरप्रसाद संस्कृत और हिंदी के प्रकांड विद्वान थे। श्री घनेश्वरप्रसाद एक स्वाभिमानी पुरुष थे। वे एक कट्टर ब्राह्मण होने के साथ-साथ स्कूल के मुख्याध्यापक भी थे। उनकी पूजा पाठ व दिनचर्या के बारे में डॉ॰ सविता सौरभ कहती हैं कि 'प्रातःकाल उठकर पूजा करना उनका नियमित आचरण था। सूर्योदय होने पर तुलसी के एक-एक पत्र को लेकर वे ईश्वर को जगाया करते थे।'[1] अवस्थी जी का स्थायी घर आज भी जबलपुर में है।

अवस्थी जी का जन्म सयुंक्त परिवार में हुआ था। बचपन से ही अवस्थी जी अपनी दादी के अधिक निकट थे। उन्हीं के शब्दों में 'आज भी मैं नहीं भुला पाया मेरी दादी अब नहीं हैं, लेकिन मैंने हमेशा महसूस किया है वे आज भी मेरे साथ हैं। दादी जी ने जो प्यार दिया, वह शायद माँ से भी मुझे नहीं मिला।....प्रेम कितने रूपों में हो सकता है दादी से मैंने पहचाना। उनका

वश चलता तो 'वे शायद आधा खाया हुआ भोजन भी मेरे मुँह में डाल देती।'[2] बचपन से ही अवस्थी जी को पत्रकारिता में रुचि थी। इनका विवाह 17-18 साल की अवस्था में ही हो गया। अवस्थी जी का विवाह घर वालों ने जबरन करवाया था। ये अपनी शादी के विरुद्ध थे–'मैं शादी-ब्याह जैसी चीजों पर विश्वास नहीं करता था, पिता जी ने जबरन मेरी शादी रचाई।'[3] उनके परिवार में दो लड़कियाँ और तीन लड़के हैं।

शिक्षा-दीक्षा

बचपन से ही अवस्थी जी को पढ़ने-लिखने का बहुत शौक था। 'प्रायमरी स्कूल में जब पढ़ता था, तबसे ही कविताएँ लिखने लगा। मुझे याद है कि एक कविता पर मुझे उस समय के राष्ट्रपति डॉ॰ राजेंद्रप्रसाद ने पुरस्कार दिया था। पुरस्कार क्या था, एक पुस्तक, नाम 'वक्तृत्व कला'। इस पुस्तक की हर पंक्ति मैंने पढ़ी थी और लटके-झटके के साथ भाषण देने लगा था।'[4] इस प्रकार अवस्थी जी बचपन से ही पढ़ने में मेधावी रहे। विद्वान पिता की संतान होने के कारण अवस्थी जी की हिंदी पर पकड़ काफी मजबूत थी। अवस्थी जी के अनुसार, 'मेरी भाषा-शैली अपने ढंग की अलग है, हिंदी में मेरा कोई भी मुकाबला नहीं कर सकता।'[5] उनकी आरंभिक शिक्षा कई स्थानों पर हुई। बी॰ए॰ की परीक्षा मेडला से पास की और बाद में नौकरी करते हुए एम॰ए॰ की परीक्षा नागपुर से उत्तीर्ण की। राजेंद्र अवस्थी पिता के विरोध के बावजूद नागपुर आए और नवभारत में नौकरी शुरू की। पत्रकारिता में रुचि होने के कारण 1986 में पत्रकारिता पर लिखे गए शोध-प्रबंध पर उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से पीएच॰डी॰ की उपाधि ली। हालैंड के लायडन विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें डी॰लिट्॰ की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी अवस्थी जी को डी॰लिट्॰ की उपाधि से विभूषित करके उन्हें भाषा-विशेषज्ञ के रूप मे प्रतिष्ठित किया।

व्यवसाय

अवस्थी जी नौकरी के संदर्भ में बड़े भाग्यशाली रहे। अपने जीवन की प्रथम नौकरी उन्हें नागपुर के 'दैनिक नवभारत' के साहित्य संपादक के रूप में मिली। उनके मन में पत्रकार बनने की प्रबल इच्छा थी। अत: उन्होंने पारिवारिक विरोध होते हुए भी नागपुर जाकर संपादक की नौकरी करने का संकल्प लिया। नागपुर में तीन-चार वर्ष नौकरी करने के उपरांत सन् 1960 में अवस्थी जी ने 'टाइम ऑफ इंडिया' प्रतिष्ठान में 'सारिका' का संपादन-भार स्वीकार किया। 'सारिका' में रहते हुए इन्होंने निश्चित अवधि में पत्रिका का प्रकाशन कार्य कर अपनी परिश्रमशीलता, अदम्य उत्साह का परिचय दिया। बंबई (मुंबई) आकर उन्होंने फिल्मिस्तान में 'रणजीत स्टूडियो' भी खोला था। वे फिल्म-निर्माण के क्षेत्र में उतरना चाहते थे, किंतु फाइनेंसर से फाइनेंस न करवा पाने के कारण उनको अपना उद्देश्य बदलना पड़ा। वैसे भी बंबई की जलवायु का अवस्थी जी के स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव पड़ रहा था। अत: 1964 में अवस्थी जी दिल्ली आ गए। दिल्ली आकर 'हिंदुस्तान टाइम्स' से बच्चों की एक पत्रिका निकालने का कार्य किया। उसका नाम 'नंदन' रखा गया। इस पत्रिका का भार वे 1974 तक सँभालते रहे। सन् 1972 से अवस्थी जी की भारत प्रसिद्ध पत्रिका 'कादंबिनी' का संपादन करने लगे। उन्होंने इस पत्रिका को जगप्रसिद्ध बनाने के लिए अथक परिश्रम किया, जिसका फल भी उन्हें प्राप्त हुआ।

उनके अनुसार, 'जिस दिन मुझे कादंबिनी का संपादक बनाया, उस समय भारत में इसकी 23हजार प्रतियाँ बिकती थी, लेकिन आज 3 लाख से ऊपर प्रतियाँ बाजार में बिकती हैं।' साहित्यकार और संपादक होने के साथ-साथ उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय में पत्रकारिता का विषय भी पढ़ाया। अब तक अवस्थी जी अफ्रीका और ऐशिया के देशों, यूरोप, अमेरिका, रूस आदि के साथ-साथ उत्तरी ध्रुव के पास फिनलैंड तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया के सभी देशों का भ्रमण कर चुके थे। इन यात्राओं ने अवस्थी जी के पत्रकारिता-संबंधी ज्ञान को समृद्ध बनाया।

साहित्यिक गतिविधियाँ

अवस्थी जी ने साहित्य-साधना पद्य ॐसे आंरभ की थी। उनकी पहली कविता अँग्रेजी में थी, जिस पर उन्हें तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ॰ राजेंद्रप्रसाद द्वारा एक पुस्तक 'वक्तृत्व कला' पुरस्कार में दी गई थी। बस यहीं से साहित्य के क्षेत्र में उनके पैर जमते चले गए। हिंदी में अवस्थी जी के साहित्य जीवन का प्रारंभ सन् 1956 में कहानी द्वारा हुआ। उनकी प्रथम कहानी 'उलझन', 'सुमित्रा' नामक पत्रिका में छपी थी। इस कहानी में उन्होंने धर्म के नाम पर व्याप्त अंधविश्वास पर कड़ा व्यंग्य किया है। भारतीय स्तर पर राजेंद्र अवस्थी का नाम उस समय उभरकर सामने आया, जब उनकी कहानी 'उलझन' को अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस पुरस्कार ने अवस्थी जी को अत्यंत उत्साहित किया। अवस्थी जी ने एक और कहानी लिखकर भेजी। उस कहानी को भारतीय स्तर पर द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। इन पुरस्कारों ने अवस्थी जी को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि कविता लिखने से कहानी लिखना अच्छा है। अवस्थी जी के अनुसार, 'उन दिनों कविसम्मलनों की हालत अच्छी नहीं थी। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि लौटते समय घर आने के लिए किराये के पैसे भी नहीं मिलते थे। ऐसी स्थिति में हमें आपस में चंदा इकट्ठा करना पड़ता था।'[5] कविता में आर्थिक लाभ न होने के कारण वे कहानी की ओर मुड़े। कहानी से वे गद्य की ओर प्रोत्साहित हुए। कविता के संबंध में उनका मानना है, 'आज की दुनिया में कविता से निरर्थक और बेमानी कोई चीज नहीं हो सकती। ओढ़ी हुई संवेदनाओं और परंपरागत उपमानों की भीड़ में शब्दों को बाँधना हास्यास्पद जान पड़ता है। लगता है कि कविता करने वाला कहीं मुखर नहीं होता। कोरे शब्द और अक्षर मुखर होते हैं और कवि केवल उन्हीं शब्दों और अक्षरों को जोड़नेवाला बाजीगर हैं।[6] कहानी लिखते-लिखते अवस्थी जी का लेखनकार्य अचानक उपन्यास विधा की ओर मुड़ा। उनके शब्दों में, 'एक कहानी बहुत लंबी हो गई तो उसे उपन्यास का रूप देना पड़ा और यही मेरा पहला उपन्यास 'सूरज किरण की छाँव' बन गया।' अवस्थी जी का रचना-संसार बहुत विस्तृत हैं। उन्होंने जीवन-मूल्यों के हर पक्ष को स्वीकार कर उन पर यथासंभव पुस्तकें लिखीं और उनकी कृतियों के देश और विदेश में अनुवाद भी हुए। वे अखिल भारतीय विश्व चलचित्र जूरी प्रतियोगिता के सदस्य भी रहे और एक सलाहकार के रूप में वे भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों से भी जुड़े रहे। अपने अंतिम दिनों में वे प्रकाशन संस्थान 'आथर्स गिल्ड ऑफ इंडिया' के प्रबंध-निर्देशक तथा मध्यप्रदेश संस्कृत संस्थान एवं अखिल भारतीय दिनकर साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भी रहे। इस प्रकार वे निरंतर आगे बढ़ते गए। उन्हीं के शब्दों में मैंने अपनी भरपूर क्षमताओं से पत्रकारिता-जगत को समृद्ध किया है और ईश्वर की कृपा है कि मुझे इसमें असफलता कहीं नहीं

मिली। मैंने कभी सहायक का भी काम नहीं किया। मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ। आरंभ से ही मैं संपादक के पद पर रहा हूँ।

व्यक्तित्व

अवस्थी जी सौम्य, मिलनसार एवं हँसमुख व्यक्तित्व के धनी थे। दिखने में वे कहानीकार व उपन्यासकार कम व कवि अधिक दिखते थे। गौरवर्ण, लट वाले करीने से सँभले हुए बाल, मुख पर चश्मे के पार झाँकती काली आँखें जो कहीं शिकायत करती नहीं लगतीं। औसतन कद, चेहरा ऐसा, जो किसी से झगड़े-फसाद का आदि नहीं दिखता था, हमेशा मुस्कुराने की आदत का द्योतक दिखता था। उनके सृजन का मुख्य रहस्य अभाव, क्षोभ और असंतोष में निहित था। अवस्थी जी के होंठों पर हमेशा मुस्कुराहट की अमृतरेखा रहती थी। अवस्थी जी के दयालु और निःस्वार्थ हृदय के बारे में डॉ॰ लक्ष्मीनारायण बताते हैं कि 'सबसे विशेष बात यह है कि अपने तमाम समसामयिक लेखक बंधुओं को रचना-जगत में स्नेह, सहयोग प्रदान किया, परंतु उनसे कभी कुछ पाया नहीं है। प्राप्त किया है संभवतः उपेक्षा, ईर्ष्या और अपमान।'[8] वे अपने आत्मसम्मान को कभी चोट नहीं पहुँचने देते थे। वे अत्यंत स्वाभिमानी होने के साथ-साथ सड़ी-गली परपंराओं के प्रबल विरोधी थे। उनका यह स्वाभिमान उनकी कतिपय रचनाओं में प्रतिबिंबित भी हुआ है। अवस्थी जी ने पराजय स्वीकार करना नहीं सीखा था। जीवन में पराजय स्वीकार करने वाले व्यक्ति को उनके मतानुसार जीने का हक नहीं है। वे कहते थे, 'मैंने हमेशा यह कहा है कि आदमी कभी पराजित न हो। जो हारकर भी पराजय महसूस न करे, वही आदमी है। अगर पराजय ही झेलना है तो बड़ी-बड़ी ये इमारतें किसलिए हैं, उनसे कूद पड़ो, आत्महत्या कर लो। अगर जिंदा रहना है तो आदमी की तरह जिंदा रहो। श्री, पद या पैसे के लिए उन्होंने कभी अपने उसूलों से समझौता नहीं किया। डेढ़ लाख के बिहार सरकार के राजेंद्र शिखर सम्मान के लिए उन्होंने कभी वहाँ के निवर्तमान मुख्यमंत्री की प्रशस्ति में एक पंक्ति भी कादंबिनी में नहीं लिखी, अपितु जब भी अवसर मिला एक निर्भीक और सर्वथा तटस्थ पत्रकार के रूप में उन्होंने उनकी मूल्यविहीन राजनीति की खुले शब्दों में आलोचना ही की। अवस्थी जी पुरातनपंथी में विश्वास नहीं करते थे। वे हमेशा परिवर्तन के पक्ष में थे। यह परिवर्तन परंपरा का हो, रीति-रिवाजों का हो अथवा व्यक्ति के व्यक्तित्व का हो। परिवर्तन के पीछे नवीनता का आग्रह होता है। अतः वे परिवर्तन को आवश्यक मानते थे। एक पत्रकार होने के साथ-साथ अवस्थी जी एक अत्यंत कुशल वक्ता भी थे। उनके भाषण की प्रवाहमयता में एक चुंबकीय शक्ति थी, जो श्रोताओं को आकृष्ट किए रहती थी। लोग उत्सुकता के साथ उनकी बातें सुनते थे और क्या मजाल जो एक सूई भी बिना आवाज किए गिर जाती हो। देश-विदेश के अनुभवों से युक्त वे किसी भी विषय पर घंटों अविराम बोल सकते थे। हिंदी के आदमी होने के साथ-साथ अँग्रेजी में धाराप्रवाह भाषण देते देख हिंदी-लेखकों को स्वभावतः ईर्ष्या होती थी। अवस्थी जी अपनी मित्र-मंडली में बेहद लोकप्रिय थे। इसके लिए वे अपने को भाग्यशाली समझते थे। 'भाग्यशाली इसलिए भी हैं कि मोहन राकेश, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, रघुवीरसहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, अज्ञेय, राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन, कमलेश्वर जैसे दर्जनों श्रेष्ठ लेखक, जो मेरी जीवन-यात्रा के साथ चले हैं, मेरे आत्मीय परिचय के दायरे

में हमेशा रहेंगे। उनका मुझे विश्वास मिला है।'[10] कुछ प्रसिद्ध फिल्मी जगत के लोगों के साथ-साथ कई देशों के राजदूतों, गर्वनरों, राष्ट्राध्यक्षों से उनकी अच्छी मित्रता थी।

निष्कर्ष

राजेंद्र अवस्थी जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके जीवन-चरित्र का अध्ययन करने पर पता चलता है कि साहित्य-साधना उन्होंने अपने जीवन के प्रारंभिककाल में ही आरंभ कर दी थी और हिंदी साहित्य-जगत में उनका आगमन 'सुमित्रा' नामक पत्रिका में प्रकाशित 'उलझन' कहानी से हुआ। अवस्थी जी ने साहित्य की हर विधा पर लेखनी चलाई और उनकी कई रचनाओं को पुरस्कार भी मिला। अवस्थी जी ने उपन्यास-लेखन का आरंभ 'सूरज किरण की छाँव' से किया। कहानियों तथा उपन्यासों के अतिरिक्त अवस्थी जी ने यात्रावृतांत, नाटक, बालसाहित्य लेखन भी किया।

संक्षेप में कह सकते हैं कि उनका कथासाहित्य बहुउद्देशीय है। शायद ही समाज की कोई बुराई बची हो, जिसके विरुद्ध अवस्थी जी ने अपनी लेखनी के माध्यम से आवाज न उठाई हो। अवस्थी जी अब तक अपने जीवन के 75 वर्ष देख चुके थे, किंतु अब वह धीरे-धीरे अस्वस्थ होते चले गए। उन्हें कई शारीरिक व्याधियों ने घेर लिया था, किंतु फिर भी माँ शारदा का यह अनन्य पुत्र साहित्य-साधना में अनवरत लगा रहा, किंतु काल के क्रूर हाथों ने अवस्थी जी को हमसे 30 दिसंबर 2009 को 79 वर्ष की आयु में सदा के लिए छीन लिया। संपूर्ण साहित्य-जगत उनके निधन से सदमे में आ गया, क्योंकि साहित्य के लिए यह कभी भी न पूरी होने वाली क्षति थी। ऐसे उन्मुक्त साहित्यकार इस धरा पर कभी-कभी ही जन्म लेते हैं और संपूर्ण पृथ्वी को अपनी प्रतिभा की सुरभि से महका देते हैं। अवस्थी जी का साहित्य आज भी पाठकों को अतुलनीय आनंद दे रहा है और विश्वजीवन को समृद्ध बना रहा है। उनकी यह नि:स्वार्थ सेवा ही उनको सच्चा साहित्यकार सिद्ध करती है।

संदर्भ

1. राजेंद्र अवस्थी की कलम से, खुली किताब के पन्ने, पृ॰ 21
2. वही पृ॰ 21
3. खुली किताब के पन्ने, राजेंद्र अवस्थी, पृ॰ 25
4. वही पृ॰ 24
5. वही, पृ॰ 24
6. डॉ॰ सविता सौरभ, अवस्थी जी का कथासंसार, पृ॰ 6
7. राजेंद्र अवस्थी, मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ॰ 115
8. खुली किताब के पन्ने, लक्ष्मीनारायण लाल, पृ॰ 50
9. सुरेश नीरव, राजेंद्र अवस्थी 21वीं सदी की दृष्टि, पृ॰ 112
10. अवस्थी जी का लेख, खुली किताब के पन्ने, पृ॰ 34

उत्तर आधुनिकता

अमितकुमार राय
शोध छात्र, इतिहास
पी॰जी॰ कालेज, गाजीपुर

उत्तर आधुनिकतावाद एक व्यापक संश्लिष्ट अवधारणा है, इस शब्द के अनेक अर्थ हैं–एक से एक जटिल, दुरूह और गहरे अर्थ। मूलतः यह बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की नव-पूँजीवादी, नव साम्राज्यवादी, नव उपनिवेशवादी, नव संरचनावादी, नव सांस्कृतिक साम्राज्यवादी विचारधारा (आइडियोलॉजी) है। उत्तर आधुनिकता के संबध में यह कहा जाता है कि इस उपागम के विचारकों में एक अलिखित समझौता-सा है कि इस विधा को परिभाषित नहीं किया जाए परिभाषा को लेकर विचारकों में एक मत भी नहीं है। उत्तर आधुनिकता का प्रवचन विरोधाभासों से भरा है, उसमें असबद्धता भी देखी जाती है।[1]

लाथर का यह मानना है कि पश्चिमी संबोधात्मक व्यवस्था के संकट का उत्तर आधुनिकता कूट संदेश है। गिरोक्ष की यह मान्यता है कि इस विचारधारा ने सभी निश्चयात्मक तत्त्वों, आयामों व श्रेणियों के विरोध में युद्ध छेड़ दिया है। उत्तरआधुनिकता की नींव आलोचना पर खड़ी है। आलोचना की जिनी बोतल से निकल गई है और इधर-उधर दौड़ रही है। वह शैतानी पर उतर आई है। आलोचना के माध्यम से सत्य के हर प्राक्कथन को चुनौती दी जा रही है। यह एक दृष्टिकोण से विध्वंसात्मक निराशा में परिणत हो रही है।[2] उत्तर आधुनिकता का यह कथन कि ज्ञान मीमांसात्मक निश्चय, उत्पीड़न का कारक होता है, वजनदार है।[3]

उत्तर आधुनिकता इतिहास में बहुविध आवाजों को सुनता है। यह बोधगम्यता को प्रक्रियात्मकरूपेण प्राप्त करता है। यह आधारभूत तर्कों को अस्वीकार करता है।[4]

'पोस्ट-मॉडर्निज्म' या 'उत्तर आधुनिकतावाद' जैसे प्रत्यय और अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम प्रख्यात इतिहासकार ऑर्नल्ड टायन्वी ने अपनी पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' में ऐतिहासिक कालखंडों के अर्थ में किया। यह पुस्तक 1947 में प्रकाशित हुई थी। 'ललित कलाओं के क्षेत्र में 'उत्तर आधुनिकतावाद' पदबंध का प्रयोग सर्वप्रथम कला-सिद्धांत में प्रचलित हुआ। समाजशास्त्र और साहित्यशास्त्र में उसका प्रचलन अनंतर हुआ। लेजली फेडलर के यहाँ उत्तर आधुनिकतावाद का उल्लेख 1965 से मिलता है, जबकि साहित्यिकी का प्रसिद्ध संदर्भ इहब हसन की पुस्तक है–'दि डिसमेंबरमेंट ऑफ ऑरफेयस : टुवर्ड्स ए पोस्ट-मॉडर्न लिटरेचर (1976)। लगभग इसी काल में फ्रांस में इस पदबंध का अधिक प्रचलन हुआ और डेनियल बेल, बोद्रेला एवं ल्योतार ने 'उत्तर आधुनिकता' पर बतौर थ्योरी बहस करना आरंभ किया।[5]

ल्योतार ने 'दि पोस्ट-मॉडर्न कंडीशन' में ज्यादातर विवाद-संवाद जर्मन दार्शनिक हैबरमास से किया है। क्यों किया है यह संवाद? इसका उत्तर है कि हैबरमास 'द्वंद्वात्मक दार्शनिक'

के रूप में प्रसिद्धि के सभी प्रतिमान तोड़ चुके थे और उनकी धाक चाहे ग्वात्री हो या फ्रेडरिक जैमिसन या बेंजामिन सभी पर थी।[6] उत्तर आधुनिकतावाद पर वर्षों तक जूझकर मदनस्वरूप ने इस क्षेत्र की एक प्रामाणिक गाइड बनाने का संकल्प किया और इस संकल्प को 'एन इंट्रोडक्शन गाइड टु पोस्ट-स्ट्रक्चरलिज्म एंड पोस्ट मॉडर्निज्म (1989-एथेंस) व्यक्त किया। मदनस्वरूप ने फ्रांसीसी चिंतकों का विस्तार से अध्ययन किया है और जहाँ तक हो सका है—मार्क्सवाद से 'एलर्जी' का परिचय दिया है।[7] इधर ल्योतार ने फिर से 'दि पोस्ट मॉडर्निज्म एक्सप्लेंड टु चिल्ड्रन (1992) लिखकर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। दिलचस्प बात यह है कि ल्योतार ने उत्तर आधुनिकतावाद की थ्योरी में रच-बसकर इसे पत्रों के रूप में लिखा है। तबसे लेकर अब तक उत्तर आधुनिकतावादी संस्कृति पर बहस-विचार 'कल्चरल स्टडीज' या 'सांस्कृतिक अध्ययन' के रूप में हो रहा है। कभी टेरी ने 'क्रिटिसिज्म एंड आइडियालॉजी (1976) में बहस को नया मोड़ दिया था।[8]

बेन एग्गर ने अपनी पुस्तक 'कल्चरल स्टडीज एज क्रिटिकल थियरी' में नव इतिहासवाद को विस्तार से समझाया।[9] सन् 1980 में आल्विन टाफलर ने 'न्यू वेव' शीर्षक से पुस्तक लिखी और कहा—'हमारे जीवन में एक नई सभ्यता का प्रादुर्भाव हो रहा है। अज्ञानी लोग हर जगह इस सभ्यता के आगमन को रोकने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं, किंतु यह सभ्यता अपने साथ नई परिवार-व्यवस्था, पारिवारिक चिंतन की पद्धतियाँ, कार्यकलापों का नया ढब, प्रेम-संबंध और जीवन जीने का नया अंदाज, नवीन अर्थ-व्यवस्था, नया राजनीतिक परिदृश्य और इन सभी से ऊपर एक नवीन परिवर्तनवाद की चेतना ला रही है। आज हजारों लोग भविष्य की इस लय से अपने को 'ट्यून' कर रहे हैं।' प्रौद्योगिकी और संबंधों के बदलाव के कारण सभ्यता में नए मरुस्थल पैदा हो रहे हैं (रिक्तता, खालीपन, निराशा, यौन-क्रांति में जीवन फँस गया है।[10] प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही यूरोप में बहुत कुछ खंड-खंड हो गया, मानववाद के पतन का इतिहास लिखते ही 1920 में आर्नल्ड टायन्बी ने 'पोस्ट मॉर्डन' शब्द का प्रयोग किया। यह वही समय था, जब एलियट टी॰एस॰ 'दि वेस्टलैंड (1922) जैसी विश्वप्रसिद्ध लंबी कविता लिख रहे थे और आस्वेल्ड स्पेंगलर 'दि डिक्लाइन ऑफ दि वेस्ट' (दो भाग 1922-23)।[11]

उत्तर आधुनिकतावाद में न 'मेटानैरेटिव' के लिए जगह है, न इनलाइटमेंट प्रोजेक्ट के लिए। महाख्यान चाहे राजनीतिक हो या सामाजिक, आज उसकी विश्वसनीयता समाप्त हो रही है। इतिहास के दो बड़े महाख्यान रहे हैं—पहला मानव-स्वतंत्रता का स्वप्न, जिसका आरंभ फ्रांसीसी राज्यक्रांति से हुआ था, दूसरा मानव-विज्ञानों में अंतर्संबंध और एकत्व।[12] इसका आरंभ हीगेल की जर्मन परंपरा से हुआ। आज इन दोनों आख्यानों का चेहरा अधिनायकवादी है और मानव-स्वाधीनता पर हमलावर विज्ञान और हाईपावर टेक्नोलॉजी का लक्ष्य अधिकाधिक साधनों को जुटाना है। हमारा विश्वास न हीगेल में है न मार्क्स, न तिलक में, न गांधी में। सभी महाख्यानों की विचारधाराओं से विश्वास का अंत हो गया है।[13]

उत्तर आधुनिकतावादी, उत्तर संरचनावादी चिंतन में मिशेल फूको के प्रवेश का बड़ा संदर्भ है। यह ऐसे पाएदार चिंतक हैं कि पुरानी पटरियाँ उखाड़कर कहते हैं कि 'पाठात्मकता' (Textuality) का सार-सर्वस्व तो 'पाठ' के 'विमर्श-सिद्धांत' में मौजूद है। फूको को पाठात्मकता का सिद्धांत इसलिए मान्य नहीं है कि 'अर्थोत्पत्ति' के लिए 'विचारधारा' को महत्त्व देना 'पाठ'

की हैसियत का अवमूल्यन है। जबकि सच यह है कि शक्ति-सत्ता का खेल ही 'पाठ' के अर्थ का निर्धारण करता रहा है और आज भी कर रहा है। 'विमर्श' की यह शक्ति ही कभी हिटलर बनती है, कभी स्टालिन। विद्वानों का मानना है कि फूको के विचारों पर जर्मन दार्शनिक नीत्से का जादू सिर पर चढ़कर बोल रहा था, उसका 'विमर्श-सिद्धांत' भी नीत्से के प्रभाव से बाहर नहीं है।[14]

हम सभी के लिए यह जानना जरूरी है कि उत्तर आधुनिकता किसी एक सिद्धांत या विचारधारा का नाम नहीं है। यह एक ऐसा विश्व बरगद है, जिसकी अनगिनत शाखाएँ हैं—अर्थात् उत्तर आधुनिकता में न जाने कितने सिद्धांत, विचारधाराएँ, प्रवृत्तियाँ, बौद्धिक अभिवृत्तियों का समुच्चय है। एक खास अर्थ में उत्तर आधुनिकतावाद सूचना-संचार-युग, बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद के वर्तमान युग की उस संस्कृति का नाम है, जिसका कोई केंद्रवाद नहीं है।[15] बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कला, साहित्य, मीडिया, अर्थ-तंत्र, मंडी अर्थ-व्यवस्था, राजनीति, समाज, दर्शन आदि के क्षेत्रों में जो व्यापक परिवर्तन आए हैं—उन सभी में 'उत्तर आधुनिकता' शब्द के कई अर्थ हैं, लेकिन ये अर्थ इतने व्यापक हैं कि उन्हें परिभाषाओं में बाँधा नहीं जा सकता। विद्वानों ने खूब सोचकर इतना भर कहा है कि उत्तर आधुनिकतावाद साठ के दशक के उन मुक्ति-आंदोलनों, स्वाधीनता-खोजी विचारधाराओं, निरंकुश यौन-प्रवृत्तियों से निकला है, जिसने सभी पुरानी नीतियों-सिद्धांतों, विचारधाराओं का अंत कर दिया है।[16]

हर विचार पर बैठा अनुशासन टूट गया है और चिंतन की स्वाधीनता का उफनता सागर इस नई संस्कृति में मौजूद है। सृजनात्मक आजादी का आग्रह, नारी-मुक्ति, यौन-क्रांति, सांस्कृतिक अस्मिता की तलाश, जड़ों की ओर लौटने का इरादा, आधुनिकतावादी फार्मूलों का खंडन, सभी पुरानी अवधारणाओं पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए उन पर नए सिरे से विचार करने की आजादी उत्तर आधुनिकतावाद के ठोस लक्षण हैं। इस दृष्टि से उत्तर आधुनिकतावाद बहुलतावाद अथवा बहु संस्कृतिवाद पर आधारित है। इसमें केंद्रवाद की अपेक्षा स्थानीयता-क्षेत्रीयता पर पूरा जोर है और एकीकृत के बजाय भिन्नता, विकेंद्रीयता-अन्यता को यह मूल प्रश्न के रूप में अपनाता है।[17]

दार्शनिक विचारधारात्मक, सांस्कृतिक-धार्मिक सभी तरह की पुरानी अवधारणाओं के खूँटे उखाड़ देने का नतीजा यह हुआ है कि हाशिए पर स्थित समूह, विरोधी विचार, परिधि पर स्थित दलित अश्वेत जनजातियाँ, नारी-मुक्ति की तमन्ना, समलैंगिकता, हर तरह की पहचान खोजते लुटे-पिटे लोग, सत्ता की भागीदारी में धाकड़ प्रवृत्तियों का उदय, सांस्कृतिक संवाद से वंचित रखे जाने वाले लोग, वर्चस्व के लिए संघर्ष करती भीड़, जो कर रही है, वे उत्तर आधुनिकता के लक्षण हैं। उत्तर आधुनिकतावाद ने इतिहास की रैखिक, संयुक्त, एकीकृत, केंद्रित अवधारणा की धूल में ध्वस्त करते हुए उसे वर्तुलाकार, विभक्त, विकेंद्रित मानकर दम लिया है।[18]

उत्तर आधुनिकतावाद हर तरह के 'केंद्रवाद' को ध्वस्त करता है। उसकी पूरी यात्रा केंद्र से परिधि की ओर है। समाज के वे वर्ग, जो केंद्र से हाशिए पर धकेल दिए गए थे, अब परिधि से केंद्र की ओर अग्रसर हो रहे हैं, दलित और नारी दोनों महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।[19]

क्या सब-कुछ 'पोस्ट' हो चुका है, केवल मृत्यु का चिंतन शेष है। 1960 में डेनियल बेल ने पूरी स्थिति का अध्ययन करने के बाद अपने चिंतन को अपनी पुस्तक का शीर्षक बना दिया 'दि एंड ऑफ आइडियालॉजी' विचारधाराओं का अंत, बुद्धिजीवी वर्ग का अंत, यूटोपिया

का अंत, मार्क्सवाद, आधुनिकतावाद, सभी ऐतिहासिक विचारधाराओं का अंत। पश्चिम के एक व्यक्ति ने तो 'डेथ ऑफ मनी' नामक पुस्तक में कहा–परंपरागत धन का अंत। अपने 'समय' के 'विनाश' से आहत दार्शनिक नीत्से ने 'ईश्वर की मृत्यु' की घोषणा की थी।[20] नीत्से की यह विचारधारा ज्यादातर उत्तर आधुनिकतावादी उत्तर संरचनावादी चिंतकों को मान्य हुई। ईश्वर की मृत्यु के बाद 'मनुष्य की मृत्यु' 'सब्जेक्ट की मृत्यु' का दौर चला। 1989 में फ्रांसिस फूकोयामा का लेख छपा–'एंड ऑफ हिस्ट्री' तो बड़ा वैचारिक कोलाहल हुआ। इस लेख की मूल स्थापनाओं को विस्तृत करते हुए उन्होंने 1991 में पुस्तक प्रकाशित की 'दि एंड ऑफ हिस्ट्री एंड दि लास्ट मैन।'[21]

'पोस्ट मॉडर्निज्म' के लिए हिंदी में 'उत्तर आधुनिकतावाद' शब्द का प्रयोग प्रचलन में आ गया है। लेकिन कुछ विद्वान् 'उत्तर आधुनिकतावाद' शब्द पर आपत्ति उठाते हैं। तर्क यह देते हैं कि 'पोस्ट मॉडर्निज्म' का अनुवाद 'आधुनिकोत्तर' होना चाहिए। दरअसल, 'पोस्ट' के लिए 'उत्तर' शब्द चल पड़ा है, जिसकी मूल अर्थ-ध्वनि है कि हम एक ऐसे काल-विशेष में जी रहे हैं, जिसमें सब-कुछ 'पोस्ट' हो चुका है या होने की तैयारी कर उठा है। 'पोस्ट' एक खास तरह से 'अंत' होने की सूचना देता है। बीसवीं शताब्दी में 'इतिहास', 'दर्शन', 'संस्कृति', 'विचारधारा' आदि सभी पर इतनी बहसें नए कोणों से की गईं कि एक तूफान-सा आ गया। घोषित तौर पर अतीत-वर्तमान भविष्य पर चर्चा करते हुए कहा गया कि अब 'इतिहास का अंत' हो चुका है। सभी क्षेत्रों में 'पोस्ट' प्रबल हो रहा है–'पोस्ट हिस्ट्री', 'पोस्ट स्ट्रक्चरलिज्म', 'पोस्ट इंडस्ट्रियलिज्म', 'पोस्ट कालोनियलिज्म', 'पोस्ट मार्क्सिज्म'। काल-विधाता ने इतना अधिक बदलाव किया है कि बहुत कुछ 'पोस्ट' हो गया है।[22] इस प्रकार उत्तर आधुनिकता सभी प्रकार की विचारधाराओं का अंत कर देती है। सभी वादों का अंत करते हुए सारे पुरानी नीतियों सिद्धांतों को समाप्त कर देती है और एक नए लेखन को आरंभ करती है।

संदर्भ

1. संदीप साईकृष्ण, वैश्वीकरण की पूँजीवादी अर्थव्यस्था का विकल्प, नई दिल्ली, 1999, पृ॰ 163
2. डॉ॰ सोती शिवेंद्रचंद्र, भारत में सामाजिक समस्याएँ, नई दिल्ली, 2002, पृ॰ 108
3. सुधीश पचौरी, फॉसीवाद संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ॰ 34
4. केलनर, डी (एडी॰), जेन वॉड्लार्ड : फ्रॉम मार्क्सिज्म टू पोस्ट माडर्निजम एंड वियांड, पोलिटी प्रेस, कैंब्रिज, 1989, पृ॰ 212
5. किस्बी डेविड, फ्रगमेंट्स ऑफ माडर्निटी, पोलिटी, कैंब्रिज, 1985, पृ॰ 82
6. डॉ॰ सोती शिवेंद्रचंद्र, भारत में सामाजिक समस्याएँ, नई दिल्ली, 2002, पृ॰ 109
7. मधु लिमये, भारतीय राजनीति के अंतर्विरोध नई दिल्ली, 1996, पृ॰ 212-213
8. संदीप साईकृष्ण, वैश्वीकरण की पूँजीवादी अर्थव्यस्था का विकल्प, नई दिल्ली, 1999, पृ॰ 172
9. बाला बुशेविच और द्योकोव, भारत का समकालीन इतिहास, नई दिल्ली, 1964, पृ॰ 73
10. बी॰एल॰ ग्रोवर, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2001, पृ॰ 132
11. ग्रिफिन, कीप तथा गुर्वे जॉन 1985 'रेडिकल अनालिसिस ऑफ इंपीरियलिज्म, थर्ड वर्ल्ड एंड ट्रांजिशन टू सोशलिज्म : ए सर्वे आर्टिकल', जर्नल ऑफ इकॉनामिक लिटरेचर, पृ॰ 179
12. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ॰ 45

13. राजकिशोर (संपा॰), भारत का राजनीतिक संकट, नई दिल्ली, 1997, पृ॰ 134
14. जैक, दरिदा, स्पीच एंड फेनोमेना एंड अदर ऐसेज, 1973, पृ॰ 97
15. प्रो॰ रणधीर, ग्लोबलाइजेशन का मार्क्सवादी विश्लेषण, इंदौर, 2004, पृ॰ 105
16. सुदर्शनदास, माडर्निज्म वर्सेज पोस्ट माडिर्निज्म, रजत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2000, पृ॰ 64
17. वही, पृ॰ 64
18. वही पृ॰ 64–65
19. सुधीश पचौरी, आलोचना से आगे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ॰ 34
20. बाला बुशेविच और द्योकोव, भारत का समकालीन इतिहास, नई दिल्ली, 1964, पृ॰ 77
21. जेमसन, फेड्रिक पोस्ट माडर्निज्म ऑफ दि कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, डरहम, 1991, पृ॰ 75
22. योगेंद्रसिंह, कल्चर चेंज इन इंडिया, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर 2000, पृ॰ 57

20 **एल॰आई॰जी॰, काटजू बाग कालोनी**
तेरलियार गंज, इलाहाबाद 211004
मो॰ 9696797832, 9452219425
rai.amit.amit@gmail.com

मुक्तिबोध : मुक्ति और बोध की कविता

कृष्णा कदम
हिंदी विभाग
मत्स्योदरी महाविद्यालय, जालना (महा॰)

जिन मराठी भाषिक साहित्यिकों ने हिंदी को अपना कर्मक्षेत्र चुना उनमें माधवराव सप्रे, प्रभाकर माचवे और मुक्तिबोध प्रमुख हैं। मुक्तिबोध को आलोचकों ने जनवादी कवि, प्रगतिशील कवि, क्रांतिकारी कवि जैसे अनेक भूषणों से नवाजा है और वे इसके हकदार भी हैं, क्योंकि उनकी कविता 'आम आदमी' की मुक्ति की कविता है। समाज में स्थित सर्वहारा वर्ग का शोषण, अन्याय-अत्याचार, जातीयता, लूट-पाट, स्त्री का यौन-शोषण, राजनीतिक कुतंत्र, भ्रष्टाचार जैसे अनगिनत सवालों को सुलझाने का उपदेश बोध उनके काव्य में है। खुद भोगी हुई, अनुभव की हुई सामाजिक विद्रूपताओं के बिंब उनकी कविता में उभरकर आते हैं। मुक्तिबोध की कविता में उनके नामानुरूप मानव-मुक्ति और बोध का निहितार्थ छुपा हुआ है। उनका काव्य सर्वहारा, दलित, पीड़ित जनसामान्य स्त्री-पुरुष की सब प्रकार की समस्याओं, विसंगतियों, विरोधाभासों, संत्रासों से उबरने का मुक्तिमार्ग और नवसमाज-निर्माण का उपदेश और युगबोध है। उनकी कविता स्व-संघर्ष की राह पर चल, पर-संघर्ष में तब्दील होती है। वे अभिजात वर्ग को छोड़ बाकी वर्ग में जनसंघर्ष की चेतना जगाते हैं। वेदप्रकाश अमिताभ ने लिखा है, 'वे 'स्वातंत्र्य' और 'मुक्ति' को प्रमुख मूल्य मानते हैं और उसके लिए शोषण-प्रधान सत्ता के तिलस्म को तोड़ना अनिवार्य समझते हैं।'[1] मुक्तिबोध की कविता में आजादी के बाद पनपी शोषण पर आधारित पूँजीपति व्यवस्था-सभ्यता को तोड़ने का ठोस संकल्प है।

मुक्तिबोध पर बर्गसा, मार्क्सवाद का प्रभाव है। उनके काव्य में भोगे हुए यथार्थ के संश्लिष्ट चित्र चित्रित हैं। समकालीन समाज की व्यवस्था, विभाजन-प्रक्रिया से वे सचेत थे, इसलिए सभ्य समाज के साए में कुचले गए निष्पाप लोगों के दु:ख उनकी कविता में आए और उन्होंने उनकी वेदना को अभिव्यक्त कर उन्हें 'अन्याय और शोषण से मुक्ति' हेतु वर्गसंघर्ष को स्वीकारना अनिवार्य है, का संदेश दिया। नामवरसिंह ने मुक्तिबोध को नई कविता की श्रेणी में रख प्रगतिशील रुझानवाला कवि कहा है। इसलिए उन्हें गैर-प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। कारण उनकी कविता प्रगति की कामना करती है। शोषित, उत्पीड़ित जन के प्रति सहानुभूति और पूँजीपति व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश उनकी कविता में देखने को मिलता है। विशिष्ट वर्ग के पास सर्व सुख-सुविधा, उपभोग, मौज-मस्ती के साधन मौजूद हैं और दूसरा जो वर्ग समाज है वो एक वक्त की रोटी के लिए व्याकुल है। ऐसी विषम समाज-व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की

चुनौती वे देते हैं। 'पूँजीवादियों के पास नफा-नुकसान का अर्थशास्त्र है। इसलिए उन्होंने बड़ी चालाकी से ज्ञान, विज्ञान, कला, सभ्य संस्कृति के क्षेत्र में उच्चता हासिल की और अपना उल्लू सीधा किया। ऐसे लोगों के प्रति घृणा व्यक्त कर कवि कहता है–तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ / तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ। मुक्तिबोध इस विषमता को नष्ट और ध्वस्त होने की आशा व्यक्त करते हैं। वे इस कविता में क्रूरता, अत्याचार, शोषण, उत्पीड़न और सामाजिक व्यवस्था का बिंब उभारते हैं।

मुक्तिबोध समाज की चिंता करनेवाले कवि हैं। उनकी कविता में समाज की कुप्रवृत्तियों, विसंगतियों और खोखलापन का मार्मिक चित्रण है तो दूसरी ओर विद्रूप, विकृत, गलितगात्र समाज व्यवस्था से उबरकर मुक्ति पाने का क्रांतिकारी सुझाव-बोध भी है। आधुनिक सभ्यता के नाम पर पश्चिमी संस्कृति के विश्वसंस्कृति संकट को वे अपनी कविता का विषय बनाते हैं। भारतीय संस्कृति के विनाश का खतरा अंकित करते हैं। पूँजीपतियों द्वारा देशी संस्कृति के किए गए आधुनिक विकृतिकरण को दर्शाते हैं। भारत में विदेशी संस्कृति के प्रभाव को मुक्तिबोध 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में उजागर करते हैं। सड़कों के पिछवाड़े / टूटे-फूटे दृश्यों में / गंदगी के काले से नाले के छाग पर/ पदमस्त कल्पना-सी फैली थी रात। ये पंक्तियाँ संस्कृति के असंगत बोध का उद्घाटन करती हैं। पश्चिमीकृत संस्कृति ने यहाँ आर्थिक विषमता, प्रादेशिकता, सांप्रदायिकता, जातिवाद को बढ़ावा दे देशी संस्कृति पर आघात किया। शंभू सिद्धार्थ ने कहा है, 'प्रेमचंद ने भी आधुनिक सभ्यता पर कड़ा प्रहार किया और इसे 'महाजनी सभ्यता कहा। मुक्तिबोध का काव्य-संसार इसी सभ्यता से जूझता है। इस सभ्यता को वे पूँजी की सभ्यता कहते हैं, जिनकी मूल संस्कृति पैसे की संस्कृति है। वे इसे यूरोपीय-अमेरिकी पश्चिमी सभ्यता भी कहते हैं।'[2] यांत्रिकता, वैरभाव, स्वार्थांधता, भ्रष्टाचार की घुसपैठ पूँजीवादी अर्थकारण से हुई है, ऐसा वे मानते हैं मुक्तिबोध के काव्य में आत्मसंघर्ष की पीड़ा व्यक्त हुई है। यह आत्मसंघर्ष अकेले मुक्तिबोध का न होकर सारे समाज का है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता में वे एक सत्यशोधक व्यक्ति की त्रासदी की अभिव्यक्त करते हैं। ब्रह्मराक्षस प्रमुखत: एक सत्यखोजक प्रेत है। इस कविता में वे व्यक्ति का समाजीकरण करने के पक्षधर हैं। आत्मसंघर्ष को व्यक्त करने हेतु वे फैंटेसी का प्रयोग करते हैं। अभाव, असंतोष, अपयश, अलगाव, उपेक्षा, परायापन, संघर्ष, भागदौड़ सबके मूल में फैंटेसी है। डॉ॰ प्रभा दीक्षित ने लिखा है, 'मुक्तिबोध की संवेदनशीलता तो इतनी व्यापक है कि वे अपने युग का संत्रास, अपने युग के कटुतम यथार्थ को व्यक्तिगत द्वंद्व के रूप में जीते हैं और इस हलाहल को पचाकर हर व्यक्ति की पीड़ा के महाकाव्य को अपने काव्य में उकेरते हैं।'[3] मुक्तिबोध में महाकाव्य-सी असीम पीड़ा जन-जन के लिए भरी हुई है।

मुक्तिबोध की कविता समाज, राजनीति, अर्थकारण, संस्कृति, राष्ट्रीयता सभी पर टिप्पणी करती है। उनके कविता में शोषक भी है और शोषित भी। मुक्तिबोध गाँव-शहर की सभ्यता-असभ्यता, आमजन की वेदना को भावात्मक सूत्रता में पिरोकर अकाल, भूख, दारिद्रय, बेकारी, अस्पृश्यता, नारी की स्थिति के नग्न यथार्थ को बखान कर मानवीय वैश्विक मूल्यों के जरिये नए मनुष्य का निर्माण कर मानव-मुक्ति का रास्ता दिखाते हैं और यही उनका अभीष्ट है। मुक्तिबोध जनधर्मी और समाज के प्रति पूर्णता से प्रतिबद्ध कवि हैं। इस कारण वे शोषण पर अवलंबित समाज-व्यवस्था को ध्वस्त करने का स्वप्न सँजोते हैं। देश को अँधेरे की ओर ले जाने

वाली नीति-परंपरा और व्यवस्था पर उँगली उठाते हैं। समाज-परिवार में परिवारों का बिखरना, नारियों की दुर्दशा, यौन-शोषण को कविता में वाणी देते हैं। सास-बहू, ननद-भावज, जेठानी-देवरानी के झगड़े परिवार को विघटित करते हैं। परिवार में गृहकलह, सास-ससुर द्वारा बहुओं की बार-बार प्रताड़ना से अनेक स्त्रियाँ आत्महत्या करती हैं। इस समस्या को उन्होंने अपनी कविता में उठाया है–गृहकलह से त्रस्त बहुएँ / मुँडेरों से कूदकर आत्महत्या करती हैं। यह एक परिवार की समस्या न होकर सारे समाज की समस्या है।' 'एक अभूतपूर्व विद्रोही का कथन' कविता की पंक्तियाँ–खूबसूरत कमरों में कई बार / हमारी आँखों के सामने। हमारे विद्रोह के बावजूद / बलात्कार किए गए / नक्षीदार कमरों में। कमरा यहाँ शोषण का प्रतीक है। आजादी के बाद भी स्त्रियाँ असुरक्षित हैं। उसके न करने के बावजूद बलात्कार किया जाता है। यह स्त्री-अत्याचार का सिलसिला आज भी बरकरार है। इससे मुक्ति कब मिलेगी? ऐसा प्रश्न वे करते हैं। गर्भावस्था में उसे घर के कामों में खटने का चित्र भी वे कविता में दिखाते हैं। सुरेंद्रप्रताप के अनुसार, 'जब तक शोषण-पाप का परंपरा-क्रम मौजूद है, जिसके लिए सामाजिक व्यवस्था जिम्मेदार है, जब तक उसकी स्थिति है, व्यवस्था है, मुक्ति नहीं मिलेगी।'[4] वे इससे विद्रोह और क्रांति का हथियार उठाने का परामर्श जनता को देते हैं।

मुक्तिबोध ने आजादी के संघर्ष में काम आए लोगों को अँधेरे में खो जाने और जिन्होंने आजादी के दौरान अपने शरीर-धनसंपत्ति पर आँच भी न आने दी, ऐसे मौकापरस्त लोगों के प्रकाश में आने का चित्रण किया है। राजनेता, उद्योगपति, सामंत, जमींदार ये सब स्वतंत्रता के बाद उभरे शोषक हैं। इन्होंने भ्रष्टाचार को अंजाम दिया है। डॉक्टर, अफसर, वकील, मंत्री, नाकेदार, थानेदार के भ्रष्टाचार पर कविता में व्यंग्य करते हैं। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता राजनेता पर व्यंग्य करती है। 'एक अरूप के प्रति' कविता में रिश्वत, भ्रष्टाचार का अंकन है–स्वर्ग के पुल पर / चुंगी के नाकेदार / भ्रष्टाचारी मजिस्ट्रेट / रिश्वतखोर थानेदार। यहाँ सत्ताधारियों द्वारा कर्फ्यू लगाकर दहशत फैलाने का चित्रण उनकी कविता में है। मध्यवर्ग भी भ्रष्टाचार का शिकार हुआ है। ऐसा वे कहते हैं। तीर्थेश्वरसिंह के शब्दों में, 'मुक्तिबोध ने अपनी कविता में भारत की वर्तमान राजनीति और उसकी कार्यवाहियों से उत्पन्न अराजकता, संत्रास, दु:ख और दर्द का काव्यात्मक यथार्थमूलक चित्रण किया है।'[5]

मुक्तिबोध का काव्य मूल्यबोध को अंकित करता है। इसलिए वे शोषण के खिलाफ हैं। न्याय के हिमायती हैं। पर न्याय, स्वतंत्र बाजार की चीज नहीं है। उसे संघर्ष से पाना है ऐसा निश्चय कर वे क्रांति का आवाहन कर कहते हैं–छाती पर चल जाओ / सौ करोड़ एकड़ की/ हेकड़ जमीन पर / निज चेतना मृद कठोर फल लाओ / ऐतिहासिक ट्रैक्टर ओ / परिवर्तन सत्वर हो। परिवर्तन इतिहास का नियम है। इस कारण वे सारे क्षेत्र में परिवर्तन की माँग करते हैं। संघर्ष करने के लिए पुकारते हैं। राजनीतिक, आर्थिक विसंगति, विडंबना का यथार्थ चित्रण करते हैं। उनकी कविता में समाज में स्थित समस्या, अभावों का अँधेरा है और उससे निकलने का प्रकाशरूपी मुक्तिमार्ग और समय-बोध भी है। उनकी कविता में अँधेरा है तो उजाला भी है। अँधेरा-शोषण का प्रतीक है और उजाला मुक्ति और बोध का प्रतीक है। उनका कहना, अँधेरे-उजाले के द्वंद्व से एक भयानक बात मुँह से निकलती है / और हृदय में घोर दुर्घटना / अचानक एक काला स्याह चेहरा प्रकट होता है। उनकी कविता अस्मिता को तलाशती है। व्यासमणि त्रिपाठी

लिखते हैं, 'मुक्तिबोध की कविता में अगर अँधेरा है तो प्रकाश भी है। प्रकाश उनकी कविता का लक्ष्य है। असमानता, असंतोष, विवशता, लाचारी, भूख, भय, शोषण, दु:ख-दारिद्रय के अंधकार को मिटाने हेतु वे नवप्रकाश का नववितान चाहते हैं।'[6] यह नवचेतना ही मुक्ति और बोध का नया आविष्कार है।

मुक्तिबोध में गाँव के प्रति लगाव है। वे गाँव में ज्यादा दिन रहे। इसलिए ग्रामों के प्रति सहानुभूति उनकी कविता में आई है। शहरी सभ्यता पर वे नाराज हैं, परंतु गाँव-शहर में चिरकाल स्थित मानव-समस्या से वे चिंतित हैं। मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में / सभी मानव सुखी, सुंदर व शोषणमुक्त / कब होंगे? यह भावना मुक्तिबोध के काव्य में उभरकर आई है। कृष्णदत्त पालीवाल मुक्तिबोध को गरीब दल के नेता मानते हैं। वे समाज में स्थित गरीबी, दारिद्रय, बेकारी, परिवार विघटन, पूँजीपति ने कामगारों की दुर्दशा आदि समस्याओं का विवेचन कर उससे उवरने का मुक्तिमार्ग कविता के जरिए व्यक्त करते हैं। इलीट वर्ग की सत्ता-संपत्ति, सभ्यता, संस्कृति और व्यवस्था को वे नकारते हैं। उनकी ज्ञानात्मक संवेदना युगचेतना जगाती है। शोषणमुक्त और परिवर्तनकारी समाज उनका लक्ष्य है। उनकी प्रतिबद्धता, उत्पीड़ित, शोषित दलित ही नहीं, बल्कि सब तरह से हाशिए पर स्थित व्यक्ति की मुक्ति की मनोकामना रखती है। उनकी भाषा में करारा व्यंग्य है। उनका विस्तृत काव्य-संसार सदा मानव-मुक्ति और युगबोध की प्रेरणा देता है। सही मायने में अपने नाम की तरह मुक्तिबोध मानव-मुक्ति और सामाजिक युगबोध के कवि हैं।

संदर्भ

1. वेदप्रकाश अमिताभ, समकालीन काव्य की दिशाएँ, पृ॰ 23
2. समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 178, मार्च-अप्रैल 2015, पृ॰ 157
3. डॉ॰ प्रभा दीक्षित, मुक्तिबोध एवं नागार्जुन का काव्य-दर्शन, पृ॰ 138
4. सुरेंद्रप्रताप, मुक्तिबोध : विचारक, कवि और कथाकार, पृ॰ 96
5. डॉ॰ तीर्थेश्वर सिंह, समकालीन हिंदी-कविता की यथार्थवादी चेतना, पृ॰ 126
6. समकालीन भारतीय साहित्य–अंक 178, मार्च-अप्रैल 2015, पृ॰ 148

E-mail : drkrishnakadam11@gmail.com
Mobile. 075588414735

आधुनिक संदर्भ के पक्ष में 'न आने वाला कल' उपन्यास में मानव संबंधों की जीवंत समस्याएँ

डॉ॰ राजकुमार, सहायक प्रवक्ता हिंदी
सिद्धि विनायक शिक्षण महाविद्यालय
काकडौद (जींद)

प्रेम-विवाह और समस्या

शोभा और मनोज के विवाहित जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं। चूँकि शोभा पहले भी विवाहित थी। लभगग 7 वर्ष तक उसका विवाहित जीवन चला होगा और पति की मृत्यु के पश्चात् वह मनोज से विवाह कर लेती है। इस विवाह में शोभा के माता-पिता एवं सुसराल वालों की सहमति नहीं थी, फिर भी शोभा ने सभी के खिलाफ जाकर अपनी इच्छानुसार विवाह किया। कारण स्पष्ट था कि उसने अपने खालीपन, अकेलेपन और जिंदगी की नीरसता को भरने के लिए विवाह किया। शोभा का अपना गृहस्थ जीवन है और मनोज अकेले रहकर बोर हो चुका है। शोभा मनोज के जीवन में आकर नया जीवन लाना चाहती है, परंतु यह प्रयास असफल रहता है। 'अँधेरे बंद कमरे 'उपन्यास' की नीलिमा की तरह मोहन राकेश शोभा को हर बार लंबे भटकाव से नहीं गुजारते। आरंभ में ही शोभा मनोज से कहती है–यहाँ के लोग, यहाँ के रंग-ढंग, सभी बहुत अजीब हैं। मुझे तो लगता है कि मैं इसी तरह यहाँ रहती रही तो जल्दी ही पागल हो जाऊँगी।[1] वातावरण से उसकी असंतुष्टि का मूल कारण मनोज से अंसतोष है। शोभा और मनोज के संबंधों में ठंडापन है, जो एक बार के विवाहित पति-पत्नी में होता है। वे अपने जीवन से सामंजस्य नहीं बिठा पाते। विवाहित जीवन की असफलता को एक-दूसरे पर मँढ़ते हैं और अपने-आपको निर्दोष साबित करना चाहते हैं। शोभा की तरह मनोज के पास उसे देने के लिए कोई घर-बार नहीं था और न ही घर की कोई परिकल्पना थी। शायद शोभा को देने के लिए था तो सिर्फ अपना जीवन। एक हठ के साथ अपनी जगह पैर जमाकर खड़े मनोज के साथ ज़िंदगी कैसे कटती? इसके विपरीत मनोज को लगता है कि शोभा ने दूसरा विवाह इसलिए किया था ताकि वह अपना विवाहित जीवन पहले से अच्छा व्यतीत कर सके। मनोज के मुताबिक अब भी 'क्या शोभा अपने पहले पति के घर में रहकर वहाँ के लोगों से, अपने पिता से और मुझसे अपना पैर जमाकर अपने ढंग से जी सकने का संघर्ष कर रही थी। अब भी 'अपनी-सी' जिंदगी और समझौता न करने का अहम् शोभा और मनोज को दूर ले जाता है। मनोज और शोभा के संबंधों में बढ़ते तनाव का कारण दोनों को प्रतिक्षण अपने को छोटा मानने का स्वभाव भी है। मनोज को तो मानो वह शिष्टाचार वंश साथ देने के लिए कहती है, अपने पूर्व पति के घर जाकर रहने का निश्चय खुद करती है और उस निर्णय की सूचना देने खुद स्कूल में पहुँच जाती है कि मनोज साथ जाएगा नहीं और वह खुद

रुकेगी नहीं, भले ही मनोज साथ जाए या न जाए। इन दोनों के विवाहित जीवन की समस्या का प्रारंभ तब होता है, जब पति-पत्नी दोनों अपने को छला गया मानने लगे, शोभा को लगता है कि उसने स्वयं ही अपनी जिंदगी एक ऐसे आदमी के साथ उलझने दी, जिसके पास उसे देने के लिए कुछ नहीं था। उसे प्रतीत होता है कि उसने मनोज से प्रेम-विवाह करके अपना सब-कुछ खो दिया। शोभा मनोज को कुंठा और हीनता के अलावा कुछ नहीं दे पायी। यह अलग बात है कि मनोज और शोभा के इस प्रकार के संबंधों ने यौनसंबंधों की नीव हिला दी है, दोनों एक साथ लेटे हुए भी अपने अहम् के बंदी बने एक-दूसरे के निमंत्रण की प्रतीक्षा में खो जाते है, वासना की भूख कभी दोनों को अशक्त बना जाती तो उस भूख को मिटाने पर दोनों पहले से ही ज्यादा हताश और निराश दिखाई पड़ते। जैसे 'एक लंबे अनचाहे सफर में किसी अनचाही जगह से अनचाहा खाना खा लेने के बाद अगली सुबह दोनों की आँखें पहले से ज्यादा कसी होती थीं। जैसे कि रात को जो कुछ हुआ, वह अपनी वजह से नहीं, दूसरे की वजह से था।'[2]

शोभा को एक बार 'कॉलिक' का दौरा पड़ा था, पर उसने कर्नल बत्रा की दवा न लेकर अपनी पुरानी दवाओं को लिया। उससे वह स्वस्थ भी हो गई थी। उसका कहना था मुझे अपने जिस्म का पता है, शोभा और मनोज दोनों ही एक-दूसरे को स्वीकार न कर पाने के कारण अभिशापित दांपत्य जीवन की यंत्रणा को भोग रहे थे। परिवर्तन को स्वीकार न कर पाना और नई परिस्थितियों से समझौता न कर पाने के कारण शोभा मनोज में एकस्वरूप स्थापित नहीं हो पाई। परिस्थितियाँ यहाँ तक खड़ी हो जाती हैं कि दोनों गाली-गलौच तक करने लग जाते हैं। अत: दोनों के प्रेम-विवाह के सफलता की चरमसीमा तक जाते-जाते उन्हें जहर का घूँट पीना पड़ता है। चैरी लारा के प्रेम-विवाह के बीच में मिसेज दारूवाला है। इन दोनों के अंतर्गत पति-पत्नी का संबंध हो, भीतर सब-कुछ टूटा-बिखरा हुआ। माली, बाउन, मिसेज ज्यांके की बनाई हुई बेटी है, अपनी बेटी नहीं। इसकी तुलना में बॉनी अपने खुलेपन का औचित्य ठहराना चाहती है और विवाह की प्रचलित संस्था के विषय में प्रश्नचिह्न लगाती है। दो-एक बार अगर वैसी उलझन महसूस हुई है तो मैंने कौशिश से अपने को उससे मुक्त कर लिया है। दोनों अहवादी हैं। अपनी शर्तों पर जीने का तरीका, हावी होने की इच्छा, शादी, अब बनावटी शिष्टाचार, यौन-संबंध आखिर तलाक की ओर बढ़ते हैं। परिणामत: दांपत्य जीवन बँट जाता है।

अनमेल विवाह की समस्या कोहली और शारदा का अनमेल विवाह दोनों की उम्र में अत्यधिक अंतर होने के कारण दु:खमय बन गया है।

विधवा नारी की समस्या पहले पति की मृत्यु के पश्चात् मनोज शोभा के जीवन में प्रवेश करता है। सात वर्ष के वैवाहिक जीवन के पश्चात् मनोज के दांपत्य संबंध तनावग्रस्त थे, उनमें कोई खुशियाँ न थीं। विधवा होने के कारण उसने मनोज से जल्दी शादी कर ली। इस शादी में घरवालों की असहमति थी। फिर भी वह मनचाहा कदम उठाती है। आखिर उन्हें जीवन में कई बार टूटना पड़ता है। इस प्रकार मनोज और शोभा के वैवाहिक जीवन की भी ट्रैजडी है। शोभा अपनी ससुराल जाने का निर्णय लेती है। शोभा के चले जाने के पश्चात् मनोज फिर विचित्र अकेलेपन से गुजरता है। शोभा मनोज के साथ जिस खालीपन को भरना चाहती थी, वह कम होने के बजाय बढ़ता जाता है और वह सोचती है कि जैसे मनोज से विवाह कर शेष हर चीज से वंचित हो गई है। इस प्रकार इन दोनों के संबंध एक प्रकार से विचित्र हैं। इसलिए तो मोहन

राकेश ने शोभा-मनोज के संबंधों को पूर्ण विराम कहा है। शोभा उपन्यास में पीछे अवचेतन रूप में मौजूद है। 'सड़क खंड' में शोभा का पत्र आता है, जिसमें शोभा अपने-आपको खोलती है। मैं यहाँ से न गई होती, मैं तुमसे मिली होती तो जिस दु:ख में जिंदगी कट रही थी, वह दु:ख मन-ही-मन बना रहता है, पर अब तो जीने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है। न साधन, न मान, न संबंध, तुम्हारे साथ अपने को छोड़कर मैंने हर चीज से अपने आपको वंचित कर लिया है। शोभा मनोज को स्वार्थी, दंभी, हठीला आदमी कहती है। वह पुरुष के अहम् पर सीधी चोट करती है। अपना दु:ख-दर्द बर्दाशत करती हुई वह इसी पत्र में स्पष्ट करती है। मुझे घर की जिंदगी के बगैर अपने-आप बहुत अधूरा लगता है। इसलिए मैंने निश्चय के साथ यह कदम (दूसरा विवाह) उठाया था, मगर मुझे देने के लिए तुम्हारे पास घर नहीं था। प्राय: मोहन राकेश के पात्र घर की तलाश में घूमते रहते हैं। अपनी कोई निश्चित दिशा, मंजिल नहीं होती। शोभा ने दूसरा विवाह किया.. ..अकेलेपन को तोड़ने के लिए, परंतु सफलता नहीं मिली। मनोज को पत्र लिखती है। क्या तुम वही आदमी नहीं हो, जिसने मेरे लिए जीने का कोई मतलब नहीं रहने दिया। विचार कितना बड़ा व्यंग्य है कि ऐसे आदमी से अपने को अलग कर सुखी होने की जगह मैं रात-दिन एक छटपटाहट महसूस करती हूँ। उसका पत्र न आने से निश्चित न होकर खुद उसे फिर से पत्र लिखने के लिए मजबूर पाती हूँ। 'दरवाजे खंड' में फिर शोभा परोक्ष स्थिति में उपस्थित रहती है। जब त्यागपत्र देकर मनोज घर का सारा सामान बाँध रहा था कि शोभा स्मृति में पुन: लौटती है। शोभा को उस मौसी से कोई लगाव नहीं था, जिससे राकेश बहुत आदर करता था। इसके विपरीत शोभा जिस दिन खुश रहती थी या ज्यादा परेशान होती थी, उस दिन भी कुछ खरीद लाती थी। इसमें लेखक ने मध्यवर्गीय मानसिक तनाव का संकेत दिया है।

विवाहित दांपत्य संबंध टूट-टूटकर पुन: गठन की व्यथा-कथा

'न आने वाला कल' उपन्यास में अधिकांश पात्र विवाहित और प्राय: पति और पत्नी संबंध किसी-न-किसी रूप में स्कूली जिंदगी से जुड़े हैं। मुख्य रूप से विवाहित पात्र मनोज एवं शोभा पार्कर, चेरी एवं लारा, ठिहरलर एवं जेनी, कोहली और शारदा, जिन्नी एवं रोज के विवाहित संबंधों को रेखांकित किया गया है। शोभा मनोज के जीवन में आने से पहले विवाहिता थी और सात वर्ष तक विवाहित जीवन बिता चुकी थी। शोभा और मनोज दांपत्य जीवन की यंत्रणा को भोग रहे थे। शोभा का व्यवहार मनोज पर हावी होने लगता है। शोभा यह समझकर चलती है कि अच्छी जिंदगी जीने के लिए जो कुछ चाहिए, उसका ज्ञान उसके अलावा कुछ नहीं। मनोज भी अकेला रहने के कारण जिंदगी में कई चीजों की पहचान भूल गया। दोनों की रुचियों में विभिन्नता के कारण तनाव बढ़ने लगा और विवाहित जीवन की असफलता का दोष एक-दूसरे पर डालकर वे अपने-आपको निर्दोष साबित करने लगे। इसके विपरीत मनोज को लगता है कि शोभा ने दूसरी शादी इसलिए की थी कि अब से भी अच्छी जिंदगी जी सके और यह सुविधा उसके साथ रहकर न मिली तो वह छिटककर दूर जाने लगी। इसी उपन्यास में कई दांपत्य संबंध भोगते पात्र स्कूल में हैं। चैरी की प्रेमिका मिसेज दारूवाला का किस्सा भी मौजूद है। वह अपनी पत्नी के होते हुए भी दूसरी स्त्री के साथ अभद्र व्यवहार करना है, यह कहाँ तक उचित समझा जाएगा। इसके विपरीत चैरी चाहता है कि उसकी पत्नी मायके चली जाए, परंतु लैरी जानती है कि 'यह मुझे यहाँ से भेजकर मुझसे छुट्टी पाना चाहता है।[3] 'न आने वाला कल' उपन्यास में उसी प्रकार हैडमास्टर

टॉनी व्हिस्लर नपुंसक है। दोनों के ही जीवन में एक उदासीपन है। वे दोनों चाहकर भी एक-दूसरे से अलग होने से डरते है। चूँकि समाज क्या कहेगा? उसी प्रकार पार्कर और मिलेज भी विवाहित पति-पत्नी हैं। विवाह में उम्र का अंतर होने के कारण कोहली और शारदा का विवाह भी अनमेल और दु:खी-सा दिखाई पड़ता है। कोहली जहाँ शारदा को लेकर घरेलू नौकर भूपतसिंह पर सशंकित है। यहाँ से दांपत्य जीवन में दरार पड़ती है। एक तो अनमेल विवाह दूसरी तरफ से शारदा को मारना-पीटना और आक्रामक स्वरूप अपना दांपत्य को तोड़ रहा है। जिमी और रोज ब्राईट के संबंधों में तनाव के अनेक कारण हैं। शायद वे अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ भी हो सकती हैं। अपना सम्मान, स्कूल का सम्मान, रुपया पैसा, योजनाएँ सही कदम और इन सबके बीच अभिनय जिमी का मशीनरी व्यवहार ऐसा है कि कोई उसके साथ पचास बार हँसकर भी अपनापन स्थापित नही कर सकता।

अलगाव की त्रासदी

'न आने वाला कल' उपन्यास में सिर्फ प्रेमी युग्म से जुड़े हुए कई पात्र टूटकर जुड़ जाने की चाह में लगे हैं, जिसमें मनोज एवं बॉनीहाल, पार्कर एवं दारूवाला, काशनी आदि। इस उपन्यास में पुरुष एवं स्त्रियाँ समान रूप से विवाह-पूर्व एवं दांपत्येतर संबंधों में तनावग्रस्त हैं। किसी का भी प्यार गहरा नहीं है और सब-के-सब क्षणिक सुख की तलाश में हैं। एक भी प्रेम-संबंध सुखी दांपत्य में नहीं बदल पाता। मनोज एवं बॉनीहाल का प्रेम-संबंध विचित्र प्रकार का है। इसलिए कि दोनों मूलत: यौनाकर्षण के तलबगार हैं। मनोज यौन शरीर की भूख के प्रति उत्सुक है तो बॉनी किसी एक पुरुष की चाह रखती है, जो उसके मन को समझ सके। शारीरिक नैतिकता के प्रति उसके मन में कभी भी कुंठा नहीं रही है। प्यार करते समय आदमी को चिढ़ाना और मुखौटा हटाकर उसका असली चेहरा देखने का उसका शौक सदैव स्थूल के हर पुरुषों की जिंदगी में ले जाता है और उसकी बदनामी का कारण भी बनता है। बॉनीहाल जानती है कि मनोज उसके पास क्यों आया। उसके शब्दों में, ...मेरी दिलचस्पी एक और आदमी के अंदरूनी व्यवहार को देखने में है और तुम्हारी...एक और लड़की के साथ रात-भर गुजार लेने में है।[4]

पार्कर एवं दारूवाला का संबंध भी यौनाकर्षण के लिए ही है। इसमें प्रेम का कोई स्थान नहीं है। पार्कर के विवाहित होने के कारण दारूवाला के संबंध आँखमिचौली तक स्थिर रूप से संतुष्टि का प्रयास है। उसी प्रकार काशनी और मनोज में मात्र शरीर का आर्कषण है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'न आने वाला कल' उपन्यास स्त्री-पुरुष संबंधों की गहराई से खोज करता है और इन संबंधों में तनाव और टूटने के कारणों पर प्रकाश डालता है। सूक्ष्म मनोविश्लेषण अधिकतर है तथा स्थूल घटनाएँ इसमें बहुत कम मात्रा में हैं। अलगाव की त्रासदी 'न आने वाला कल' उपन्यास में टूटने की व्यथा है, अधिक मुखर हुई है।

संदर्भ

1. न आने वाला कल, मोहन राकेश, पृ॰ 180
2. वही, पृ॰161
3. वही, पृ॰ 127
4. वही, पृ॰ 160

भौंगरा (जींद), हरियाणा
मो॰ 09728902191

भूषण के काव्य में इतिहास-बोध

डॉ॰ राजकुमार, सहायक प्रवक्ता हिंदी
सिद्धि विनायक शिक्षण महाविद्यालय
काकडौद (जींद)

काव्य में प्राप्त इतिहास-वृत्त

भूषण के काव्य में जो इतिहास मिलता है, वह काल क्रमबद्ध नहीं है। छत्रपति शिवाजी, छत्रसाल बुंदेला, छत्रसाल हाड़ा, औरंगजेब, शाहू एवं अन्य राजाओं से संबंधित ऐतिहासिक वृत्तों का यत्र-तत्र उल्लेख काव्य में हुआ है। शिवराजभूषण, जो भूषण की एकमात्र प्रामाणिक रचना है, छत्रपति शिवाजी से संबंधित काव्य है। छत्रपति शिवाजी भूषण के काव्य के नायक हैं। अत: प्रथम उन्हीं के जीवन और उनसे संबंधित ऐतिहासिक घटनाओं का जैसे अफजलखान वध, शाईस्तखाँ की दुर्दशा, सूरत की लूट, शिवाजी की औरंगजेब से भेंट, लोहगढ़ सिंहगढ़ की विजय, साल्हेर का युद्ध एवं पन्हावे की विजय का काव्य में प्राप्त वृत्त देते हुए साथ-साथ ऐतिहासिक ग्रंथों के आधार पर उनकी प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। इन प्रमुख घटनाओं के अतिरिक्त अन्य कुछ स्फुट उल्लिखित घटनाओं को भी ऐतिहासिक आधार दिया गया है। इसके साथ-साथ औरंगजेब, छत्रसाल बुंदेला, छत्रसाल हाड़ा, शाहू एवं अन्य राज-राजाओं से संबंधित ऐतिहासिक घटनाओं का काव्य में प्राप्त वृत्त देते हुए उनकी प्रामाणिकता की भी परीक्षा की गई है।

शिवाजी और उनसे संबंधित घटनाएँ वि॰का॰ राजवाड़े, गोबिंद सखाराम सर देसाई, ग्रांट डफ, गणेशहरि खरे, दत्तोवामन पोतदार, शंकरनारायण जोशी, स॰म॰ दिवेकर आदि अनेक लेखकों ने शिवाजी के इतिहास पर शोधपूर्ण कार्य किया है। इन ऐतिहासिक ग्रंथों के अतिरिक्त प्रामाणिक कवियों के काव्य भी प्राप्त हुए हैं। अत: इतिहास के इस भाग को मूल ग्रंथों में भी देखना आवश्यक हो जाता है। भूषण का काव्य ऐतिहासिक दृष्टि से भी मूल प्रामाणिक ग्रंथों में माना जाना चाहिए।

शिवाजी के पूर्वज

सूर्यवंश में एक वीर का जन्म हुआ जिसने अपना सिर देकर सिसोदिया की उपाधि प्राप्त की। उसी कुल में अनेक राजा हुए, जिन्होंने बड़ा नाम पाया।

ऐतिहासिक विवेचन

मालोजी निजामशाही दरबार में रहते थे। उनका कार्यकाल 1577 ई॰ से 1607 ई॰ तक माना जा सकता है।[1] श्री दि॰वि॰ काले ने छत्रपति शिवाजी की वंशावली दी है।[2] बालाजी मालोजीबिठोजी पत्नी उमा निवालकर शाह जी शरीफजी दो पत्नियाँ 1. जीजाबाई, 2. तुकाबाई मोहिते व्यंकोजी शंभा जी छत्रपति शिवाजी शंभाजी राजाराम, 3. गोविंद संसाराम सरदेसाई ने शिवाजी की वंश-परंपरा के संबंध में लिखा है[3] 'महाराष्ट्र की परंपरानुसार बहुत पहले यह माना

जा चुका है कि शिवाजी का जन्म चितौड़ के सूर्यवंशी सिसौदिया कुल में हुआ था। सभासद बखर ने भी शिवाजी के राजपूत सिसौदिया होने का उल्लेख किया है।[4] शिवाजी के कुल को भौंसला कुल भी कहा गया है।[5] काव्य में वर्णित तथ्य इतिहास के अनुकूल है। कवि ने सिसौदिया का वर्णन अपने ढंग से किया है।[6]

अफजलखान-वध

बीजापुर के बादशाह (आदिलशाही) ने शिवाजी का दमन करने के लिए अफजलखान को भेजा। बड़ा धूर्त था। वह अपने साथ बारह हजार सेना जावली के पास 'पार' गाँव आया। यह स्थान प्रतापगढ़ के तल के समीप था। यहाँ पर दोनों दल मिले। जावली के जंगल में शिवाजी के स्थान पर अफजल खाँ को भेजकर वास्तव में आदिलशाही राजा ने अपनी मूर्खता का परिचय दिया। अफजल धोखा देना चाहता है। यह बात शिवाजी की समझ में तत्काल आ गई। निश्शंक होकर वे उससे मिलने गए। अफजल खाँ ने तत्परता से कटारी निकाली और शिवाजी ने बड़ी तत्परता से बीछू कर उस पर ऐसे सवार हो गए मानो सिंह हाथी पर सवार हो। याकूत खाँ और अंकुश खाँ जान बचाकर भागे।[7] ऐतिहासिक विवेचन के संदर्भ में अफलज खान-वध 10 नवंबर 1656 ई॰ को हुआ। सुल्तान के सामने उसने बीड़ा उठाया कि 'मैं घोड़े पर बैठे-बैठे ही शिवाजी को हराकर बाँध लाऊँगा। अफजल खाँ उचित-अनुचित सभी उपायों से शिवाजी को पकड़ने के लिए निकला। पहले वह महाराष्ट्र के बड़े तीर्थक्षेत्र पड़लपुर आया। भूषण द्वारा दिए गए तथ्य इतिहास के अनुकूल हैं। भूषण ने लिखा है–

सिंहचरी जाने बिन जावली जंगल भटी, हठी गज ऐदिलु पठाय करि भटक्यौ।
भूषण बनत देखि भम्भर भगाने सब, हिम्मति हिए में धरि काहूवै न हटक्यौ।[8]

शाईस्त खाँ की दुर्दशा

औरंगजेब ने जसवंतसिंह (जोधपुर के महाराजा) और शाईस्त खाँ दोनों को मराठों के विरुद्ध दक्षिण भेजा। शाईस्त खाँ ने दक्षिण पर अपना अधिकार कर लिया और तलवारों का बल दूना कर पहले से दुगुनी सेना के साथ पूने में रहने लगा। जिस दिन शिवाजी ने शाईस्त खाँ के डेरे पर आक्रमण किया, उस दिन सभी रागरंग में मस्त होकर सुख की नींद सो रहे थे। शिवाजी ने शाईस्त खाँ के मुसाहिब तथा चौकीदारों को खत्म कर बड़ा भारी महाभारत मचाकर अपना यश फैलाया। औरंगजेब ने शाईस्त खाँ को बड़ी उम्मीद से दक्षिण भेजा था, परंतु उसने वहाँ जाकर कुछ नहीं किया। उल्टा अपने पुत्र अब्दुल फेतखाँ के साथ-साथ अपना हाथ भी गँवा दिया। ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से पहरेदारों ने यह कहा है कि 'हम बादशाह की दक्षिण फौज के आदमी हैं, अपने स्थान में ठहरने जाते हैं।'

सूरत की लूट

शिवाजी ने सूरत नगर को जलाया और उसे लूटकर बादशाह औरंगजेब के हृदय में दाह उत्पन्न किया। दिल्ली की सेना उसके आगे कुछ नहीं कर सकी। निर्भय होकर उन्होंने नगर लूटा और मुगल सेना को डंके की चोट से भगा दिया। वह सेना डरकर भड़ौंच की ओर भाग गई। औरंगजेब इससे इतना आतंकित हो गया कि वह सूरत शहर को रात-दिन औरंगजेब की सेना से

घिरे हुए रूप में देखने लगा।[10] सूरत की लूट का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। उन्होंने प्रथम बार सन् 1664 ई॰ में की। दूसरी बार की लूट 1670 ई॰ को हुई। प्रथम लूट में 15 लाख एवं अधिक-से-अधिक 1 करोड़ की लूट की गई होगी, ऐसा अनुमान है कि दूसरी लूट में उन्हें 66 लाख मिला।[11] इस आतंक का वर्णन भूषण ने बड़े यथार्थ रूप में किया है और वह इतिहास के अनुकूल है। भूषण की पंक्तियाँ इस प्रकार है–

साहितनै सिव साहि भई मनि भूषण यौं तुव धाक धनेरी।
राति हूँ घौस दिलीस्वर के तुव सैन की सूरति धेरी।[12]

शिवाजी की औरंगजेब से भेंट

शिवाजी से जिस दिन औरंगजेब ने भेंट की, उस दिन वह उत्सव होने के कारण जुलूस बनाकर अमीर उमरावों के साथ दरबार में बैठा हुआ था। उस समय बादशाह ने शाही दरबार के नियमानुसार कई गुर्जबरदारों को बड़ी सावधानी के साथ खड़ा करवाया। जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह को बुलाकर अपने पास रखा और अन्य बहुत से सरदार जिन पर विश्वास था, उन्हें भी निकट रखा। औरंगजेब को डर था कि कहीं शिवाजी सिंह की भाँति अचानक झपट न पड़ें? हथियारों की नाहीं करके और अपने सरदारों की कतार बाँधकर डरते-डरते गुसलखाने के पास उसने शिवाजी से भेंट की। शिवाजी इस शान को देखकर जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि उन्हें छ:हजारी मनसबदारों के निकट पंचहजारी मनसबदारों में खड़ा किया गया है। उन्होंने सलाम नहीं किया। रामसिंह ने बहुत समझाया, पर वे न माने। औरंगजेब ने रोष प्रकट किया और शत्रु हाथ आया जानकर बहुत प्रसन्न हुआ, पर उस समय भी शिवाजी के मूँछों में ताव थी। अमीर उमरावों ने और स्वयं रामसिंह ने उनकी खुशामद की, किंतु वे नहीं माने। उस दिन इस्लाम को गुसलखाने ने बचा लिया। यही भला था कि उनकी कमर की कटारी उन्हें नहीं दी गई थी। शाही कायदे के अनुसार यह रखवा ली गई थी। शिवाजी के हाथ में इस समय कोई दूसरा हथियार भी नहीं था। यह भी अच्छा ही रहा अन्यथा बड़ा अनर्थ होता।[13] भूषण ने दिल्ली का उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया–

हष्टाति चल्यों चकतै सुख देन की गोसलखाने गएं दुख दीनों।
जाय दिल्ली-दरगाह सलाह की साहू को बैर बिसाहिके लीनौ। [14]

भूषण ने शिवाजी और औरंगजेब की भेंट 'गोसलखाने' में हुई, ऐसा लिखा है। यह ऐतिहासिक तथ्य है। श्री दि॰वि॰ काले ने लिखा है–'किंतु इतने में दीवाने-आम की औपचारिक दरबारी बैठक को पूर्ण कर औरंगजेब चुने हुए लोगों के साथ परामर्श करने के लिए नियुक्त स्थान मंत्रागार में अर्थात् गुसलखाने में प्रविष्ट हुआ।[15] 'नौ सवारा सेवौजी श्री महाराज कवारजी की ही हजुरी आयौ वोरै ही महादेव जी की करी श्री महादेव जी उपराया तीडतारी कौल बोल कीयै पाछी श्री महाराज कवार जी जमानतगी कौषत लीषाई नीमा साम की गुसलषानौ महमद अमीषा नौ दीयौ तब महमद अमीषां करी। आदि-आदि। [16] इस पत्र के अंत में तिथि दी गई है–मीती जेठ बदी तां 22 मा॰ जीलकाद सन् 2006 मुकाम आगरा।[17] यहाँ इस पत्र का उल्लेख इसलिए किया गया है कि इस पत्र में गुसलखाने शब्द का प्रयोग किया गया है और वह भी मंत्रागार के अर्थ में प्रयुक्त है। औरंगजेब की भेंट इसी मंत्रागार में शिवाजी से हुई थी। भूषण का कथन ऐतिहासिक दृष्टि से

प्रमाणित होता है। यदुनाथ सरकार ने भूषण के निम्नलिखित कवित्त के आधार पर ही यह बात कही है। कवित्त इस प्रकार है–

जसन के रोज यौं जलूस गहि बैठी जोडब।
इंद्र आवै सोउ लागै औरंब की परजा।[18]

भरे दरबार में योजनानुसार पिता और पुत्र (शिवाजी तथा शंभा जी) को असंदखान ने बादशाह के सामने प्रस्तुत किया। शिवाजी का अपेक्षानुसार स्वागत नहीं हुआ। शिवाजी एवं शंभा जी दोनों ने कायदे के अनुसार नजराणा प्रस्तुत किया, साथ ही न्योछावर भी दिया। किंतु बादशाह ने एक शब्द भी नहीं कहा। शिवाजी को तख्त के पास से हटाकर सामान्य सरदारों की कतार में, पंचहजारी मनसबदारों के बीच खड़ा कर दिया गया। शिवाजी को भी सिरोपाव नहीं दिया गया। बादशाह ने शिवाजी का अपमान किया। शिवाजी की आँखें क्रोध में चमक आईं। तब कहीं से मुड़कर बादशाह की तरफ पीठ कर शिवाजी चल पड़े। रामसिंह ने शिवाजी का हाथ पकड़ा, परंतु शिवाजी ने अपना हाथ छुड़वा लिया और एक ओर जाकर बैठ गए। भूषण ने इस समय शिवाजी की क्रोधमय दशा का मार्मिक अंकन किया है–

सबन के उपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग, ताहि खरो किये छ-हजारिन के नियरे।
जानि गैरमिसिल मुसीले गुसा धारि मन, कीन्हों ना सलाम न वचन बोले सियरे।
भूषण भनत महावीर बलकन लाग्यौ, साही पातसाही के उड़ान गए जियरे।
तमक तें लाल-मुख सिवा को निरखि भए, स्याहमुख नौरंग सिपाह-मुख पियरे।[19]

सभासद बखर ने लिखा है–'औरंगजेब ने शिवाजी से मिलने से पूर्व अपने पास पाँच हथियार रखे, जरी का कुर्त्ता पहना, साथ ही अपने तख्त के पास दो हजार विश्वसनीय व्यक्ति खड़े किए। मन में यह भाव था कि 'शिवाजी शैतान है, साधारण व्यक्ति नहीं, अफजल खान को भेंट में मार दिया। इस तरह तख़्त पर दौड़ा सकता है।' जसवंत सिंह को ऊँचे आसन पर देखकर शिवाजी ने कटार माँगी, किंतु रामसिंह ने नहीं दी।[20] भूषण ने इसी प्रकार लिखा है–

पंचहजारिन बीच खड़ा किया मैं उसका कुछ भेद न पाया।
भूषण यौं कहि औरंगजेब उजीरन सौं बेहिसाब रिसाया।[21]

कैद से छुटकारा

बात बिगड़ जाने पर भी शिवाजी आगरे के पहरेदारों से रक्षित सातों चौकियों को लाँघकर घर आ गए। दिन दहाड़े लाखों पहरेदारों के बीच से वे निकल आए। औरंगजेब ने अमीर उमरावों से कहकर बड़ा पहरा लगवाया था। इस पर भी शिवाजी मेवों की कॉवर में बैठकर निकल आए और भेष बदलकर अपने स्थान पर किसी तरह पहुँच गए।[22]

लोहगढ़ और सिंहगढ़ की विजय

गौड़ क्षत्रियों और राठौड़ों ने हिम्मत और हर्ष से जिन लोहगढ़ किलों को ले लिया था और जिन किलों के कंगूरों पर गोलंदाज और तीरंदाज थे, उन्हीं को शिवाजी ने निश्शंक होकर जीत लिया।[23]

सिंहगढ़ किला

इस किले के विजय की कथा प्रसिद्ध है। इसी किले के लिए तानाजी मालुसरे ने अपना प्राण तक त्याग दिया था। शिवाजी की ओर उनकी माता जीजाबाई को यह बुरा लगा कि मुगलों

को[23] किले देने पड़े। इस सिंहगढ़ को फिर से प्राप्त करने के लिए ताना जी मालुसरे को भेजा गया। तानाजी तीन सौ मावलों के साथ रस्सी की सीढ़ी बनाकर रात में किले पर चढ़ गए। उदयभान और उसके राजपूत सिपाही किले की रक्षा कर रहे हैं।

संदर्भ

1. भूषण, पं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छं॰सं॰ 4,5,6,7,8,9 और 10
2. छत्रपति शिवाजी, श्री दि॰वि॰ काले, पृ॰ 8
3. छत्रपति शिवाजी, दि॰वि॰ काले, पृ॰ 8
4. मराठों का इतिहास, गोविंद सखाराम, पृ॰ 58
5. सभासद बखर, सं॰ वि॰स॰ वाकसकर, पृ॰ 36
6. शिव चरित्र निबंधावली में प्रथम निबंध 'भोसल्य का उदय' देखिए पृ॰ 1 से 12 तक
7. भूषण, पं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद सं॰ 57
8. शिव भारत, (परमानंद कविकृत) सं॰ स॰ दिवेकर अभ्यास 22 से 217
9. भूषण, पं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद सं॰ 34, 72, 94, 156, 174
10. शिवाजी, युदनाथ सरकार, पृ॰ 42 से 48 तक
11. छत्रपति शिवाजी, श्री दि॰ वि॰ काले, पृ॰ 110 से 114 तक (प्रथम लूट) एवं 116 से 170 तक (दूसरी लूट)
12. भूषण, पं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद सं॰ 312
13. भूषण, पं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद सं॰ 33, 169, 179, 186, 191, 242, 292, 349, 382
14. भूषण, पं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद सं॰ 186
15. छत्रपति शिवाजी, श्री दि॰ वि॰ काले, पृ॰ 140 मूल पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–'पण इतक्यांत दिवाण-इ-आम मंथीला मीठा औपचारिक समार भी द्वारा आंरो पूर्ण औरंगजेब
16. जयपुर के तत्कालीन पत्र के आधार पर इस पत्र की प्रामाणिक प्रतिलिपि भारत इतिहास-संशोधक मंडल, पूना में देखने को मिली।
17. वही, पत्र
18. शिवाजी, यदुनाथ सरकार, पृ॰ 73
19. भूषण पं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद सं॰ 443
20. सभासर बखर, सं॰ वाकसकर, पृ॰ 44
21. भूषण, पं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद सं॰ 191
22. वही छंद सं॰ 74, 135, 179, 476
23. भूषण पं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद सं॰ 501

भौंगरा (जींद), हरियाणा
मो॰ 09728902191

परंपराओं और मान्यताओं का वहन करती चंद्रकांता की आत्मकथा 'हाशिए की इबारतें'

प्रोफेसर (डॉ॰) सुधा जितेंद्र
अध्यक्ष हिंदी विभाग
गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर (पंजाब)
रिचा नांगला, शोध-छात्रा

परंपराओं और मान्यताओं का वहन करती चंद्रकांता की आत्मकथा 'हाशिए की इबारतें' हिंदी साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती है। चंद्रकांता हिंदी साहित्य की ऐसी लेखिका हैं, जो क्रांतिकारी विचार रखती हैं। चंद्रकांता का लेखन बहुआयामी तथा विविधतापूर्ण है। लेखिका ने अपनी आत्मकथा में एक ओर स्त्री की अस्मिता, त्रासद जीवन एवं संघर्ष को प्रस्तुत किया है, वहीं सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, मूल्यविघटन, रिश्तों में टूटन, भौतिकतावाद, विदेशों में रहने की लालसा इत्यादि संदर्भों को भी उठाया है। चंद्रकांता जी कश्मीर से संबंध रखती हैं और वहीं उन्होंने अपना बचपन एवं युवावस्था गुजारी है। कश्मीर में हो रहे कबाईली हमले और आतंकवाद के अत्याचारों को भी झेला है। ऐसे तनावपूर्ण माहौल में रहकर लेखिका ने पढ़ाई पूरी करने के साथ-साथ सृजनात्मक कार्य भी किया। चंद्रकांता जी ने कश्मीर के त्रासद, भयभीत और बर्बाद हो रहे जीवन की झलक प्रस्तुत की है। कश्मीर की मुश्किलों का वर्णन करते हुए लेखिका ने कश्मीर की संस्कृति का भी खूब वर्णन किया है।

डॉ॰ बालशौरि रेड्डी के अनुसार चंद्रकांता जी 'कश्मीर को सांस्कृतिक एवं आंचलिक रंगों के साथ हिंदी साहित्य में दर्ज करने वाली प्रथम लेखिका।'[1] हैं। चंद्रकांता ने अपने उपन्यासों और कहानियों में कश्मीर और पंजाब जैसे राज्यों में व्याप्त आंतकवाद और तनावपूर्ण स्थितियों के मुद्दों को उठाया है। 'चंद्रकांता जी ने अपनी अधिकांश कहानियों में ऐसा ही किया है। उनकी कहानियों के सच के अलग-अलग चेहरे हैं। प्यार और भाईचारे की बेमिसाल धरती कश्मीर और पंजाब का लहूलुहान चेहरा वितस्ता में फैला हुआ बर्फ से ढकी चोटियाँ।'[2]

लेखिका का जन्म कश्मीर में हुआ है, इसीलिए उनके लेखन में जम्मू-कश्मीर की छाप दिखाई देती है। लेखिका ने बढ़ रही उपभोक्तावादी स्थिति पर भी प्रहार किया है। धन को लेकर बढ़ रही मानव की लालसा और इसके साथ ही बढ़ रही मानवीय मुश्किलों का बखूबी वर्णन किया है। चंद्रकांता जी प्रगतिशील विचारोंवाली महिला हैं, इसीलिए वह सभी रूढ़ियों का विरोध करती हैं।

चंद्रकांता जी ने अपनी आत्मकथा 'हाशिए की इबारतें' के माध्यम से अपने बचपन से लेकर आज तक की जीवन-यात्रा को प्रस्तुत किया है, साथ ही स्त्री की त्रासद स्थिति, जोकि

पढ़-लिख जाने पर भी आज तक नहीं बदली है, और सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं को उभारा है। चंद्रकांता जी के जन्म के कुछ वर्षों पश्चात् उनकी माता गुजर जाती हैं। पिता प्रो॰ रामचंद्र पंडित उनका पालन-पोषण करते हैं। लेखिका को माँ की कमी खलती है और वह सास के नेतृत्व में अपनी युवावस्था में पैर रखती हैं।

सामाजिक बंधन

हमारे समाज में बहुत कड़े सामाजिक बंधन हैं, जोकि खासकर औरतों के लिए ही हैं। रूढ़िगत परंपराओं, रीति-रिवाजों, कड़े सामाजिक बंधनों, सांस्कृतिक नियमों और रूढ़ियों को लेखिका को सहन करना पड़ा है। इनका विस्तार से वर्णन उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया है। भारत देश में पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, स्त्री के लिए कड़े सामाजिक बंधन जैसी कुरीतियाँ न थीं। विदेशियों के भारत में आने पर ऐसी कुप्रथाओं का चलन हुआ। 'वैदिककाल में युवक-युवतियों के विवाह परिपक्व आयु में होते थे। युवक-युवतियों को अपना जीवन-संगी चुनने की काफी स्वतंत्रता थी। परवर्ती युगों की भाँति उस समय विधवा के लिए सती हो जाने का विधान नहीं था। वैदिकयुग में स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह ही ऊँची शिक्षा प्राप्त करती थीं। परिवार में स्त्रियों की प्रतिष्ठा थी।'[3] किंतु बाद में स्त्री की स्थिति में परिवर्तन आया। भारत में विदेशियों के आने के साथ-साथ बहू-बेटियों की इज्जत को बचाने के लिए ऐसी कुप्रथाएँ, कुरीतियाँ, सामाजिक बंधन चल पड़े, जिसमें स्त्री बंदी बनकर रह गई। 'विदेशी आक्रमणों के कारण भारत में जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसमें स्त्रियों के लिए स्वतंत्र रूप से जीवन बिता सकना संभव नहीं था। यवन, शक, कुशाण, हूण आदि जातियों ने भारत में आकर इस देश के धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति को अपना लिया था, जबकि तुर्क-अफगानों ने भारत के बड़े भाग को जीत लिया। कहा गया है स्त्री बिना कहे घर से बाहर न जाए और चादर ओढ़े बिना कहीं न जा सके, वणिक्, संन्यासी तथा वृद्ध वैद्य के अतिरिक्त किसी पुरुष से बात न करे, एड़ी तक कपड़ा पहने, मुँह को ढके बिना हँसे नहीं और दु:शील स्त्रियों से कभी संपर्क न करे।'[4]

इस प्रकार स्त्री के लिए विदेशियों के आने पर जो नियम उनकी सुरक्षा के लिए बनाए गए, समय के साथ-साथ सुरक्षा के लिए बने वही नियम उनके लिए बंधन बन गए, जिनका वहन स्त्रियों को आज तक करना पड़ रहा है। लेखिका भी इस रूढ़िगत परंपरा को ढोती है, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया है।

औरतों को बंधनों की जेल में कैद करके रखा जाता है। बहू-बेटियों को यही सिखाया-समझाया जाता है कि चाहे कितने भी अत्याचार क्यों न हों, चुपचाप सहन करने हैं। उन्हें इतने कड़े बंधनों में रखा जाता है कि वह गुलामों-सा जीवन व्यतीत करती हैं। विवाह के समय लेखिका और उसकी बड़ी बहन दोनों को ससुराल में ससुराल के कायदे-कानून में रहने और उन्हें हर प्रकार के बंधनों को स्वीकार करने की सीख दी जाती है। 'विदा वेला में रिश्तों की बहनों, भाभियों, चाचियों ने मुझे और दिद्दी को सजाते, कुछ सनातन सीख-सिखौवलें हमारे आँचलों में बाँध दीं। चाची जी ने खासकर मुझे सुनाते कहा कि, 'सास जी की आँख-में-आँख डालकर बात नहीं करना, पुरुषों से तो बात करने का सवाल ही नहीं, सास जी जो कहें, सुनना। बिना जिरह किए करना। उल्टी-सीधी बातें सुनने वाली नहीं है वह।'[5]

आज भी बेटियों के लिए सामाजिक बंधन ढीले नहीं पड़े हैं। लेखिका ऐसे माहौल से ही गुजरती है, जहाँ समाज में नारी को बंधनों में ही रहना होता है। 'हमारी सास जी व उनकी हमउम्र महिलाओं को यकीन था कि चाहे जमाना कितना भी बदले, लड़कियों की किस्मत में कुछ अमिट लेख लिखे गए हैं, जिन्हें उन्हें ताउम्र निभाना ही निभाना है। बहू बनकर तो मुँह खोलना मना ही था। शादी तो उम्र भर की गुलामी थी। इस सनानत सच को कौन बदल सका था?'[6] हमारे समाज में बहू-बेटियों का पुरुषों से बातचीत करना वर्जित है। पुरुषों से बातचीत करने वाली औरतों को चरित्रहीन तक घोषित कर दिया जाता है। लेखिका को पराए पुरुष से बातचीत करने की घटना को सुन लेखिका की सास बहुत क्रोधित होती है, क्योंकि वह (लेखिका) उन सामाजिक नियमों को तोड़ती है, जिसमें पुरुषों से बात करना वर्जित है। 'मेरी...भाभी जी के हर हुकुम पर मदारी की बंदरिया-सी नाचते रहने की क्रियाओं को सिरे से खारिज करती। उन्होंने मुझे काफी कुछ के साथ 'चरित्रहीन' भी घोषित कर दिया। उसने तुम्हें सेक्रेटेरियर के अहाते में किसी 'मुस्टंडे' के साथ नंगे सिर बतियाते देखा था। नंगे सिर जिस 'मुस्टंडे' से मैं बात कर रही थी, वह मेरा प्रोफेसर था।'[7] ऐसे ही सामाजिक बंधनों में बँधे रहने के कारण आज भी भारतीय नारी स्वतंत्रता के साथ अपना जीवन नहीं बिता पाती।

बाल-विवाह

बाल-विवाह जैसी कुरीतियाँ देश को खोखला बना रही हैं। आधुनिक युग में बाल विवाह जैसी रूढ़िवादी परंपरा पर प्रतिबंध तो लगे हैं, किंतु आज भी बाल-विवाह जैसी प्रथाएँ पूर्ण रूप से बंद नहीं हुई हैं। लेखिका का विवाह तेरह वर्ष की अवस्था में ही हो गया था और उनकी बड़ी बहन का पंद्रह वर्ष की अवस्था में। 'ताता ने हमारे लिए माँएँ ढूँढ़ीं, मेरी तेरह और दिद्दी की उम्र के पंद्रह वर्ष पूरे होते ही हमें ससुराल के लिए विदा कर दिया गया।'[8]

कश्मीर के हिंसात्मक माहौल, कबाईली हमले और आतंकवाद जैसी समस्याओं के कारण वहाँ के लोगों के सिर पर मौत का भय हर समय रहता है। इसी भय के कारण तथा बेटियों की आबरू को आतंकवादियों से बचाने के लिए बेटियों का कम उम्र में ही विवाह कर दिया जाता है। श्रद्धाराम फिल्लौरी भाग्यवती उपन्यास में बाल-प्रथा के आरंभ होने के कारणों को बताते हुए कहते हैं कि भारत देश में बाल-विवाह जैसी कुप्रथा नहीं थी, किंतु मुसलमानों के आने से इस प्रथा का चलन बढ़ा। 'पहले तो हमारे देश में लड़के-लड़की का विवाह बड़ी अवस्था में ही करने की रीति थी, पर जबसे यहाँ मुसलमानों का राज्य हुआ, तबसे छुटपन का विवाह अच्छा समझने लग गए। कारण इसका यह है कि ये लोग जब पहले ही इस देश में आए तो जिसकी बेटी को रूपवती देखते या सुनते उसके माँ-बाप को धमका के छीन लिया करते थे, क्योंकि मुसलमानों के यहाँ उस स्त्री का छीनना वर्जित है कि जो किसी के हक में आ चुकी हो, अर्थात् जो किसी के साथ ब्याही जा चुकी हो।'[9]

लेखिका के पिता को भी यही भय रहता है कि कहीं बेटियों के साथ कुछ अनहोनी न हो जाए या फिर आतंकवादी या कबाईली हमले या किसी और कारणों से मृत्यु हो गई तो बेटियों का क्या होगा। इसी कारण वह अपनी बेटियों का विवाह जल्दी कर देते हैं। 'अचानक खबर आई कि कबाईली मारकाट करते बारामूला-मुहरा तक पहुँच गए हैं, किसी भी वक्त श्रीनगर आ सकते

हैं। उस दिन का भयभीत वातावरण। हम सबका बड़े कमरे में मातमी सूरतें लिए बैठना शीला ने भी देखा। अपने न रहने पर बेटियों के अनाथ, असुरक्षित होने की चिंता। इसी चिंता ने उन्हें बहुत जल्दी हमारे लिए घर और वर ढूँढने के लिए विवश कर दिया।'[10]

किंतु इन कुप्रथाओं पर प्रतिबंध लगाया जाना अति आवश्यक है, क्योंकि नाबालिग लड़का-लड़की अपने जीवन के फैसले करने में सक्षम नहीं होते और अनुभवहीनता के कारण वह अपना जीवन सुखमय नहीं जी सकते।

पर्दा-प्रथा

पर्दा-प्रथा जैसी कुरीतियों ने समाज की मानसिकता को और भी संकीर्ण बना दिया है। औरतों का पर्दे में रहना, लज्जा और शर्म को उसका गहना मानना आदि से औरत को एक दायरे में बाँध दिया जाता है और इन्हीं जंजालों में फँसी औरत केवल घर की चारदीवारी में बँधी होकर रह जाती है। भारतीय रूढ़िवादी परंपराओं में पर्दा-प्रथा के अनुसार औरतें पुरुषों को अपना मुख नहीं दिखातीं और सिर ढककर रखती हैं। लेखिका बताती है कि उस समय पर्दा-प्रथा के इतने कड़े बंधन थे और मर्दों से इतना पर्दा रखा जाता था कि सारी-सारी उम्र वे एक-दूसरे का मुँह तक नहीं देखते थे। 'मर्दों से बात करने का तो सवाल ही पैदा न होता। कभी मजबूरी हुई तो दरो-दीवारों से बात कही जाती, शादी हुई, बच्चे हुए, जेठ जी को अपना चेहरा न दिखाया।'[11]

पर्दा-प्रथा के कड़े नियम आज भी कम नहीं हुए हैं। बहुत से इलाकों में पर्दा-प्रथा की परंपरा आज भी देखी जा सकती है। लेखिका को भी ससुराल में पर्दा प्रथा की परंपरा का निर्वाह करना पड़ा था। 'मैं भी जितने दिन ससुराल रहती, गद्दों-तकियों वाले आसन पर घूँघट काढ़े, बैठी-बैठी बोर होती रहती।'[12] औरत को घूँघट में रखना उसकी स्वतंत्रता को दबाना है। पुरुष औरत को अपने समान हक नहीं देना चाहता और ऐसी ही रूढ़िवादी परंपराओं से स्त्री की आवाज को दबाए रखना चाहता है।

लिंग-भेद की भावना

लिंग-भेद की भावना आज भी हमारे समाज में मुख्य समस्या बनी हुई है। गर्भ का पता कर और तकनीक का गलत प्रयोग कर बेटी को जन्म से पहले मारा जा रहा है। बहुत ही कम लोग हैं, जो बेटियों को बेटों के बराबर हक देते हैं। लेखिका के जन्म के समय उनके घर में गम का माहौल बन गया, क्योंकि लेखिका की दादी पहली पोती के जन्म के बाद पोते का मुँह देखना चाहती हैं, जबकि दूसरी पोती के रूप में चंद्रकांता (लेखिका) का जन्म होता है–'दूसरी बेटी के रूप में मुझे पाकर दादी थोड़ी निराश तो हुई, पर तीसरे शिशु के रूप में बेटा पाकर संतुष्ट हो गई।'[13] लेखिका के अनुसार उनके परिवार में भी बाकी लोगों की तरह पुत्र को ही अहमियत दी जाती थी। लेखिका की सास को तीनों ही पुत्र होते हैं। वह एक भी बेटी को जन्म नहीं देती। इस बात का लेखिका की सास को बहुत अहम् है कि उसने एक भी बेटी नहीं जनी 'यानि कि बेटियाँ मैंने जनी ही नहीं। इस वाक्य में विचित्र-सा अहंकार था। बेटियों के प्रति शाब्दिक उपेक्षा न होकर भी बेटों की माँ होने का विजेता भाव।'[14]

ससुराल में बहुओं के साथ भेदभाव

ससुराल में बहुओं के साथ भेदभाव किया जाता है। बेटियों जैसा प्यार, सम्मान बहुओं

को नहीं दिया जाता। शादी होते ही बहुओं को गुलाम बना लिया जाता है। उन्हें कड़े नियमों में रहने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। घूमने-फिरने, घर से बाहर जाने आदि पर बहुओं के साथ रोक-टोक की जाती है। लेखिका जब बहू बन ससुराल जाती हैं तो उन्हें भी इस भेदभाव से गुजरना पड़ता है। 'यानी कि सास और माँ का एकल रोल पूरी मुस्तैदी से निभाने में जुट गई। मुझे कब, कहाँ और किस अनुपात में बोलना, चुप रहना है, कहाँ आना-जाना, कब कौनसी सलवार-कमीज पहनना, बाल कैसे बाँधना, लंबी चोटी की जूड़ा आदि की पूरी जिम्मेदारी उन्होंने अपने ऊपर ले ली।'[15] बहुओं को रूढ़िवादी परंपराओं में बाँध दिया जाता है। सामाजिक कड़े नियमों का उन्हें वहन करना पड़ता है। बेटियों को तो फिर भी घर से बाहर जाने की आजादी दे दी जाती है, किंतु बहुओं को घर की रूढ़िवादी परंपराओं का पालन करना पड़ता है। लेखिका ने ससुराल में इन रूढ़ियों को झेला है–'स्कूल-कॉलेज जाने वाली बेटियों पर तो कभी-कभार बंद खिड़कियाँ खोली भी जातीं, पर बहुओं के लिए ऐसी कोई गुंजाइश नहीं थी। मेरी चचेरी ननद जो मेरे साथ ही कॉलेज में पढ़ती थी, मेरे साथ दिल्ली जाने वाली थी, पर ऐन मौके पर बेटी को तो जाने की इजाजत मिली, पर मुझे रोका गया।'[16] बहू चंद्रकांता (लेखिका) को ससुराल वालों का यह व्यवहार बहुत खलता है, किंतु वह सास के आगे कुछ बोल नहीं सकती–'लेकिन मैं अपने बेबस गुस्से का क्या करती, वह जो मुझे इन बहू-बेटी बीच भेदभाव की हरकतों से तूफानी मंथनों से मथता था।'[17]

ससुराल में बहुओं पर अत्याचार

बेटी मायके से ससुराल में नवजीवन की सुखमय शुरुआत सोचकर जाती है। किंतु जब ससुराल में प्रतिदिन उस पर अत्याचार होता है, हिंसा होती है, जानवरों जैसा व्यवहार होता है, तब उसके सारे सपने टूटकर बिखर जाते हैं। ससुराल में बहू को बेटी जैसा प्यार नहीं मिलता। लेखिका ने स्वयं ससुराल में कड़े बंधनों में रहकर जीवन व्यतीत किया। लेखिका की छोटी बहन को उसके ससुराल वालों ने पहले तो बहुत तंग किया फिर उसे जिंदा जलाकर मार दिया।

लेखिका की बहन गर्भवती है, फिर भी दिन-भर काम करती है। शीला (लेखिका की बहन) की सास उसके जरा से आराम करने पर घर में विवाद खड़ा कर देती है। घर आए बेटे से शिकायत करती है। 'शीला की ससुराल की सोच भी यही थी। सहो, सहती जाओ, मुँह न खोलो। ऐसे में साहब सप्तमी के दर्जन भर बर्तन माँजकर, थकान और उबकाइयों से त्रस्त शीला जो दसेक मिनट, कमरे में आकर लेट गई, सास जी का पारा एक सौ दस चढ़ गया। पता नहीं, उसने कौन-कौनसे डायलॉग बोले, गुस्से में बर्तन पटके, दो चार कंबल लाकर शीला के ऊपर डाल दिए और बेटे के सामने बेसिर-पैर की शिकायतों के पुलिंदे खोल बैठी कि टी॰एन॰ अपना विवेक खो बैठा।'[18]

शीला जब गर्भवती होती है। तब भी ससुराल वाले शीला की कोई देखभाल नहीं करते। शीला के बीमार पड़ जाने पर भी उसकी सास उसे ताने सुनाने से बाज नहीं आती और उसके घर का काम करने के लिए मजबूर करती रहती है। टी॰एन॰ ने नए जन्म को एक आम घटना मान खुद को अलग रखा। सास जी अपने अनुभवों को भूल इसे एक स्त्री का औसत कर्म मान, दैनिक कार्यों में उलझी रहीं–'शादी हुई है तो बच्चे जनेगी ही बहू, इसमें नया क्या था? लाखों-करोड़ों औरतें बच्चे जनती हैं और दुनिया-भर के काज करती है।'[19]

लेखिका की बहन गर्भ-धारण करने से ही बीमार रहने लगी थी, किंतु उसकी इस पीड़ा को न तो सास-ससुर समझ रहे थे और न ही शीला का पति। शीला को दिन-भर घर के कामों में लगाए रखा जाता था। एक दिन जब शीला ज्यादा बीमार हो गई तो वह पलंग पर लेट गई। इस वजह से घर में कलह हो गई। सास ने बेटे से रो-रोकर बहू की शिकायत की और टी॰एन॰ पत्नी (शीला) की कोई भी बात सुने बिना गुस्से से शीला पर टूट पड़ा। 'थकी-चिथड़ा हुई देह लिए शीला ने पति को गहरी नजर से देखा। क्या वह गर्भवती पत्नी की पीड़ा को महसूस करने की शक्ति भी खो बैठा है? क्या वह माँ के उस पर लगाए गए आरोपों की सच्चाई भी नहीं जानना चाहता? 'मैं कुछ सुनना नहीं चाहता। देख रहा हूँ माँ बर्तन माँज रही है और तुम यहाँ आराम फरमा रही हो।'[20]

ससुराल वाले बहू को घर में बेटी का स्थान देने की बजाय उसे खरीदा हुआ नौकर समझ लेते हैं। दिन-भर काम करवाकर उसे ताने देना, उस पर अत्याचार करना, बहुधा लोगों की ऐसी मानसिकता बन चुकी है। लेखिका की बड़ी बहन शिमला से आती है तो लेखिका और उसकी बहन शीला को ससुराल से ले आने के लिए नौकर को भेजती है, किंतु शीला की सास दिन-भर काम करवाकर भी शीला को नौकर के साथ नहीं भेजती, काम पर काम दिए जाती है। आखिर घंटों बैठकर नौकर अकेला वापिस आता है। 'हमने सुले को उसे ससुराल से लिवा लाने के लिए भेजा, पर घंटों बैठने के बाद सुला अकेला ही लौट आया। उस वक्त शीला के घर में मेहमान थे। शीला ने गृहणी का दायित्व निभाया। उन्हें खिला-पिलाकर विदा कर दिया। तभी पड़ोस की कुछ महिलाएँ गप्पें लड़ाने आईं। शीला ने उन्हें चाय पिलाकर सास जी से जाने की इजाजत माँगी, लेकिन सास जी इतनी जल्दी बहू को छुट्टी नहीं देना चाहती थीं। रोक लिया, अब शीर चाय बनाओ, अब कहवा बनाओ।'[21]

बहुओं को घर में जो प्रेम और इज्जत मिलनी चाहिए, उसके लिए वे उम्र-भर तरसती रहती हैं, किंतु प्यार की आशा उनके मन में ही रह जाती है। उल्टा बहुओं को सास-ससुर और पति के गुस्से का भागी बनना पड़ता है। यहाँ तक कि बहू को जलाकर मार देने की घटनाएँ प्रतिदिन अखबारों और टी॰वी॰ में देखने को मिलती हैं। ऐसी ही भयानक घटना लेखिका की बहन शीला के साथ भी घटती है। शीला का पति उसे जिंदा जलाकर मार डालता है। 'हम गरीब लोग साहब, पुलिस थाने से खौफ खाते हैं, क्या मुँह खोलते? आपके दामाद ने तो थानेदारों का मुँह पैसों से बंद कर दिया।' टी॰एन॰ के दोस्त की पत्नी शीला की सहेली थी, उसने अपनी माँ से कहा, 'मैं क्या कहती, इन्होंने (मेरे पति ने) तो कहा, मुँह खोलेगी तो तेरा भी वही हश्र करूँगा, जो शीला का हुआ था।' 'मौत सिर्फ दुर्घटना नहीं थी भाई हत्या थी।'[22]

लेखिका और उसके परिवार वाले पिता से टी॰एन॰ पर केस करने के लिए कहते हैं ताकि और भी बहू-बेटियों को जलाकर मारने या मारपीट कर मारने वाले दुराचारियों को उनके किए की सजा मिल सके और आगे से वह बहुओं पर ऐसा अत्याचार करने से भी काँप जाएँ- 'शीला नहीं लौटेगी पर समाज की कई-कई शीलाएँ, जिन्हें टी॰एन॰ जैसे हत्यारे मौत की नींद सुलाने का हौसला पाएँगे, उनके बारे में सोचना आपका जिम्मा नहीं? अपराधी को अपराध की सजा न मिले तो क्या समाज में अपराधों को बढ़ावा नहीं मिलेगा? कोई तो दंड विधान हो, न्याय-कानून व्यवस्था है देश में, वह किसलिए?।'[23] न्याय, कानून, सजा होने पर भी बहुओं पर

ससुराल में होते अत्याचार, मारपीट और उन्हें जान से मारने की घटनाएँ कम नहीं होतीं। लेखिका जब छोटी होती है, तब की पड़ोस में हुई घटना का वर्णन वह करती है कि कैसे उनके पड़ोस के दो भाई एक औरत को खरीदकर ले आए पत्नी का दर्जा देने के लिए। किंतु उस औरत को मार-पीटकर उस पर अत्याचार करते–'वह ब्रज मस्ताने की बीबी थी न? बेचारी खिड़की पर बैठी बिसूरती रहती थी। कितना पीटते थे दोनों भाई उसे? मैंने कई बार उसकी चीखें सुनीं।'[24]

रूढ़िवादी रीति-रिवाज

भारत संस्कृतियों का देश है। यहाँ भिन्न भिन्न धर्म, जाति, संस्कृतियों के लोग निवास करते हैं, जिनकी अपनी-अपनी परंपराएँ हैं, किंतु आज ये परंपराएँ रूढ़ि बन गई हैं। विवाह के समय की रस्में आज लालच का रूप धारण कर रही हैं। विवाह के समय ससुराल वाले बहू के मायके से अधिक माल मिलने की इच्छा रखते हैं, जो कि बेटी वालों के लिए मुश्किल होता है। विवाह के समय ऐसी बहुत-सी रस्में होती हैं, जिनमें बहू को ससुराल वालों को उपहार देने होते हैं और बहू के मायके वाले अधिक उपहार देने में सक्षम न हो तो बहू को सारी उम्र तंग किया जाता है।

लेखिका भी ऐसे दौर से गुजरती है। जब लेखिका की मुँहदिखाई होती है, तब उसके पास मुँहदिखाई के लिए सास को देने के लिए कुछ भी नहीं होता। इस कारण उसे बहुत-सी बातें सुनती पड़ती हैं। 'सास जी की जेठानी जी ने पूछा, 'तुम्हारे मायके वालों ने मुँहदिखाई के लिए तुम्हारे हाथ में कुछ दिया है? कोई रकम या सोने की कोई चीज? इतना बड़ा प्रोफेसर नामी-गरामी खानदान, मुँहदिखाई भी न जुड़ी?'[25] ऐसे ही परंपरावादी रूढ़िवाद ने समाज में तनाव और संकीर्ण मानसिकता को बढ़ाया है। लेन-देन की यह घटिया परंपराएँ आदर्श समाज को खोखला बना रही हैं। बेटियों को ससुराल में जाकर सारी उम्र ताने सुनने पड़ते हैं। लेखिका ने मुँहदिखाई की रस्म में सास को कुछ न दिया और लेखिका को सारी उम्र सास के इस अपमान के लिए सजा मिलती रही–'बाद में उम्र के साल-दर-साल वे उस मुँहदिखाई न मिलने कारण हुए अपमान और मलाल को नैवेद्य की तरह मुझे जब तब पकड़ाती रहीं। यह लो, यह देखो, यह किया तुम्हारे टाढ्या जी ने।'[26] ऐसी रूढ़िवादी रीतियाँ हमारे जीवन में विष घोल देती हैं। ससुराल में बहू को तंग किया जाता है ताकि वह अपने मायके से तरह-तरह की चीजें लाएँ। यदि वह ऐसा नहीं करती तो ससुराल वाले समाज में अपनी बदनामी समझते हैं। लेखिका के पिता समाज-सुधारक थे। वह इन रूढ़िवादी परंपराओं के विरोधी थे। उन्होंने अपनी बेटियों की शादी में न कोई उपहार दिया और न दहेज। वह इन सब रूढ़िवादी परंपराओं को खत्म कर देने के हक में थे–'अपनी बेटी देकर हम उनके घर में लक्ष्मी भेज रहे हैं। एहसान उन्हें मानना चाहिए या हमें? जाहिर है टाढ्या ने हमारे हाथ में मुँहदिखाई के लिए न कोई रकम दी, न चेन, न अँगूठी।'[27] लेखिका के पिता ने अपना विवाह और अपने सभी बच्चों का विवाह बिना दहेज और रूढ़िगत परंपराओं को तोड़कर किया है। लेखिका और उसकी बड़ी बहन भी पिता के इस मिशन में उनके साथ थी। टाठ्या जी के 'सोशल रिफार्म की एक अच्छी-खासी मुहिम में हम दोनों बेटियाँ उनके साथ थीं।'[28] पुरातन समय से ये रूढ़ियाँ हमारे समाज में फैली हुई हैं, किंतु ये रूढ़िगत परंपराएँ दिन-प्रतिदिन और भी रूढ़ होती जा रही हैं। आज समाज को इन रूढ़ियों के खिलाफ जागरूक

होने की आवश्यकता है।

स्त्री-जीवन की त्रासदी

सदियों से ही स्त्री को पुरुष से निम्न ही समझा जाता रहा है। स्त्री को पुरुष के चरणों की दासी माना जाता है। औरत को पुरुष के समान अधिकार व स्वतंत्रता न तो पहले ही प्राप्त थी और न ही आज। लेखिका ने इन रूढ़िवादी परंपराओं से अवगत कराने का सफल प्रयास अपनी आत्मकथा के माध्यम से किया है। यहाँ वह सदियों से चली आ रही नारी की त्रासद स्थिति का वर्णन करती है, क्योंकि आज भी नारी पुरुष के जुल्म का शिकार हो रही है। पुरुष स्त्री को केवल अपने हाथ की कठपुतली समझता है। 'उसी खाली कोने को भरने के लिए प्रेम से इतर कोई संसाधन नहीं है। यह सच स्त्री को व्यक्तिगत जायदाद मानने वाले समझ नहीं पाते। इसी कारण घर की स्त्री अकसर प्रेमविहीन जीवन जीती रही है। पहले भी और शायद अभी भी स्त्री के लिए मध्ययुगीन अँधेरे में ही अटकी हुई है।'[29]

औरत के जीवन की त्रासदी यह है कि उसे हमेशा से दबाकर रखा गया। स्त्री के साथ ऐसी-ऐसी परंपराओं को जोड़ दिया गया, जिससे कि वह घर से बाहर ही नहीं निकल पाई। औरत के लिए बंधन अधिक गूढ़ होते चले गए। औरतों को जानवरों की भाँति बंधनों में रखा जाता है। उनकी इच्छाओं और संवेदनाओं का दमन किया जाता है। लेखिका ने स्त्री की दशा को दिखाया है, जो आधुनिक युग में भी नहीं बदली है। 'भूमंडलीकरण के इस दौर में भी क्या स्त्री के लिए कसाईघर मौजूद नहीं, जहाँ खामोश अनपढ़ और बोलनेवाली तेज-तर्रार दोनों मिजाज की स्त्रियाँ गाहे-बगाहे शहीद की जाती हैं?'[30] स्त्री परिवार के लिए सदैव बलिदान करती है अपनी खुशियों का, सुखों का, किंतु यह नारी की प्रवृत्ति बन चुकी है कि सदैव नारी ही दुख झेले, सहती रहे और आधुनिक युग में जब औरत पढ़ी-लिखी हैं, तब भी औरत की स्थिति में कोई बदलाव नहीं।

औरत की आवाज को दबाना

भारतीय नारी आज भी सदियों पुरानी गुलामी का जीवन व्यतीत कर रही है। आज भी नारी की आवाज दबी हुई है। ये पुरातन रूढ़ियाँ औरत के अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई हैं। सदियों से नारी को घरों में बंद रखने की परंपरा रही है। उन्हें मर्दों के फैसले में बोलने या किसी तरह की दखलअंदाजी का हक नहीं दिया जाता है। लेखिका ने अपनी आत्मकथा में औरतों के बेजुवान होने की बात का चित्रण किया है। कैसे उनके घरों की स्त्रियाँ चुप ही रहा करती थीं–'यों उस दौर में अपनी बात कहने का चलन स्त्रियों ने अपनाया ही नहीं। हमारे घरों के आभिजात्य में कुलीन स्त्रियाँ अक्सर बेजुबान ही हुआ करती थी।'[31] आज भी यही चलन है कि स्त्रियों को बोलने का हक नहीं दिया जाता, उन्हें चुपचाप घर के पुरुषों के फैसले मानने पड़ते हैं।

स्त्री शिक्षा-संबंधी रूढ़ मान्यताएँ/समस्याएँ

स्त्री की शिक्षा को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। न तो पहले स्त्री-शिक्षा के कोई विशेष साधन थे और न ही आधुनिक युग में स्त्री की शिक्षा के लिए विशेष साधन हैं। लड़कियों को पराया धन मानकर उन्हें ज्यादा पढ़ाने-लिखाने के लिए माता-पिता तैयार नहीं होते। लेखिका की माता अनपढ़ थीं, क्योंकि तब लड़कियों की पढ़ाई का कोई चलन नहीं था–'माँ स्कूल में

पढ़ी-लिखी नहीं थी। उन दिनों गाँव में लड़कियों के स्कूल थे भी नहीं।'[32] लड़कियों के बारे में यह धारणा बन चुकी है कि पढ़ाई करके क्या करना है जब इन्हें घर ही सँभालना है। लेखिका की सास भी अनपढ़ है और उनके घर के आस-पास लगभग सभी स्त्रियाँ अनपढ़ ही हैं। कुछ औरतें हैं, जो केवल धार्मिक ग्रंथ पढ़ना सीखी थीं, इससे ज्यादा उन्हें जरूरत नहीं। इसी धारणा को मानकर औरतों को पढ़ाया नहीं जाता था–'भाभी जी पढ़ी-लिखी नहीं थी, शायद भीतर कहीं यह कष्ट रहा हो, पर उनके जमाने में लड़कियों की शिक्षा भगवद्गीता, रामायण और स्त्री-सुबोधिनी से बहुत कम आगे बढ़ पाती। वादी में तो बहुत कम पढ़ी-लिखी महिलाएँ थीं।'[33] आधुनिक युग में स्त्री-शिक्षा की समस्या बनी हुई है। लड़कियों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता। लेखिका को भी शिक्षा-संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ा। लेखिका की सास को लेखिका का पढ़ना-लिखना पसंद नहीं है, क्योंकि ज्यादातर लड़कियों का पढ़ना पसंद नहीं किया जाता है, लेकिन जब भी मैं कभी पुस्तक खोल उनके सामने पढ़ने बैठ जाती तो वे जरूर कोई आलतू-फालतू काम सौंपकर मुझे पुस्तक बंद करने पर मजबूर करतीं। एकाध बार किसी बिमला का हवाला देकर बात पहुँचाई गई कि ऐसी बदतमीज और बेशऊर बहू है बिमला कि सास जी के सामने कागज-कलम लेकर दरबार खोल बैठती है।'[34] लेखिका पढ़ना-लिखना चाहती थी और लेखिका के पिता भी बेटियों की शिक्षा के हक में थे, इसीलिए लेखिका के पिता ने बेटियों के ससुराल वालों से पहले से ही बेटियों की पढ़ाई पूरी करवाने की बात तय कर दी थी कि बेटियाँ शादी के बाद भी पढ़ाई पूरी करेंगी। किंतु बाद में लेखिका की सास बहाने बना-बनाकर लेखिका को घर में पढ़ने से रोकती रहती थी। यह बात लेखिका को बहुत दु:खी करती थी। लेखिका हर हाल में पढ़ना चाहती थी और लेखिका का कहना था कि यदि सास पढ़ने की अनुमति न देती तो शायद वह बाग़ी हो जाती। 'भाभी जी ने उनसे किए वादे को निभाया। न निभाती तो पता नहीं मेरा क्या होता या तो घर में महाभारत मचता या शायद मैं ही अंदर बैठी हठी लड़की से बेकाबू होकर थोपा गया संयम, नियम तोड़, बाग़ी हो जाती।'[35]

अंधविश्वास

अशिक्षित लोगों में अंधविश्वास अधिक होता है, खासकर गाँव के लोग जो अनपढ़ एवं सीधे-साधे होते हैं, अंधविश्वास, झूठे बाबा, फकीरों के चंगुल में फँस जाते हैं। खासकर औरतें बाबाओं के पीछे लगकर अपनी धन-दौलत लुटा बैठती हैं। समस्याओं में घिरे व्यक्ति या रोगग्रस्त व्यक्ति, जिनके पास कोई उपाय नहीं बचता, विवशता में इन अंधविश्वासों में फँस जाते हैं। पिता को छोड़कर लेखिका के परिवार में सब अंधविश्वास को मानते हैं, किंतु जब लेखिका की माँ ज्यादा बीमार हो जाती हैं, तब लेखिका के पिता भी इस अंधविश्वास के जाल में फँस जाते हैं–'पिता अंधविश्वासी नहीं थे। पीरो-फकीरों, साधुओं नजूमियों से दूर रहा करते थे, पर माँ की हालत से टूटकर वे मन्यगाम के मस्त फकीर कशकाक के पास चले गए। शायद कोई आश्वासन पाने कि मन की... में कोई जुड़ाव आ जाए।'[36]

लेखिका का छोटा भाई जो नवजात शिशु है, बहुत बीमार हो जाता है। तब वह मंदिर के पुजारी को बुलाकर बच्चे को उसे दिखाना शुरू कर देते हैं। जबकि बच्चे को डॉक्टर के पास ले जाना चाहिए था। ऐसी ही गलतियों के कारण लेखिका का भाई इस दुनिया से चल बसा–

'किसी ने मंदिर के पुजारी को बुलाकर पाठ करवाया। बच्चे के माथे पर ठंडे पानी की पट्टियाँ बदलते जा रहे थे। पुजारी जी ने मंत्र पढ़े और सिर हिलाकर कहा, 'तोता पिंजरे में बंद है। न तुम्हारा जोर है, न मेरा जोर।'[37] लेखिका के मायके परिवार के साथ-साथ ससुराल परिवार वाले भी अंधविश्वास, जादू-टोने के जाल में फँसे हुए थे। हमारे देश में आज भी अंधविश्वास से संबंधित खबरें देखने सुनने को मिलती हैं।

धर्म के नाम पर पाखंड

लेखिका कहती हैं कि हमारा देश आध्यात्मिक देश है, किंतु कुछ चालाक या ढोंगी बाबा लोग इसका गलत फायदा उठाते हैं। वह धर्म के नाम पर ढोंग रचाकर भोली-भाली जनता को मूर्ख बनाते हैं। बहू-बेटियों और औरतों का मानसिक, शारीरिक शोषण करते हैं। लेखिका अपने इलाके के लोगों के अंधविश्वासी होने के साथ-साथ अपने मायके और ससुराल वालों के अंधविश्वासी होने की बातें बताती है। धनवती लेखिका की सास, जो बहुत अंधविश्वासी है, अपने गाँव के बाबा के बारे में बताती है, जो औरतों से अश्लील हरकतें करता है और लोग उसे बाबा की माया मानते हैं। 'इन्हीं महात्मा जी ने एक बार घर में मातम मनाती औरतों में घुसकर मेरी सौतेली माँ को गोद में बिठाकर कपोलों पर चुंबनों की बौछार कर दी थी।'[38]

लेखिका की सास बताती है कि कैसे नंद बाबा औरतों को रास्ते में से ही उठा ले जाता था और लोग उसे बाबा का आशीर्वाद समझते थे। कोई बाबा के खिलाफ कुछ नहीं बोलता था– 'हम दोनों दिलमलूल, उदास, हब्बाकदल के पुल से गुजर रहे थे कि पीछे से आकर नंद बाबा ने हुम्म से उठाकर मुझे कंधे पर डाल दिया और धम्म-धम्म चलते पुल के पार ले जाने लगे।'[39] लोग श्रद्धा में अंधविश्वासी बन बैठते हैं, वे इन साधु-फकीरों के पीछे लग अपना जीवन बर्बाद कर लेते हैं। धर्म के नाम पंडित भी कम फायदा नहीं उठाते। यही पंडित लोगों के सामने भगवान के भक्त बनते हैं। लोगों को सच्चे मार्ग पर चलने की राह दिखाते हैं। लोगों को अच्छाई और सच्चाई के साथ अपना जीवन बिताने के बड़े-बड़े प्रवचन देते हैं, किंतु स्वयं कुछ भी शिक्षा ग्रहण नहीं करते। धर्म का रास्ता दिखाने वाले स्वयं ही अधर्मी बन बैठे हैं। लेखिका इसका उदाहरण अपने पड़ोस में हुई एक घटना के माध्यम से देती है। यहाँ ब्राह्मण समाज पूजा-अर्जना, धर्म आदि में तो बहुत आस्था रखता है, किंतु एक निसहाय स्त्री की रक्षा कोई भी नहीं करता।[40]

लेखिका इस घटना के माध्यम से यह बताना चाहती हैं कि ये धर्म-कर्म की बातें, ये धर्मात्मा लोग, बाबा, पंडित आदि केवल दिखावे के लिए ही करते हैं। वास्तविकता में किसी भी असहाय मनुष्य के प्रति कोई सेवा-भाव, सहयोग-भाव, प्रेमभाव आदि का मूल्य नहीं है।

कड़े जाति-बंधन

आज भी हमारा समाज ऊँच-नीच, जाति-पाति, धर्म आदि कड़े बंधनों में जकड़ा हुआ है। उच्च जाति के लोगों में अहंकार की भावना रहती है, इस कारण अपने से निम्न जाति के लोगों को अपने बराबर नहीं समझते हैं। यही जाति-बंधन आज हमारे संसार की प्रमुख समस्या बनी हुई है। धर्म, जाति आदि के नाम पर दंगे-फसाद हो रहे हैं। प्रेम-विवाह आदि में जाति बंधन बन जाता है। ऊँच-नीच का भेदभाव होने के कारण हमारे देश में लड़का-लड़की प्रेम-विवाह नहीं कर पाते। लेखिका की बहन शीला, जो किसी लड़के से प्रेम करती है, किंतु लड़के की छोटी जात होने

के कारण वह यह बात घर में किसी से कह नहीं पाती। 'मैं भी कहाँ जान पाती, अगर शीला के बुकशैल्फ से 'बुदरिंग हाइट्स' उसके पन्ने पलटते, वह चिट्ठी मुझे न मिलती, जिसे लिखकर वह पोस्ट करना भूल गई। आज भी लगता है, शीला ने चुप रहकर अपने सुखों पर आप ही लकीर फेर दी। लड़का छोटी जात का था या ताता उसके निर्णय से बिरादरी में शर्मसार हो जाते।'[41]

आज भी हमारे समाज में जाति-बंधनों को लेकर इतनी कटुता है कि लड़का-लड़की को दूसरी जाति में शादी करने के कारण मार दिया जाता है। लेखिका की बहन शीला बदनामी के डर से और पिता की इज्जत का ख्याल करते हुए घर में किसी को अपनी प्रेम-संबंधी कोई बात नहीं बताती। शीला को पता था नीच जात में विवाह करने से पिता और परिवार को धक्का लगेगा। 'एक अनुशासित परिवार में विद्रोह के बीज बोने का दुस्साहस उसमें नहीं था या ताता के विश्वास को चोट पहुँचाने का डर? हम कभी न जान पाए।'[42]

जाति के यह कड़े बंधन समाज को लगे हुए कीड़े समान हैं, जो समाज को अंदर ही अंदर खोखला कर रहा है।

बहुविवाह चलन

बहुविवाह चलन समाज में सदियों से चला आ रहा है। एक पत्नी के मरने के बाद या फिर छोड़ दिए जाने पर या फिर एक पत्नी के होते हुए भी पुरुष दूसरी शादी कर लेते हैं। इस बहुविवाह के चलन से घर का माहौल बिखर जाता है, जिसका सबसे ज्यादा असर बच्चों पर होता है। घर में अपनी माँ के चले जाने पर दूसरी माँ बच्चों पर अपना रौब झाड़ती है। उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करती। हमारा देश पुरुष-प्रधान देश रहा है। इसीलिए पुरुष जो मन में आए कर सकता है। एक से अधिक शादियाँ कर सकता है। लेखिका के पिता ने लेखिका की माँ से शादी करने से पहले भी एक शादी की हुई थी। गुणी (लेखिका की माँ) दूसरी पत्नी के रूप में उनके घर आई। 'पंडिता साहब की ओर से विवाह का प्रस्ताव आया था, लेकिन उनके तमाम ठाठबाट, पद-प्रतिष्ठा के बावजूद गुणी की माँ दुविधा में थी। कैसे दे बेटी उस घर में, जहाँ पहले ही एक ब्याहता स्त्री बैठी है।'[43]

लेखिका की माता दूसरी पत्नी के रूप में आ जाती है, किंतु वह बहुत समय तक जिंदा नहीं रहती। कुछ सालों के पश्चात् लेखिका की माता का देहांत हो जाता है और लेखिका के पिता तीसरा विवाह कर बच्चों के लिए माँ लेकर आते हैं। 'ताता ने मित्रों से सलाह ली और घर के लिए गृहिणी लाने की सोची। वे हमारी नई माँ, माता जी को हवन कराकर घर ले आए।'[44] लेखिका के घर में पिता तीसरी पत्नी लाकर बच्चों को उनकी माँ लौटाना चाहते थे, किंतु बच्चों को घर में आई नई औरत के साथ हिलना-मिलना मुश्किल लग रहा था। बहुविवाह प्रथा आज भी हमारे देश में चल रहा है। यहाँ तक कि लोग पुत्र कामना हेतु बहुविवाह करवा लेते हैं।

नाजायज संबंधों की समस्या

पति-पत्नी के पवित्र रिश्तों में नाज़ायज संबंधों जैसी दरार आ जाती है। पति-पत्नी में बिखराव हो जाता है और परिवार टूट जाते हैं। यही कारण रहते हैं पति-पत्नी में अलगाव के कारण तलाक हो रहे हैं, परिवार टूट रहे हैं। लेखिका के ससुर किसी पराई स्त्री से संबंध रखते हैं। जब लेखिका की सास दोनों को रंगे हाथ पकड़ लेती है, तब उसके (सास) क्रोध की कोई सीमा

नहीं रहती। 'पर दोषी उन्होंने बाबू जी को ही ठहराया। कितना कष्ट पहुँचाया उन्होंने भाभी को। पति पर उनकी श्रद्धा और अटूट विश्वास में दरार डालकर बाबूजी ने, भाभी जी, जैसी पति पर एकछत्र राज करने वाली के गर्व को धक्का पहुँचाया।'[45]

पुरुष जो चाहे करता रहे, समाज उससे कुछ नहीं कहता, किंतु स्त्री तनिक भी किसी से बात कर ले तो उसे चरित्रहीन घोषित कर दिया जाता है। पुरुष अपने अहंकार में अंधा होकर पत्नी पर अत्याचार करता है और स्वयं बाहर पराई स्त्रियों से नाज़ायज संबंध बनाने से भी बाज नहीं आता। चाहे वह औरतें कितनी भी गिरे हुए चरित्र की क्यों न हों। लेखिका के ससुर किसी गोंचे बेचने वाली से संबंध रखते हैं, जिस कारण लेखिका की सास को गहरा धक्का पहुँचता है और इसका दोषी वह अपने पति को मानती हैं। 'वे तो अपने और बाबूजी के बीच बड़ी-से-बड़ी हसीनाओं को भी इंच भर जगह देने की सोच भी नहीं सकती थीं। उसी मानिनी को एक गोंचेवाली चुनौती देने की हिम्मत कैसे कर सकती थी? जरूर यह करतूत उनके शरीफजादे पति की ही थी, आखिर थे तो मर्द।'[46]

पुरुष अपनी पत्नी से तो पवित्र एवं आदर्श पत्नी की आशा रखता है, किंतु स्वयं वह पराई औरतों पर नज़र रखता है।

पुरुष का अहं

युग से चली आ रही परंपरा है कि पुरुष ही समाज का प्रधान बना हुआ है और स्त्री उसके चरणों की दासी बनी हुई है। आज भी इस स्थिति में कोई खास बदलाव नहीं आया है। आज भी समाज पुरुष-प्रधान ही बना हुआ है। यही कारण है कि पुरुष अपने अहंकार में स्त्री पर जुल्म करता है। पुरुष अपनी पत्नी से मारपीट करता है, उस पर अपनी खीज निकालता है। लेखिका की बहन अपने ससुराल में ऐसा जीवन गुज़ारती है, यहाँ उसे पति के अहं का और गुस्से का भागी बनना पड़ता है। शीला का पति घर में अपनी मनमर्जी की मस्ती अपने दोस्तों के साथ नहीं कर पाता था, क्योंकि घर में दोस्तों को लाकर शराब पीना, ताश खेलना आदि मना था और पति के सारे गुस्से की भागी शीला बनती थी। 'शीला को लगता शायद इन्हीं बंदिशों के कारण ही टी॰एन॰ बुझा-बुझा रहता है और सारी खीज पत्नी पर निकालता है।'[47]

शीला का पति हर समय उस पर अपनी धौंस जमाता है। उसे माता-पिता के कहे अनुसार आज्ञा का पालन करने को कहता है। उसे घर में बोलने की आज्ञा नहीं, चुपचाप उसे घर का काम करने के लिए कहा जाता है। यही स्थिति हमारे देश में घर-घर की कहानी बनी हुई है। यहाँ पुरुष हुक्म चलाता है। स्त्री की बात न सुनने, उसे मारने-पीटने, अत्याचार करने में वह अपनी मर्दानगी समझता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि चंद्रकांता जी ने अपने जीवन में बहुत संघर्ष किया है। उन्हें भारतीय नारी की भाँति रूढ़िगत परंपराओं, कुरीतियों, कड़े सामाजिक बंधनों को ढोना पड़ा है। लेखिका ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से नारी-जीवन की त्रासदी को जिया है, जो इन कड़े नियमों और बंधनों में रहकर तड़पती है। लेखिका की आत्मकथा नारी-जीवन के बंधन का आईना है, जिसके माध्यम से हम भारतीय नारी के कैदी जीवन की झलक देख सकते हैं। लेखिका की आत्मकथा स्त्री-जीवन की त्रासदी, तड़प, टूटते सपनों, बंधनों में घुटता जीवन, गुलामी जैसी वेदना

का एहसास करवाती है। लेखिका ने स्वयं ऐसा जीवन जिया है, जिससे वह स्त्री की दशा को बखूबी समझती हैं और आत्मकथा के माध्यम से उसका सफल चित्रण भी करती हैं। लेखिका स्वयं पढ़ी-लिखी आधुनिक नारी है, फिर भी वह सड़ी-गली मान्यताओं को ढोती है।

भले ही आज यह नियम कुछ जगह थोड़े से ढीले पड़े हों, किंतु खत्म नहीं हुए हैं। आज भी नारी इन कुरीतियों की बलि चढ़ती है।

संदर्भ

1. बालशौरि रेड्डी (संपा॰), हिंदी के रुद्राक्षर, (दिल्ली : शब्द सेतु : 2007), पृ॰ 220
2. रेखा मुले, कथाकार चंद्रकांता (कानपुर : विकास नगर, 2005), प्रस्तावना
3. हरिदत्त वेदालंकार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास (दिल्ली : आत्माराम एंड संस : तीसरा संस्करण, 1962), पृ॰ 44
4. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन (नई दिल्ली : सरस्वती भवन : छठा संस्करण, 1994), पृ॰ 214
5. चंद्रकांता, हाशिए की इबारतें, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ॰ 122
6. वही, पृ॰ 131
7. वही
8. वही, पृ॰ 87
9. श्रद्धाराम फुल्लौरी, भाग्यवती (नई दिल्ली : दिग्दर्शनचरण जैन, 1988), पृ॰ 12
10. वही, पृ॰ 86-87
11. चंद्रकांता, हाशिए की इबारतें, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ॰ 135
12. वही, पृ॰ 132
13. वही, पृ॰ 32
14. वही, पृ॰ 128
15. वही, पृ॰ 130
16. वही, पृ॰ 131
17. वही, पृ॰ 131
18. वही, पृ॰ 100
19. वही, पृ॰ 100
20. वही, पृ॰ 100
21. वही, पृ॰ 102-103
22. वही, पृ॰ 108
23. वही, पृ॰ 107
24. वही, पृ॰ 49
25. वही, पृ॰ 124
26. वही, पृ॰ 125
27. वही, पृ॰ 123
28. वही, पृ॰ 124

29. वही, पृ॰ 6
30. वही, पृ॰ 7
31. वही, पृ॰ 23
32. वही, पृ॰ 22
33. वही, पृ॰ 136
34. वही, पृ॰ 135
35. वही, पृ॰ 135
36. वही, पृ॰ 37
37. वही, पृ॰ 62
38. वही, पृ॰ 161
39. वही, पृ॰ 160
40. वही, पृ॰ 50
41. वही, पृ॰ 94
42. वही, पृ॰ 94
43. वही, पृ॰ 27
44. वही, पृ॰ 86
45. वही, पृ॰ 162
46. वही, पृ॰ 162
47. वही, पृ॰ 100

मृदुला गर्ग रचित 'मैं और मैं' उपन्यास में रचनाकार का अंतर्द्वंद्व

सवितादेवी, शोधार्थी
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय
गजरौला, अमरोहा (उत्तर प्रदेश)

मृदुला गर्ग हिंदी-कथासाहित्य जगत में प्रतिनिधि नाम है। इनकी रचनाओं के पात्र दु:साहसी होते हैं और कथानक लीक से हटकर। इनकी रचनाओं में भाषा प्रवाहता देखते बनती है। अपने सटीक बिंबों और शिल्प-विशेष के कारण इनकी रचनाएँ इन्हें भीड़ से अलग करती हैं। इन्हें हाल ही में इनके उपन्यास 'मिलजुल मन' के लिए 'साहित्य अकादमी सम्मान' से नवाजा गया है। सात उपन्यासों, लगभग नब्बे कहानियों, तीन नाटकों, दो निबंध-संग्रहों और एक व्यंग्य-संग्रह की रचना करने वाली मृदुला गर्ग मनोवैज्ञानिक स्तर पर पाठकों को तो साथ जोड़ती ही हैं, साथ ही उन्हें परंपराओं के विरुद्ध खड़े रहने का साहस भी प्रदान करती हैं। इनके कहानी-संग्रह खासे चर्चित रहे। इसके अतिरिक्त इनके उपन्यासों ने भी पाठकों के दिलों में विशेष स्थान बनाया।

इनका उपन्यास 'मैं और मैं' एक रचनाकार की दृष्टि से काफी अहम् है, क्योंकि इसमें पात्र लेखक ही हैं। कथानक का ताना-बाना एक उभरती लेखिका और एक नाकामयाब लेखक के बीच के द्वंद्व के इर्द-गिर्द बुना गया है। दोनों ही पात्र लेखक हैं और अपने-अपने द्वंद्वों से जूझते हैं, लेकिन एक-दूसरे का सहारा बनने के प्रयास में एक-दूसरे को प्रताड़ित करते हैं और एक-दूसरे के शोषण का शिकार होते हैं। इस उपन्यास का प्रथम संस्करण वर्ष 1984 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। उसके बाद पेपरबैक्स संस्करण 'राजकमल प्रकाशन' से प्रकाशित हुए। यह उपन्यास एक उभरती लेखिका के स्थापित लेखक होने का भ्रम पाले एक घाघ, फटीचर व्यक्ति के साथ चूहे-बिल्ली के खेल की दास्तान है।

माधवी और कौशलकुमार इस उपन्यास के मुख्य पात्र हैं। कौशलकुमार उसे प्रकाशक के दफ्तर में मिलता है और वहीं से जबरदस्ती उसके साथ चिपककर उसके घर आ जाता है। माधवी के रूप में एक लेखिका का अंतर्द्वंद्व मुखर हो उठता है जब वह उसे बच्चों के आने का हवाला देती है–'दरअसल डेढ़ बजे बच्चे स्कूल से आ जाते हैं।'[1] पर वह ढीठ बनकर उसके घर चाय पीता है, खाना खाता है और उसे घर जाने के लिए ऑटो का किराया दस रुपए भी माँगता है। माधवी उसे रुपए देकर पीछा छुड़ाती है। 'पोखर के पानी के साथ ही उसे अपनी कमीज का बेहद गंदा कालर याद आ गया। हफ्ते-भर से पहन रहा है। रात में धोकर डाली जा सकती है, पर साबुन...इन दस रुपयों में से साबुन की टिकिया जरूर खरीदेगा। एक रुपये की आएगी। फिर

आटा, नमक, दाल'[2] इन पंक्तियों में रचनाकार कौशलकुमार का अंतर्द्वंद्व उभरकर आता है। माधवी अमीर लेखिका हैं और कौशलकुमार निर्धन लेखक। झूठ बोलकर कौशल माधवी से दस रुपए झटकने में कामयाब हो जाता है। वह उन रुपयों से साबुन और सिगरेट खरीदने की बात सोचता है। आवश्यकता और अय्याशी दोनों को वह माधवी से झटके रुपयों से पूरा करना चाहता है। वह माधवी को आत्मग्रस्त और खुदगर्ज मानता है।

इस उपन्यास से वर्ग-विभेद की बू आती है, पर अपनी जरूरत पूरी करने के लिए एक-दूसरे का इस्तेमाल तब तक गलत नहीं लगता जब तक तथाकथित सर्वहारा वर्ग अमीर वर्ग के शोषण पर न उतर आए। यहाँ कौशलकुमार अपनी गलत-सही इच्छाओं की पूर्ति माधवी को निशाना बनाता है और उसकी भलामानसता का शिकार करता है। माधवी कौशलकुमार के अंतर्बोध की प्रखरता से अभिभूत हो जाती है। कौशलकुमार उपन्यास की बारीकियों को पकड़कर उसके समक्ष रखता है, जो माधवी जैसी नव-लेखिका को प्रभावित करने के लिए पर्याप्त है।

माधवी को फिर उपन्यास के सिलसिले में कौशलकुमार की याद आती है। चूँकि उसके पति राकेश हमेशा फैक्टरी के कामों में व्यस्त रहते हैं और रचना के बीज को खाद-पानी देती माधवी के मानसिक धरातल पर उतरकर उसका संबल नहीं बनते। इसीलिए माधवी को कौशल कुमार की जरूरत महसूस होती है। 'राकेश को ताजी हवा का मिराक है। खिड़की दरवाजे सब खुले रखना चाहता है और माधवी है कि तमाम दरवाजे बंद करके अँधेरे में अपने भीतर झाँकना चाहती है।'[3] माधवी विचार करती है कि एक लेखिका कई भूमिकाएँ निभाती हैं, कभी वह माँ तो कभी गृहिणी, कभी आदर्श पत्नी तो कभी मुखर बुद्धिजीवी। वह यह भी मानती है कि 'लेखक का स्वधर्म है लिखना, कोई समझे चाहे नहीं। जिसमें संवेदनशक्ति होगी, समझ जाएगा, आज नहीं तो कल, औरों की परवाह वह क्यों करे।'[4] इन पंक्तियों में एक लेखक का व्यक्तित्व और मानसिक स्थिति द्वंद्व और ऊहापोह के वातावरण में करवट लेते हैं। रचनाकार वह जो हरपल कदम बढ़ाता जाए, बिना पीछे मुड़े कि कोई आ रहा है या नहीं। मृदुला गर्ग ने सहज ही एक रचनाकार की भूमिका को स्पष्ट करते हुए उसके कर्तव्य की रूपरेखा को लकीरों के माध्यम से आकृति दी है।

इसके विपरीत कौशलकुमार हारा हुआ रचनाकार होते हुए भी कृत्रिम दंभ का शिकार है और माधवी के समक्ष डींग हाँकता है–'मुझीको लीजिए। मेरी कहानियों का इन मठाधीशों ने कभी नाम नहीं लिया, पर मैं जानता हूँ, साहित्य को पहचानने वाले मर्मज्ञ जानते हैं, आप भी जानती हैं कि हिंदी साहित्य में आज इस स्वर की कहानी और नहीं है।'[5] मृदुला गर्ग एक रचानाकार के रूप में बेहतरीन शैली का प्रयोग करती हैं। पात्र के माध्यम से ही लेखक के अंतर्द्वंद्व को अत्यंत सहजता से मृदुला जी ने उकेरा है। लेखकों की जमात अपने को बुद्धिजीवी मानती है और स्वयं को औरों से हटकर उत्कृष्ट कोटि का जीव समझती हैं, हालाँकि अपवाद हो सकते हैं। मृदुला जी ने कौशलकुमार के रूप में एक ऐसे पात्र को गढ़ा, जो स्वयं को उच्च कोटि का साहित्यकार मानता है और अपने बारे में यह फैलाता है कि उसने नौकरी खुद छोड़ी। 'एक ही सवाल है उनके पास-नौकरी क्यों छोड़ी? अरे सालो, हरामजादो, छोड़ी नहीं, छूट गई। दूसरी क्यों नहीं ढूँढी? नहीं ढूँढी, बस। नहीं कर सकते हम बँधी-बँधाई नौकरी। जानते नहीं सालो, हमारे पास जीनियस दिमाग है। उच्चतम कोटि का साहित्यकार हूँ, समाज का दायित्व है, मेरा पोषण करे।'[6] यह इस देश की विडंबना है कि यहाँ लेखक को आजीविका के लिए लेखन के अलावा और भी काम करने पड़ते

हैं। मात्र लेखन पर गुजारा नामुमकिन है।

यहाँ असफल लेखक कलम छोड़ किताबों के व्यापार में कूद पड़ता है। यानी प्रकाशक बन जाता है और मालामाल हो जाता है, दूसरी ओर गरीब लेखक अपने बीवी बच्चों का पेट नहीं भर सकता, उसकी किताब छपना तो दूर की बात है। कौशलकुमार अपनी किताब छपवाना चाहता है, पर रुपयों के अभाव में ऐसा नहीं कर पाता। उसकी कुंठा को हवा मिलती है माधवी के सान्निध्य में। वह माधवी से किताब छपवाने के नाम पर उधार लेता है। 'मैं खुद छापूँगा अपनी किताब, खुद बेचूँगा और देखूँगा कैसे नजरअंदाज करते हैं मेरी किताब को। सिर्फ दो हजार रुपयों की बात है। कहीं-न-कहीं से उधार मिल ही जाएगा। छह महीने की कुल बात है। मैं सूद पैसा लौटा दूँगा।'[7]

कौशलकुमार मन-ही-मन माधवी से बात करते हुए कहता है कि वह पूँजीवादी व्यवस्था में रहती है और इतना नहीं जानती कि बिना बिचौलियों के कोई काम सिद्ध नहीं होता। इन पंक्तियों में कौशल पूँजीवादी व्यवस्था का मजाक उड़ाता प्रतीत होता है और बिचौलियों की अनिवार्यता को सिद्ध करता है।

वह माधवी से रुपए ऐंठने के लिए बिचौलिए का किरदार निभाने को तत्पर है। कहीं-न-कहीं यह बात दीगर है कि पूँजीवादी व्यवस्था अगर सर्वहारा व्यवस्था का हिस्सा उसे नहीं देगी तो सर्वहारावर्ग छीना-झपटी पर उतर आएगा। लेखन का क्षेत्र भी इस छीना-झपटी से बचा नहीं। यह छीना-झपटी लूट-खसोट करके नहीं, बल्कि मानसिक शोषण करके की जाती है और अपराध के दायरे में रखे जाने से कदापि बच नहीं पाएगी। 'दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान', यह सतयुग की उक्ति हो सकती है पर कलयुग में इसका अनुकरण करना न्यायसंगत नहीं माना जा सकता, ऐसा लेखिका ने अपने उपन्यास से सिद्ध कर दिया।

इसी कड़ी में कौशलकुमार रोज सुबह नौ बजे उसे फोन करता है, जिससे माधवी उससे तंग आ जाती है। एक दिन उसने माधवी को फोन पर बधाई देते हुए कहा कि उसके उपन्यास को लखनऊ हिंदी संस्थान की ओर से दो हजार रुपए का पुरस्कार मिला है। वह उससे उपन्यास लेने के बहाने मिठाई खाने घर आना चाहता है। भावुकता में बहकर माधवी उसे हामी भर देती है। थोड़ी देर में प्रकाशक का भी बधाई के लिए फोन आया। उसने माधवी को बताया कि वे भी निर्णायक मंडल में थे और उन्होंने ही उसकी कृति को पुरस्कार दिलवाया है। वह माधवी से पुरस्कार राशि से दस प्रतिशत कमीशन की माँग करता है। उपन्यास लेखन-संसार की कुटिलता की परत-दर-परत उघाड़ने में कामयाब रहा और शायद प्रत्येक नवलेखक इस तरह के छल-कपट का शिकार होता है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार निर्मल वर्मा ने अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व यह स्वीकार किया था कि प्रकाशक लेखकों की रायल्टी हड़प कर जाते हैं और स्वयं आलीशान जीवन व्यतीत करते हैं।

चार दिन के बाद कौशलकुमार पुनः उसके घर आ धमकता है और एक हजार रुपए की माँग करता है। वह मना करती है तो कहता है कि उसे घर खाली करने का नोटिस मिला है । अगर वह रुपए नहीं देगी तो उसके बच्चे सड़क पर होंगे। वह उसे भावनात्मक स्तर पर शोषित करता है। इतने में माधवी के पति राकेशकुमार आ जाते हैं। अब वह उन्हें अपने भावुकता बुने शब्द-जाल में फाँसता है और एक हजार रुपए झटक लेता है।

उपन्यास के बहाने मृदुला जी ने लेखकों के अपराध-बोध की व्यथा को भी परिलक्षित किया है। 'एक अपराध-बोध माधवी में है, अपने वर्तमान का, उच्चवर्गीय रहन-सहन का, जिसे चाहकर भी वह छोड़ नहीं सकती और न अपराध-भावना से मुक्ति पा सकती है।' 'एक अपराध-बोध कौशल का है, अपने अतीत को लेकर। माधवी सहानुभूति दिए बगैर कैसे रहेगी? करुणा, संवेदना और भय के मिश्रण से बने बंधन के सामने प्रेम क्या है। गिल्ट की कीलों से बिंधे प्राणी एक-दूसरे की तरफ हाथ नहीं बढ़ाएँगे तो कहाँ जाएँगे?'[8] अपराधबोध देखने-सुनने में ज्यादा बड़ा शब्द नहीं, लेकिन जानलेवा अवश्य है। किसी की जिंदगी को कुतरने के लिए काफी है। दोनों ही लेखक एक-दूसरे पर निर्भर होने लगते हैं, लेकिन परिस्थितियाँ तब भयावह हो उठती है। जब राजेश्वर मिश्र माधवी को बताता है कि कौशलकुमार काम-वासना में लिपटा कीड़ा है और अब तो उसे प्रेरणास्रोत के रूप में माधवी मिल गई है। माधवी को यह भद्दा मजाक पसंद नहीं आता।

मृदुला जी ने लेखक को जज के समकक्ष पदवी दी है। 'पर लेखक भी तो एक तरह का न्यायधीश होता है। स्याह-सफेद अलग करता है। बस उसके फैसलों का असर रफ्ता-रफ्ता होता है, और फैसलों के साथ घुल-मिलकर, ऐसे कि पता नहीं चलता क्या किसका असर है।'[9]

कौशलकुमार के फोन से तंग आकर माधवी फोन का चोंगा उतारकर नीचे रख देती है तो कौशल उसकी माँ के घर फोन कर देता है। इस बात से माधवी नाराज हो जाती है। वह उसे कहती है कि उसकी माँ के घर फोन करने की जरूरत नहीं, क्योंकि वे दिल की मरीज हैं, बार-बार घंटी बजने से डिस्टर्ब होती हैं। कौशलकुमार उसके घर पहुँचकर माफी माँगता है और जहर खाकर आत्महत्या करने की धमकी देता है। माधवी उसके मरने की बात सुन भयभीत हो जाती है और उसे माफ कर देती है। कौशलकुमार प्रकाशक राजेश्वर से झटके रुपयों से कच्ची दारू पीता है और माधवी को पाने की फैंटेसी पालता है।

'माधवी और राकेश। पत्नी और पति। कलाकार और व्यापारी। उसने सोचा नहीं था, उनके बीच इतनी उन्सियत और हमदर्दी हो सकती है।' 'नहीं-नहीं, माधवी के जीवन में शून्य है, बहुत बड़ा शून्य है। बौद्धिक अनुकूलता का अभाव आदमी को बिल्कुल अकेला कर देता है।'[10]

उपन्यासकार मृदुला गर्ग ने साहित्यकार पत्नी के असाहित्यकार पति के बीच मानसिक दूरी का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। एक कलाकार सदैव एक शून्य के साथ जीता है। उसे उसकी कला के सर्जन के अतिरिक्त उसे निखारने-सँवारने और निहारने के लिए एक संबल की आवश्यकता होती है। उस संबल के बिना उसे अपना सृजन अधूरा लगता है। माधवी को अपने उपन्यास लिखने और समझने के लिए कौशलकुमार मिला, क्योंकि पति राकेश उसके इस अभाव की पूर्ति नहीं कर पाता।

समय के साथ कौशल की चालबाजियाँ बढ़ जाती हैं। वह बेटे की बीमारी को बड़ी बेचारगी से भुनाता है। माधवी इसके लिए अपनी तथाकथित 'एलीट क्लास' को दोषी मानती अपने ही बुने द्वंद्वों में फँस जाती है। 'एक छटपटाहट है, जो बराबर उसकी शख्सियत को मथती रहती है; किसी काम में मन नहीं लगता, हर तरफ कूड़ा-ही-कूड़ा नजर आता है, पर कलम है कि स्याही पीने से इंकार कर रही है, कैद में छटपटाते ख्याल कागज पर चढ़कर आजाद होने से मुँह फेर रहे हैं।'[11] दो लेखक अपने-अपने खाँचों में बँधे छटपटा रहे हैं। जिन्हें वक्त के साथ एक-दूसरे से आजाद होना ही होगा।

हद तो तब हो गई जब कौशलकुमार माधवी के जरिए उसके पति से अपनी कंपोजिंग एजेंसी लगाने के बहाने बीस हजार रुपए ऐंठने में सफल हो गया। एक महीने तक वह लगभग लापता हो गया। तार द्वारा पता चला कि वह बंबई गया हुआ है। बंबई से वापिस आकर उसने माधवी से एक और आकर्षक झूठ बोला कि माधवी की कहानी पर फिल्म बन रही है। माधवी खुश हो गई। फिर उसने बताया कि मशहूर फिल्म डायरेक्टर कौशल की दो और माधवी की एक कहानी को मिलाकर एक फिल्म बनाना चाहते हैं। उसने पासा फेंका कि मणि कौल फिल्म डायरेक्टर पच्चीस हजार कौशल को देगा और पच्चीस हजार माधवी को। माधवी उसकी बातों के जाल में एक बार फिर फँस गई।

एक बार क्रोध में आकर कौशल पाँच हजार में एजेंसी बेचने की बात की तो राकेश ने माधवी को इस बात के लिए खूब लताड़ा और कहा–'कलाकार होना आदमी को सब जिम्मेवारियों से बरी नहीं कर देता।'[12] इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि जो लेखक, गायक, संगीतकार, मूर्तिकार आदि अपनी जिम्मेदारियों को दूसरे के कंधे पर टाँग अपनी कला को निखारने में व्यस्त रहते हैं, उन्हें यह समाज आजाद नहीं छोड़ देता, बल्कि तानों से वक्त-बेवक्त बींधता रहता है। कलाकार होना इतना आसान नहीं, इसमें वर्षों का तप-त्याग चाहिए।

माधवी कौशल के कारनामों से इतनी तंग आ गई कि उसे चाय में सायनाइड देकर मारने की योजना तक बना डाली। इसी दौरान माधवी की माँ की मृत्यु हो गई। कौशल उसे बार-बार फोन करके परेशान करने लगा। माधवी उससे छुटकारा पाने की चाहना करने लगी। कौशल ने उसे झूठ-मूठ मणि के आने की बात कही। माधवी ने उस पर मणि के फोन नंबर के लिए दबाव डाला। कौशल ने काफी नानुकर किया और आखिरकार नंबर दे दिया। कौशल के मना करने के बावजूद माधवी ने मणि कौल को फोन किया और अंततः कौशल की साजिश पर से पर्दा उठ गया। मणि ने उसे बताया कि उसने कौशल को फिल्म फाइनेंस करने के लिए साफ इंकार कर दिया था। माधवी यह सच जानकर सकते में आ गई और उसने राकेश को बताया। राकेश सिर पीटकर रह गए कि उन्होंने नाहक एक झूठे आदमी की बौद्धिकता पर विश्वास करके उसे रुपए दे दिए। अगले दिन कौशलकुमार का फोन आया तो माधवी ने उसे बताया कि मणि कौल ने उसे फोन करके बताया कि वह उसकी कहानी पर कोई फिल्म नहीं बना रहे। बस यहीं कौशलकुमार शिकस्त की गिनती शुरू हो गई।

उसे इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उसने माधवी को बार-बार फोन करके सच्चाई की तह तक पहुँचने का प्रयास किया। अब गेंद माधवी के पाले में थी और उसकी जीत निश्चित थी। उसकी हालत देख माधवी को खूब मजा आया। वह उससे गिन-गिनकर बदला लेने पर आमादा हो गई। राकेशकुमार ने माधवी को वापस आकर बताया कि जिस दुकान में कंपोजिंग एजेंसी थी, वहाँ अब दर्जी की दुकान थी। तात्पर्य यह कि कौशल ने यहाँ भी राकेश को चूना लगाया था। माधवी अब झूठ-पर-झूठ बोलकर उसे तड़पाने लगी, ठीक उसी के अंदाज में।

माधवी उसे उसके ही जाल में फँसा देख बहुत खुश हुई, ठीक वैसे जैसे शिकारी अपने शिकार को जाल में फँसा देखकर होता है। कौशलकुमार की हर तड़प पर माधवी मजा लेने लगी और अपने पर हुए शोषण का सिलसिलेवार बदला भी।

संपूर्ण उपन्यास में दो लेखकों के बीच के टकराव की टनक है तो एक-दूसरे के भीतर

फैले शून्य को भर पाने की आंकाक्षा भी। एक साहित्यकार शब्दों का जादूगर होता है और बाजीगर की तरह उन्हें अपनी हथेलियों में नचाता है। यहाँ शब्दों का सौदा होता है और जिसकी मुट्ठी जितनी अमीर होती है, वह उतनी शीघ्रता से सफलता के शीर्ष पर पहुँच जाता है।

संदर्भ

1. मैं और मैं, मृदुला गर्ग, पृ॰ 7
2. वही, पृ॰ 13
3. वही, पृ॰ 15-16
4. वही, पृ॰ 17
5. वही, पृ॰ 18
6. वही, पृ॰ 21
7. वही, पृ॰ 27
8. वही, पृ॰ 64
9. वही, पृ॰ 69
10. वही, पृ॰ 49
11. वही, पृ॰ 137
12. वही, पृ॰ 167

मकान नं. 49, **मुकेश कालोनी**
बल्लबगढ़, फरीदाबाद 121004
मो॰ 9711470016

डॉ॰ श्यामसुंदर दुबे की रचनात्मकता का उत्कर्ष 'आलोक अनवरत'

डॉ॰ शिवाजी नामदेव देवरे

हिंदी साहित्य में ललित निबंध विधा का विकास निबंध के प्रारंभिक चरण से ही माना जाता है। हिंदी ललित निबंध को स्वतंत्र विधा की तरह डॉ॰ हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों से ही स्वीकार किया जाता है। ललित निबंध में लेखक की आत्माभिव्यंजना के अधिक अवसर रहते हैं। वस्तुतत्त्व के रूप में यद्यपि ललित निबंध में किसी एक विषय की केंद्रीयता रहती है, किंतु उस विषय के परिगत लेखक अपने चिंतन से अन्य अनेक परिवृत्त निर्मित करता है, जिनमें केंद्रीय विषय का फैलाव लेखक के अपने आत्म-चिंतन के अनुरूप होता है। विषय की केंद्रीयता एक खूँटे की तरह रहती है, किंतु इसके चारों ओर घूमकर विषय-विस्तार की गुंजाइश ललित निबंध में बनी रहती है। ललित निबंध में सांस्कृतिक दृष्टि का विस्तार व्यापकता से होता है। इतिहास, कला, दर्शन, आध्यात्म से संबंधित जीवन-दृष्टियाँ ललित निबंध का कलेवर निर्मित करने में सहयोग करती हैं। समकालीन घटना-प्रसंगों और जीवनगत संदर्भों का ललित निबंध में महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। एक तरह से परंपरा और आधुनिकता का सहसमायोजन ललित निबंध में स्थायी भाव की तरह से है। स्मृति और कल्पना के माध्यम से ललित निबंध में अनेकानेक सौंदर्य-दृष्टियों का उन्मोचन होता है। ललित निबंध की शैली यद्यपि किसी निर्धारित मानदंड का अनुसरण नहीं करती है, किंतु उसमें व्यास, समास और उद्धरण शैलियाँ का समावेश होता है। ललित निबंध भाव और विचार को एक साथ साधने वाली विधा है। उसके शिल्प में कथा, नाटक, कविता आदि विधाओं की शैलियों को आधार बनाया जाता है। ललित की भाषा जीवन के अनेक भाव-बोधों को प्रत्यक्ष करने वाली होती है।

ललित निबंध के प्रारंभिक लक्षण माधवप्रसाद मिश्र, भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, सरदार पूर्णसिंह, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि के निबंधों में प्राप्त होने लगे थे, किंतु ललित निबंध का सही स्वरूप संधान डॉ॰ हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों से ही होता है। बाद में विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, विवेकीराय आदि ने भी ललित निबंध को अपनी रचनात्मकता से विकसित किया। डॉ॰ श्यामसुंदर दुबे का नाम इसी परंपरा में आता है। डॉ॰ दुबे का जन्म मध्य प्रदेश के दमोह जिले के बर्तलाई (एटा) नामक गांव में 12 दिसंबर 1944 को हुआ था। उन्होंने एम॰ए॰ पीएच॰डी॰ तक शिक्षा प्राप्त की। वे अनेक शासकीय महाविद्यालयों में प्रोफेसर के पद पर आसीन रहे। स्नातकोत्तर महाविद्यालय के प्राचार्य पद से वे सेवानिवृत्त हुए। डॉ॰ हरीसिंह गौर केंद्रीय विश्वविद्यालय, सागर की मुक्तिबोध सृजन पीठ के वे निदेशक रहे हैं। उन्होंने काव्य, समीक्षा, कथा, ललित निबंध विधाओं में अनेक स्तरीय पुस्तकों का लेखन किया है।

उनके ललित निबंध के क्षेत्र में अब तक कालमृगया, विषाद बाँसुरी की टेर, कोई दीवार इसी खिड़की से, रामरंग रस भींजी चुनरिया, नेह के नेग और आलोक अनवरत जैसे ललित-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। 'कालमृगया' ललित निबंध-संकलन डॉ॰ दुबे का प्रथम ललित निबंध-संकलन है। इस संकलन के विषय में डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र ने लिखा था कि डॉ॰ दुबे ललित निबंध विधा के संभावनाशील रचनाकार हैं। उनकी निबंध-रचनाओं में परंपरा और आधुनिकता समन्वयक दृष्टिकोण है।' इस निबंध-संकलन के अधिकांश निबंध ऋतुपरक हैं। ग्रीष्म, पावस, शरद और वसंत ऋतु को केंद्र बनाकर रचे गए इन निबंधों में भारतीय मिथकों को नए अर्थ दिए गए हैं। सामाजिक सरोकारों से संबंधित विषयों पर भी इस संकलन में निबंध संकलित हैं, साहित्य की रचना-प्रक्रिया से संबंधित विषयवस्तु वाले निबंध इसमें समाहित हैं। इस संकलन में डॉ॰ दुबे की कल्पना का विस्तार है। उनकी भाषा किंचित क्लिष्ट भी है।

डॉ॰ दुबे का दूसरा महत्त्वपूर्ण ललित निबंध-संकलन है। 'विषाद बाँसुरी की टेर'। इस निबंध-संकलन में डॉ॰ दुबे की सामाजिक दृष्टि का सघन परिचय प्राप्त होता है। विशेष रूप से लोकसमाज की अनेक छवियाँ इस संकलन के निबंधों में प्राप्त होती हैं। लोकजीवन की टूटती परंपराओं और लोक के खारिज होते मूल्यों के प्रति लेखक की चिंता इन निबंधों में प्रत्यक्ष है। ग्रामीण जीवन की अनेकमुखी समस्याएँ इन निबंधों में आकार ग्रहण करती हैं। ऋतुपरक निबंधों में लेखक का यथार्थमूलक दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। इस संकलन में विचारपक्ष की प्रबलता है। यद्यपि भावमूलक सौंदर्यदृष्टि का वैभव भी इस निबंध-संकलन में प्राप्त होता है। इस संकलन की भाषा सहज प्रवाह युक्त है।

'कोई खिड़की इसी दीवार से' डॉ॰ दुबे का तीसरा निबंध-संकलन है– इस संकलन में जिन ललित निबंधों का समावेश किया गया है, उन निबंधों से स्पष्ट होता है कि डॉ॰ दुबे एक परिपक्व ललित निबंधकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इस संकलन के निबंधों में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये ललित निबंध की परंपरा में बहुत कुछ नया जोड़ते हैं। डॉ॰ दुबे का वैज्ञानिक दृष्टिकोण इन निबंधों को विचार का नया स्तर प्रदान करता है। वे कार्य-कारण का सीधा संबंध इन निबंधों में तलाशते हैं। वे अपने कल्पना-विधान में एकदम मौलिक हैं। उन्होंने अपने आसपास से ही अपने प्रतीक और बिंबों का चयन किया है। वे ग्लोबलाइजेशन से लेकर व्यक्ति के एकाकीपन की चर्चा अपने विशिष्ट अंदाज में करते हैं। पूँजीवाद के नए रूपों की चर्चा भी उनके इन निबंधों में प्राप्त होती है।

'राम रंग रस भींजी चुनरिया' के निबंध लेखक की प्रयोग-दृष्टि को अभिव्यक्त करते हैं। इन निबंधों की लेखन-प्रेरणा लेखक को रामचरितमानस की अर्द्धालियों से प्राप्त हुई है। इन अर्द्धालियों की विषयवस्तु को ललित निबंध-शैली में दो तरह से विकसित किया गया है। तुलसीदास के काव्य- सिद्धांतों और काव्य-रचना विमर्शों को लेखक ने ललित शैली में प्रकट किया है। अन्य अर्द्धालियों में प्रकृति-रक्षण का श्रेयस्कर कार्य निबंधों के माध्यम से किया गया है। आम, पीपल, बरगद जैसे वृक्षों के महत्त्व को ललित शैली में प्रकट करके लेखक ने पर्यावरण के प्रति अपनी सचेत दृष्टि का परिचय दिया है। इन निबंधों में सहज प्रवाह है, विचार और भाव का मणिकांचन संयोग इन निबंधों में प्राप्त होता है।

लघुकलेवरीय ललित निबंधों का संकलन है 'नेह के नेग'। इस संकलन में छोटी-छोटी

घटनाओं को केंद्र मानकर निबंधों का लेखन किया गया है। जीवन के व्यवहारपक्ष से उठाए गए इन निबंधों में वस्तुसंगठन कसा हुआ है। अपने दैनंदिन जीवन के समान्य प्रसंगों को इन निबंधों में विस्तार दिया गया है। वैचारिक दृष्टि से इन निबंधों का अपना महत्त्व है। इनकी भाषा प्रांजल और सहज है। अधिकांश निबंधों में लोकजीवन के संदर्भ प्राप्त होते हैं।

'आलोक अनवरत' डॉ॰ दुबे का प्रतिनिधि निबंध-संकलन है। इसके निबंध लेखक के प्रौढ़ चिंतन और दीर्घ अनुभवों को अभिव्यक्त करते हैं। इस संकलन में कुल तेईस निबंध संकलित हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इस संकलन में विषय-वैविध्य है। समसामयिक जीवन-बोध के व्यापक विस्तार को समेटने वाले 'देह दिया में प्राण की बाती, लौटना एक चिड़िया का, नए पुल पर पहली बार, बौराए आम का उत्तरचरित, पिता आखिर पिता जैसे निबंध इसमें समाहित हैं। पर्यावरणीय चिंतन को प्रकट करने वाले निबंधों में 'तब लगि बैठि रहेऊ वा छांही', 'पीपर तरुवर ध्यान सो धरई', 'नव तुलसीदल मंगलमूला' आदि निबंध हैं। सांस्कृतिक प्रतीकों को नए अर्थ देने वाले निबंधों में दूर्वा : पृथ्वी का मंगल विधान, पाषाण पर पुलकती आस्थाएँ में, धरती के धारक, मंगल ऊर्जा के आदि स्रोत, ओंकार की मंगल-ध्वनि, महाकाल का नटराज स्वरूप, सांस्कृतिक चेतना का संवाहक पुष्प, जीवन की संपूर्णता का कलश बोध, बिंदु ही सृजन का समारंभ, दीपपर्व पर दीप-चिंतन, संस्कृति का आदिस्रोत आदि निबंध महत्त्वपूर्ण हैं।

इस संकलन में डॉ॰ दुबे के चिंतन के अनेक आयाम उजागर हुए हैं। डॉ॰ दुबे ने अपने इस निबंध-संकलन में परंपरा से निषेचित जीवन-सत्य को अपनी आत्मप्रक्रियाओं से संश्लिष्ट करते हुए वर्तमान की तनावधर्मी विसंगतियों के साथ जो अनुकूलन स्थापित किया है, वह हमारे समय की अनेक जिज्ञासाओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है और नई जिज्ञासाओं को जगाता भी है। इस निबंध-संकलन में लोकजीवन के अनेक पक्ष प्रस्तुत हुए हैं। इसमें लोक को केवल स्मृति का विषय नहीं बनाया गया है, बल्कि लोक को तहस-नहस होते जीवनमूल्यों की चिंता करते निबंधकार ने लोकपरंपराओं के परीक्षण-हेतु अपनी बौद्धिक प्रतिक्रियाएँ भी प्रस्तुत की हैं। ये प्रतिक्रियाएँ लोकजीवन की उस ऊर्जा की तलाश करती हैं, जिसमें लोक को पुनर्नवा करने की विपुल संभावनाएँ हैं, इस निबंध-संकलन में भारतीय जीवन की मूल्य-मान्यताओं को जिस वैचारिक परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त किया गया है, वह नए भारत के नए संकल्पों का प्रकाश आलेख है।

यह संकलन अपने शीर्षक के अनुकूल ही अपने निबंधों में विषयवस्तु को सँजोए हुए है। आज जो अनेकमुखी अँधेरा हमारे चारों ओर सक्रिय है—उसने हमारी जीवनगत आस्थाओं को खंडित कर धूमिल किया है। विश्वास के विरवे इस सड़ाँध और सीलन भरे वातावरण में मुरझा रहे हैं। ऐसे आत्महंता समय में ये निबंध दीए की लौ को उकसाने का काम कर रहे हैं। उजाले की पक्षधरता में रचे गए इन निबंधों में जीवन का शाश्वत संदेश समाया हुआ है। उजाला कभी पराजित नहीं होता है। वह सतत् है। इन निबंधों की केंद्रीय ऊर्जा से निसृत अनुभव आशय हमारे जीवन की निबिड़ताओं में हमें किरण का रंध्रभर आलोक देने में समर्थ हैं तो यह शब्द की सत्ता की ही ताकत है।

भारतीय चिंतन बहुआयामी होते हुए भी अपने अंत:करण में एकता का अनोखा आख्यान है। उसके प्रतीकों में प्रकृति और मनुष्य की एकता का अद्‌भुत संदेश समाया हुआ है। इस संकलन में संकलित कतिपय निबंध उन भारतीय प्रतीकों की पुनर्व्याख्या करते हैं, जो भारतीय मनीषा के गहनतम चिंतन से उद्‌भूत हैं। प्रतीकों के परंपरागत विमर्श में अपने समकालीन जीवन की

अर्थच्छवियों से प्रदीप्त नवीन उद्‌भावनाएँ इन निबंधों को अभिनव ललित उन्मेष प्रदान करती हैं। इन प्रतीकों की अंतर्व्याख्या करते हुए लेखक ने लोक तथा अपने समकालीन बोध को जोड़कर इनमें निहित सत्य को प्रकट किया है। इन प्रतीकों के साहित्यिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक आशयों के साथ अन्य आशयों को प्रकट किया गया है। बौद्धिक और भावनात्मक विमर्श के लिए इन निबंधों में काफी स्पेस है।

पर्यावरण की चिंता आज एक प्रमुख चिंता है। हमारा पर्यावरण इतना प्रदूषित हो चुका है कि हमारी सहज जीवन-चर्या में विक्षेप पैदा हो गया है। अवर्षा, अतिवर्षा, तूफान, गर्मी, शीत की अतिशय चपेट में हम निरंतर रहते हैं। इससे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। हम पहाड़ों को तोड़-फोड़ रहे हैं। उन्हें पोला करते जा रहे हैं। जंगल साफ हो रहे हैं। पेड़ काट रहे हैं। जल का बेतहाशा व्यर्थ का इस्तेमाल कर रहे हैं। इन सबका असर हमारे जीवन पर पड़ रहा है। जरूरत इस बात की है कि हम फिर से प्रकृति-संरक्षण पर विचार करें। भारतीय दृष्टि में प्रकृति को देवता माना गया है। इस देवता को हम प्रसन्न रखें। इस संकलन में कतिपय ऐसे निबंध हैं, जो इस ओर संकेत करते हैं। पर्यावरण- प्रदूषण की दुश्चिंताओं का इजहार करते निबंधकार ने इस कृति के अंतरंग में अपनी आस्थावादी भविष्य दृष्टि को भी समावेशित किया है। भारतीय जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए किए जा रहे तमाम प्रयासों के बीच सर्जना का यह उपक्रम एक समर्थ समारंभ है।

लेखक डॉ॰ दुबे अपने इन निबंधों में जिस आशावाद का संचार करते हैं, वह आज के हताशा से भरे माहौल में एक जरूरी भावबोध है। हमारे भीतर से सेवा, करुणा, दया, परोपकार जैसे भावों का समापन हो रहा है। हम मनुष्य होने का गौरव खोते जा रहे हैं। इन तथ्यों के बीच ही लेखक 'जीवन सौभाग्य है', 'जीवन जीने योग्य है', जैसे भाव-बोध से हमें जागृत करता है। लेखक का मानना है कि विपरीत से विपरीत परिस्थितियों के बीच हमें आशा का दीपक जलाए रखना है। इस रूप में इन निबंधों में जीवन का विषाद, जीवन का संघर्ष जीवन का यथार्थ तो है ही, इन सबसे बड़ा भाव है कि इनसे पराजित नहीं होना है। इन सबके साथ चलते हुए हमें अपने उल्लास को बनाए रखना है। यह उल्लास ही जीवन की ऊर्जा है। जीवन ऊर्जा का अक्षयस्रोत ये निबंध आज जरूरी हैं।

इस संकलन का प्रारंभिक निबंध है 'देह दिया में प्राण की बाती' यह निबंध लेखक की पवनार आश्रम की यात्रा के अनुभवों को ललित निबंध के रूप में बाँधता है। 'धाम' नदी पर बने गांधी और बिनोबा के स्मारकों की चर्चा करते हुए गांधी को लेखक जैसे युगावतार मानता है। वह कहता है कि प्रत्येक युग के अँधेरों को दूर करने के लिए महात्मा गांधी जैसे कर्मसाधक की जरूरत पड़ती है। लेखक मानता है कि अँधेरे के भीतर ही उजाले के बीज छिपे रहते हैं। 'युग का अँधेरा जितना गहरा होता जाता है, उतनी ही प्रकाश ऊर्जा उसके नाभि-केंद्र में संघनित होती रहती है। अँधेरे के अनंतमुखी दबावों के अंदरूनी हलकों में कोयले की आण्विक संरचना में किरण चेतना की हीरक उजास अपना स्वरूप-संधान करती रहती है। भादों की अँधियारी रात के मध्य में काले-काले बादलों से घिरे कारागार में युग को प्रकाशित करने वाला एक लोकदीप अवतरित हुआ था। एक ऐसा दीप, जो अपनी उजली-उजली प्राणशिखा से ब्रज को जगर-मगर करता हुआ गोपियों के हृदय में छिपे बैठे अँधेरों को अपनी चोर मुस्कान से आलोक में बदलता रहा है।' निबंधकार ने प्रकाश की प्राप्ति को साधना के सोपानों में अवलोकित किया है। साधना ही साधारण से साधारण

मनुष्य को प्रेरणा देने का प्रकाश-स्रोत बनाती है।

प्रकाश की चर्चा करते हुए लेखक ने निर्भयता का उल्लेख किया है। लेखक मानता है कि निभर्यता का प्रकाश ही तमाम अँधियारों को नष्ट करता है। जहाँ निभर्यता का निवास होने लगता है, वहाँ का अँधेरा उजाले में बदल जाता है। इस देश को भारत यों ही नहीं कह दिया गया है। 'भा' अर्थात् प्रकाश में जो निरंतर 'रत' है–वही भारत है।' लेखक का मानना है कि प्रकाश का स्वभाव फैलने का है–वितरित होने का है। 'जो प्रकाश को पा लेता है, वह प्रकाश को फिर अपने पास में सीमित करके नहीं रख सकता है। प्रकाश का स्वभाव ही वितरित होने का है।

हमारे समकालीन जीवन के छल-छद्मों का भी लेखक ने इस निबंध में उल्लेख किया है। पूँजीवाद के घिनौने चेहरों की ओर संकेत करते हुए लेखक लिखता है, 'यह कैसा विश्वग्राम है, जहाँ अरबपतियों की बाढ़ से चौंधियाया मेरे देश का किसान ठगा-सा खड़ा है। अपनी जमीन पर भी वह अपने श्रम का उत्सव नहीं मना पा रहा है।' संपूर्ण निबंध में लेखक ने भारतीय जीवनमूल्यों को महत्त्वपूर्ण मानते हुए उनकी सुरक्षा और संरक्षा का बोध इस निबंध में प्रस्तुत किया है। निबंध में अनेक उद्धरण और उदाहरण दिए गए हैं। इनके माध्यम से निबंध संप्रेषणीय है। निबंध की भाषा सहज, सुबोध और प्रवाहमयी है। लेखक की यह विशेषता है कि जहाँ चिंतन की गहनता होती है, वहाँ भाषा में भी बिंब-प्रतीक देकर लेखक उसे सहज-सुबोध बना देता है।

इस संकलन का दूसरा महत्त्वपूर्ण निबंध है, 'नए पुल पर पहली बार।' गाँव और शहर को जोड़ने वाला पुल बनता है। यह नया पुल गाँव के मन में पल रहे हजारों वर्षों के सपनों को साकार तो करता ही है, गाँव की जद्दोजहद भरी जिंदगी को राहत भी देता है। लेखक जब पहली बार इस पुल से गुजरता है तो उसकी स्मृतियों में सहसा अनेक घटनाएँ घटित होने लगती हैं। पुल के उसे अनेक रूप, उसकी अनेक भावभंगिमाएँ अनायास याद हो आती हैं। लेखक के अनुसार, 'सैकड़ों-हजारों बार अनेकानेक पुलों से गुजरा हूँ। कभी पैदल-पैदल तो कभी वाहनों के जरिए और हर बार मुझे अनुभव होता रहा है कि मैं पुल पर से नहीं गुजर रहा हूँ, बल्कि पुल मेरे भीतर से गुजर रहा है। मेरे रक्त का हिस्सा बनकर, मेरी धड़कनों में धड़धड़ाता-थरथराता हुआ, मेरी भाव-संधियों में कँपकँपी भरता हुआ, मेरे पुलकों में रोमांचित होता हुआ। पुल चीखता है, पुल बिसूरता है, पुल सपने देखता है, पुल लौटता-पलटता है, ठिठकता-बिदकता है। लेखक को उन अनेक पुलों की याद आ जाती है, जिन पर से जीवन-व्यापार की अनेक यात्राएँ अनेक तरह से गुजरती रही हैं। पुल पर चलती बैलगाड़ी, पुल पर से चलते बड़े-बड़े यंत्र-वाहन, पुल पर चलते पैदल यात्रियों की आत्मीयता से परिपूर्ण दृश्य लेखक के स्मृति-पटल पर अंकित होने लगते हैं।

पुराने पुलों की बनावट को लेखक याद करता है और सोचता है कि इन पुलों के भीतर जैसे अनेक नौकाएँ समा गई हैं। अब इस नदी को पार करने के लिए नौकाओं की जरूरत नहीं रहती है। पुराने पुल धीरे-धीरे प्रकृति का हिस्सा ही बन गए हैं। पुल ने लेखक को उन अनेक स्मृतियों से रू-ब-रू कराया है, जो उसके बचपन के साथ ही खो गई थीं। उसके अनुसार, पुल के पायों में अटक गई हैं, न जाने कितनी नौकाओं की अनथक यात्राएँ, जो अब कभी नदी की छाती को चीरकर गतिशील नहीं होंगी। पुल की ईंटों के महीन रंध्रों में छिपी हैं, नौकाओं की अनेक यात्राओं की सुखद परिणतियाँ। नदी के जल में तैरती मछलियों जैसी नौकाओं और डोंगियों से भरी हैं–नदी की अनंत सुखानुभूतियाँ। वे अभी भी ठीक वैसी ही पुल के किसी पाये की तलहटी में

अटकी हैं। और अटकी है वह अदृश्य नाव, जिसमें बैठकर मेरे पिता शहर से हाट करके लौटते थे। मैं अपने बचपन के दिवा-स्वप्नों में हाट की न जाने कितनी गतिविधियों और न जाने कितनी दृश्य-श्रेणियों को अनुभव करके उद्वेगमयी प्रसन्नता से भर उठता हूँ। पुल जैसे स्मृतियों का पुल बनाने लगता है।

पुल के बहाने लेखक को अपने समय के बाजार की याद भी आती है। आज हम बाजारवाद की गिरफ्त में हैं। लेखक लिखता है, 'अब बाजार इस पुल पर से फटाफट दौड़ लगाएगा। किसान क्रेडिट कार्ड और सरपट योजना गाँवों को एक नई ऊर्जा से लैस करने वाली है। इस ऊर्जा के स्रोत होंगे शराब और पेट्रोल। ये दोनों मिलकर बारास्ता पुल इस पार वाले गाँवों की नई कैमिस्ट्री बनाएँगे। पुल शहर के दुर्गम गाँवों तक ले जाएगा। लेखक के मन में यह आशंका है। वह लिखता है कि बाजार की ताकत बहुत विशाल है—वह बहुत क्रूर हो गया है। 'बाजार के जबड़ों में सोना जड़ दिया गया है। वह आपको कच्चा भी चबाएगा तो भी आप उसके सोने की चमक में चमत्कृत होकर अपने कटने-फटने को भूल जाएँगे।' इस सबके बावजूद लेखक का स्वर आशावादी है। वह मानता है, 'पुल बना है, एक साध पूरी हुई है। पुल तो एक आस्था है। एक विश्वास है। समय के चरणचिह्नों का एक भव्य स्मारक है। दुस्तर नदी पर मनुष्य की मेधा और मनुष्य के श्रम का यह सतत पग-विन्यास है। यह पुल राजरथ का गरिमामय पथ भी है तो पिपीलिकाओं के लिए सुगम पथ भी है।' नए प्रतीकों और नए बिंबों से परिचित यह निबंध, ललित निबंध के क्षेत्र में निश्चित ही नए बदलाव की सुगबुगाहट देता है।

'पिता आखिर पिता है' निबंध में लेखक ने पिता की अनेकमुखी चिंताओं को उजागर किया है। इस समय पिता साँसत में हैं—वह अपनी संतानों को अपने संस्कार देकर उन्हें सही दिशा में प्रेरित करना चाहता है, किंतु संतानों को इन सबसे कोई मतलब नहीं रह गया है। वे अपने कैरियर को बनाने में लगे हुए लोग हैं। पुत्र के व्यक्तित्व के निर्धारण में पिता की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, किंतु यह भी ध्यान रखने की बात है कि पिता एक ब्लैक होल भी है। यदि पुत्र ने अपना निजी व्यक्तित्व नहीं बनाया तो वह पिता की छाया में विलीन हो जाता है। लेखक ने यह भी स्वीकार किया है कि पुत्र की अपेक्षा पुत्री में पिता के प्रति अधिक संवेदना होती है। वह पिता का ध्यान सदैव रखती है। लेखक लिखता है, 'बेटी की वेदना का विस्तार बड़ा व्यापक है। बचपन से उसने पिता की हर आवश्यकता को जाना-समझा है। पिता के लिए बेटी अनकही अनिवार्यता है।' वर्तमान समय में पिता के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि पिता तो आखिर पिता ही होता है। इस कठिन समय में भी पिता की भूमिका में विचलन नहीं है। बल्कि अब पिता अपनी संतानों के भविष्य के लिए आकाश-पाताल एक कर रहा है। उसका समस्त अर्जन- उपार्जन संतान-केंद्रित हो रहा है। संतान पर वह खुले हाथों व्यय कर रहा है। यद्यपि यह काम व्यवसाय आधारित है। पिता के लिए बच्चा पैकेज बन गया है। इस पैकेज के लिए वह स्वयं बिकने को तैयार है। पिता पर निबंध कम ही लिखे गए हैं। इसलिए यह निबंध इस रूप में महत्त्वपूर्ण है कि पिता-पुत्र के संबंधों की बदलती धारणाओं को इसमें यथार्थ के धरातल पर अभिव्यक्त किया गया है। अनेक संदर्भों और उदाहरणों के माध्यम से लेखक ने अपने कथनों को परिपुष्ट किया है। लेखक की भाषा इस निबंध में चिंतनपरक है, किंतु उसमें प्रवाह है।

प्रकृति और पर्यावरण से संबंधित कुछ निबंध इस ललित निबंध में संकलित हैं। उनमें से

'ऋतु पावस नियरानी', 'नव तुलसीदल मंगलमूला' और दूर्वा : पृथ्वी का मंगल विधान' प्रमुख हैं। साहित्य में प्रकृति की उपस्थिति मनुष्य की संपूर्णता को पाने की चेष्टा का ही अंग है। प्रकृति बिना मनुष्य खंडित मनुष्य है। प्रकृति निरंतर मनुष्य की सुरक्षा की पहरेदार है। प्रकृति मनुष्य की माँ है, पत्नी है, वह मनुष्य को पोषित करती है–वह मनुष्य को आह्लादित करती है। हम अपने इस कठोर समय में प्रकृति से दूर होते जा रहे हैं। हम प्रकृति को तहस-नहस भी कर रहे हैं। उसे अपने स्वार्थों के कारण नष्ट करने पर उतारू हैं। लेखक ने प्रकृति के अनेक रूपों-रंगों को अपने लेखन में स्थान दिया है। उनके ललित निबंध तो जैसे प्रकृति की शोभा के केंद्र ही हैं। उन्होंने अपने निबंधों में प्रकृति के नष्ट होने की भी चिंता को महत्त्वपूर्ण माना है। श्रद्धालुओं और प्रकृति का विकल्प हमारी टेक्नोलॉजी के पास नहीं है। लेखक के अनुसार, अब बड़े नगरों में प्लास्टिक के पेड़ सड़कों पर लगाए जा रहे हैं। ये पेड़ एक ही दृश्य सज्जा में सदैव तैनात रहेंगे। न इन पर कोयल बोलेगी, न इन पर भौंरे डोलेंगे। ऋतु-परिवर्तन के बोधकारी पहचान चिह्नों से लोग अनभिज्ञ होते जाएँगे। कम-से-कम वे लोग तो अनभिज्ञ होते जाएँगे, जो विशाल भवनों के संकुल में जनम लेंगे और वे उन सड़कों पर तेज रफ्तार वाहनों में सवार होकर बड़े होंगे, जिन सड़कों पर धरती का वानस्पतिक साहचर्य उन्हें उपलब्ध नहीं हो पाएगा। ऋतु भाषा से नितांत अपरिचितजन टेक्नोलॉजी के सहारे भले ही अपनी इंद्रिय संवेदनाओं की सुग्राह्यता और सामर्थ्य बढ़ा लें, लेकिन ये बढ़ी हुई सामर्थ्य उन्हें आस्वादन के धरातल पर प्राकृत नहीं रहने देगी।

'ऋतु पावस नियरानी' निबंध में लेखक ने ऋतुओं की महत्ता के साथ उसके बारहमासी सौंदर्य को व्यक्त किया है। हिंदीकाव्य में षड्ऋतु और बारहमासा की परंपरा है। छह ऋतुओं में बदलती प्रकृति और उनके अनुकूल मनुष्य की बदलती मनोभावनाओं की चर्चा लेखक ने इस निबंध में की है। इसी तरह बारहमासा के अंतर्गत बारह महीनों की प्रकृति के साथ बदलते लोकमानस की छवियाँ भी निबंध में प्रकट हुई हैं। इस निबंध में वर्षाऋतु से संबंधित काव्य की विस्तार से चर्चा है। जायसी से लेकर निराला तक के काव्य में पाई जाने वाली वर्षा-संबंधी अनुभूतियों की चर्चा लेखक ने विस्तार से की है। यह ललित निबंध अपनी शैली में जहाँ विश्लेषणपरक है, वहीं इसमें भाषा का सौंदर्य भी सुरक्षित है।

'नव तुलसीदल मंगलमूला' निबंध में तुलसी के पौधे को ही केंद्र बनाया गया है। घर-घर में पूजित तुलसी से संबंधित पौराणिक कथाओं के उल्लेख के साथ तुलसी के सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक महत्त्व की चर्चा इस निबंध में की गई है। काव्य में तुलसी का कैसे स्मरण किया गया है। इस ओर भी लेखक ने संकेत दिए हैं। लोकजीवन में तुलसी के महत्त्व को रेखांकित करने वाले संदर्भ भी इस निबंध में प्राप्त हो जाते हैं। तुलसी के विवाह की चर्चा के साथ तुलसी के औषधीय गुणों को भी इस निबंध में व्यक्त किया गया है। तुलसी के ऐतिहासिक महत्त्व की चर्चा करते हुए लेखक लिखता है, 'तुलसी का इतिहास प्रणति का है, लघुता का इतिहास है, भावुक समर्पण का इतिहास है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में तुलसी का पौधा अपदार्थ जैसा ही रहा। सोमलता की मादकता का खुमार भले ही उन्हें ज्ञान और दर्शन, स्तुति और यजन में लंबे काल तक उनकी मेधा मुग्धता में उन्हें उन्मन किए रहा हो और उन्हें ब्रज तो याद आता रहा, किंतु वृंदावन नहीं। तुलसी की सौम्यता का भावों की समतल भूमि पर संप्रसारण वेदांत की भूमि पर हुआ है। बाद में एक झबरैला-झबरैला सा लघु झाड़ीनुमा पौधा अपनी झन्नाटेदार आमद से संपूर्ण सांस्कृतिक

परिदृश्य को आच्छादित करने लगा। झाऊ जैसी अर्द्धबनैली झाड़ियों के मध्य यह पौधा अपनी समूह-साधना अपने ईषत चरपरे संवाद से एक वन ही रच देता है। इस वन के कारण ही इस प्रदेश का नाम वृंदावन पड़ जाता है। तुलसी को अनेक सामाजिक संदर्भों से जोड़कर लेखक ने तुलसीविषयक व्यापक आयामों को अपने ललित अंदाज में प्रस्तुत किया है। पर्यावरण को प्रदूषणमुक्त करने में इस नन्हे पौधे की अपनी महत्ता है–इस ओर लेखक ने पर्याप्त संकेत दिए हैं।

तुलसी की तरह भारतीय संस्कृति में दूर्वा का महत्त्व है। 'दूर्वा : पृथ्वी का मंगल-विधान' निबंध में लेखक ने दूर्वा की विस्तार से चर्चा की है। दूर्वा को आस्था और श्रद्धा का प्रतीक मानते हुए लेखक लिखता है, 'दूर्वा आस्था भी है, दूर्वा श्रद्धा भी है। आस्था-सी फैली और श्रद्धा-सी जाग्रत। इन्हीं गुणों के कारण दूर्वा हर मंगल कार्य में उपस्थित रहती है। विवाह हो, व्रत हो, उत्सव हो, पूजन हो, दूर्वा इनमें अनिवार्य होती है।' दूर्वा को लेखक ने पृथ्वी की रक्षिका शक्ति माना है। परमाणु बम के धमाकों से पोली होती धरती और उसकी सतह पर विकसित होती रेडियोधर्मिता, चट्टानों और पत्थरों की तोड़-फोड़ से आतंकित सुरंगों की भयावह शक्ल लेती पहाड़ियाँ अत्यधिक उर्वरकों के प्रभाव से नस-नस को तोड़ते खेतों में जनमती रेत-राशि को दूर्वा अपनी आत्मीय हथेली से ढँक देना चाहती है। वह तमाम उन जगहों पर अपनी उपस्थिति देना चाहती है, जहाँ वनस्पतियों को उखाड़ने और उन्हें नेस्तनाबूत करने का षड्यंत्र चल रहा है। दूब की अपनी पक्षधरता है। वह धरती पर कमजोर पड़ती मानवीय संवेदना की धारणा को और व्यापक और सुदृढ़ और अधिक शक्तिशाली बनाना चाहती है। दूब के आचरण को मानवतावादी दृष्टिकोण प्रदान करता लेखक दूब की चर्चा के अनेक प्रसंग अपने इस छोटे निबंध में करता है। लेखक की भाषा की सूक्तिपरकता के दर्शन इस निबंध में यदा-कदा हो जाते हैं।

भारतीय प्रतीकों की नई अर्थच्छवियों का प्रकाशन इस संकलन के कतिपय निबंधों में हुआ है। 'ओम', 'स्वस्तिक', 'नटराज', 'कमल', 'कलश आदि में निहित प्रतीकात्मक आशयों का तर्कसम्मत विश्लेषण लेखक ने ललित शैली में किया है। 'मंगल ऊर्जा का आदिस्रोत' निबंध में लेखक ने 'स्वास्तिक' के चित्र की विस्तार से चर्चा की है। 'स्वास्तिक' की उत्पत्ति सूर्य की आकृति से हुई है। 'स्वास्तिक' में ऊँ का भी रूपांतरण है या स्वास्तिक से ही ऊँ का निर्माण हुआ है। यज्ञ की अरणियों द्वारा अग्नि उत्पन्न करने की प्रक्रिया का निदर्शन स्वास्तिक के चिह्न की प्रतीकात्मकता में निहित है। हनुमान और गणेश की आकृतियों में भी स्वास्तिक का आधार लिया गया है। स्वास्तिक मांगलिक चिह्न है। विशेष मंगल-विधानों में इसका अंकन होता है। बोली क्षेत्रों में इसे 'सांतिया' कहा जाता है। घरों के द्वारों पर इसको मंगलचिह्न की तरह अंकित किया जाता है। यह चिह्न न केवल भारत में बल्कि हिंदोशिया, जावा, सुमात्रा, कंबोडिया, चीन, जापान, मेक्सिको आदि देशों में भी मंगल प्रतीक के रूप में प्रचलित है। वैज्ञानिक ढंग से इस चिह्न की व्याख्या लेखक ने की है।

'जीवन की संपूर्णता का कलश बोध' शीर्षक निबंध में लेखक ने कलश में निहित पवित्र बोध को अभिव्यक्ति प्रदान की है। निबंध के प्रारंभ में लेखक ने जल की महत्ता का उल्लेख किया है। जल जिस पात्र में रखा जाता है, वह पात्र भी पवित्र होता है। लेखक ने प्रकट किया है, 'जल को जितना पूजनीय, पवित्र और पुण्यप्रदाता माना गया है, उतना ही महत्त्व उसके पात्रों को दिया गया है। जल के पात्र को कलश, कुंभ, घट आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

'कलश-स्थापना' प्रत्येक मांगलिक कार्य के प्रारंभ में की जाती है। पवित्र नदियों का जल जिस कलश में स्थापित रहता है, वह कलश पूजनीय हो जाता है। 'कलश' अपनी संरचना में ब्रह्मांड का प्रतीक है। कलश की स्थापना प्रत्येक पूजन-विधान के अवसर पर की जाती है। यह यद्यपि वरुण देवता का पूजन है, किंतु इसे हम जल की सुरक्षा का भी अभिप्राय मान सकते हैं। भारतीय मनीषा सदैव अपने पर्यावरण के प्रति सचेत रही है। कलश-पूजन में यह सत्य निहित है।

'दीपपर्व पर दीप-चिंतन' निबंध में दीप के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है, दीप प्रकाश का स्रोत है। प्रकाश का प्रतीक है। लेखक के अनुसार दीपक का प्रतीक चिंतन और रहस्य-भावना के अंतर्गत युगों से अपनी प्रकाश-साधना विकीर्ण कर रहा है। स्वाधीन चिंतन और बुद्धिवाद का प्रारंभ दीपक के रूपक ने ही दिया है। भगवान बुद्ध ने व्यक्ति की भीतरी शक्ति का स्टोर ही सब-कुछ माना। उन्होंने व्यक्तिपूजा और ग्रंथ का विरोध किया। आत्मअन्वेषण को महत्त्वपूर्ण माना तथा सत्य को बाह्य मानकर व्यक्ति के अंत: से उद्भूत माना। जैसे दीपक का सत्य उसकी प्रकाश-चेतना है। बुद्ध का मार्ग बुद्धि और विवेक का था। दीपावली की रात में दीपक की पूजा और दीपमाला का आयोजन अंत: और बाह्य को प्रकाशित करने का ही संकेत देता है। लेखक ने इस निबंध में शरद ऋतु, दीपावली और दीप, सत्ताओं का विस्तार से विवेचन किया है।

इस संकलन में यात्रा-संस्मरण के रूप में 'संस्कृति का आदिस्रोत' निबंध संकलित है। इस यात्रा-स्मरण में लेखक द्वारा की गई अमरकंटक की यात्रा का वर्णन है। अमरकंटक का भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक वर्णन इस निबंध में ललित शैली में किया गया है। अमरकंटक को लेखक ने न केवल बाह्य नेत्रों से देखा है बल्कि अपने अंतर्चक्षुओं के माध्यम से भी इसे अनुभव किया है। इस अवलोकन के माध्यम से कुछ नए प्रतीकाभास इस निबंध में प्राप्त होने लगते हैं। कपिलधारा की चर्चा करते हुए लेखक ने लिखा है, नर्मदा का यह जलप्रपात अपनी आकृति, अपने रंग में एकदम गाय जैसा दिखता है। इसी प्रपात के नीचे एक छोटा प्रपात है। यही कोई आधा किलोमीटर की निचाई पर। इसे दूधधारा का नाम दिया गया है। इन नामकरणों के पीछे गाय का रूपक ही बनता है। यह निबंध नदी को केंद्र बनाकर रचा गया है। इसलिए नर्मदा के उद्गम-स्थल का तो इसमें वर्णन है ही। इसमें नर्मदा नदी से संबंधित पौराणिक और लोकविश्वासों के रूप में प्रचलित कथाओं का भी समावेश किया गया है।

'आलोक अनवरत' की भाषा में काव्य जैसी रससिक्तता, विश्लेषण और चिंतनपरक वैचारिक संश्लेष और उद्धरणपरक व्यासशैली का समुच्चय प्राप्त होता है। भाषा के नवीन भावरूपों की रचना में लेखक की कल्पना का वैभव प्रत्येक निबंध में प्रस्फुटित होता है। डॉ॰ श्यामसुंदर दुबे हिंदीभाषा में भाषा की विभिन्न छवियों और मुद्राओं के लिए नए-नए प्रतिमान गढ़ने में सफल ललित निबंधकार हैं। उन्होंने अपने आसपास से एवं अपने समय से ही प्रतीक और रूपक चुने हैं। उनका बिंब-विधान एकदम इंद्रियग्राह्य है। उन्होंने तत्सम शब्दावली का प्रयोग तो किया ही है। लोकभाषा के शब्दों का भी वे प्रयोग करते हैं। अँग्रेजी, उर्दू, अरबी, फारसी के शब्दों को उनकी भाषा में परिलक्षित किया जा सकता है। उनकी भाषा में व्यंजना शक्ति का अद्भुत समावेश है। उनकी यह भाषा जहाँ संप्रेषण में सक्षम है, वहीं वह अपने सौंदर्यबोध में अप्रतिम भी है।

कृष्णभक्ति काव्य एवं संगीत के आधारभूत तत्त्व

डॉ. अनीता जौहरी
एसोसिएट प्रोफेसर संगीत
कन्या महाविद्यालय आर्यसमाज, भूड़, बरेली

संगीत शब्द 'गीत' शब्द में सम् उपसर्ग लगाकर बना है। सम् यानी सहित और गीत यानी गान। गान के सहित अर्थात् अंगभूत क्रियाओं व वादन के साथ किया हुआ कार्य संगीत कहलाता है–नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवृत्ति चं। अतो गीत प्रधानत्वादत्रादावभिधीयते।[1]

श्री भातखंडे जी के अनुसार संगीत समुदायवाचक नाम है। इस नाम से तीन कलाओं का बोध होता है। ये कलाएँ गीत, वाद्य एवं नृत्य हैं। आचार्य शार्ङ्देव के अनुसार–'गीतं वाद्यं तदा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।[2] संगीतदर्पणकार के अनुसार–'गीतं वाद्यं नर्तं च त्रयं संगीतमुच्यते।[3] इसी प्रकार पंत्र अहोबल ने भी लिखा है–'गीत वादित्र नृत्यानां त्रयं संगीतमुच्यते।[4] गायन, वादन व नृत्य का सम्मिलित रूप ही संगीत है। इन तीनों कलाओं में गायन सार्वभौम है। पंत्र विष्णुनारायण भातखंडे जी अपने संगीत-ग्रंथ 'संगीतशास्त्र' में लिखते हैं–'इन तीनों कलाओं में गीत वर्ग प्राधान्य है, अतः केवल संगीत नाम ही चुन लिया गया है।[5] समस्त कृष्णभक्त कवियों ने शास्त्रीय संगीत के मौलिक सिद्धांतों का अपने पदगीतों अर्थात् काव्य-रचनाओं में पूर्णतः निर्वाह किया है। प्रमाणतः भक्त कवियों की रचनाओं में शास्त्रीय संगीत से संबंधित अनेकानेक पारिभाषिक शब्दावलियों का उल्लेख मिलता है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

ग्राम, मूर्च्छना तथा तानों के उनचास प्रकारों का उल्लेख–

मुरलिया बाजति है बहुवान,
तीन ग्राम, इकईस मूर्छना, कोटि उनचास तान।[6]

स्वर, श्रुति व तान का उल्लेख–

सुर, श्रुति तान बंधान अमित अति सप्त अतीत अनागत आवत।[7]

स्वर व सरगम का उल्लेख–

सरगम सुनी के साधि सप्त सुरनि गाई।[8]

सप्तक के भेदों का उल्लेख–

कबहुँक नृत्य करत कौतूहल सप्तक भेद दिखावत।[9]
सुर ललना सहित विमोह, रप्यो मधुर सुर गान।
प्यारे नंदलाल हो! मोही तेरी चाल हो!
ईषद मुसुकानि बीच, मंद मंद बोल।[11]
प्रथम नाद कल घेरि निकट ले, मुरली सप्तक सुर बंधान सौं।[12]
ग्वालनि संग रंग भरयों भावत, गावत आछी तान।[13]

सवन सुहाई गारि दै गावति', ऊँची तान लेतिं प्रिय गोरी।[14]
गावति सबै मधुर सुर गोरी, तान लेति दै दै झकझौरी।[15]
गावत स्याम स्यामा संग,
सुधर गति नागरि अलापति, सुर भरति पिय-संग।
तान गावति कोकिला मनु नाद अलि मिलि देत।[16]
जेंवत गावत है सारंग की तान कान्ह सखिन के मध्य
छाक लेत कर छीने।[17]
मंद मंद सुर मोहन पूरत राग मलार बलावत।[18]

गायन, वादन व नृत्य का मिश्रित स्वरूप–

बंसी री बन कान्ह बजावत
सुर श्रुति तान बंधान अमित अति सप्त अतीत अनागत आवत।[19]
नंदनंदन सुधराई बाँसुरी बजाई।
सरगम सुनी के साधि सप्त सुरनि गाई।
अतीत अनागत संगीत बिचतान मिलाई।
सुरताल अरु नृत्य ध्याइ पुनि मृदंग बजाइ,
सकल कला गुन प्रवीन, नवल बाल भाई।[20]
कबहुक नृत्य करत कौतूहल सप्तक भेद दिखावत।[21]
इक दइटति हक नृत्यति, एक तान लेति उपज,
इक दै करताल हरषि गावत है गौरी।[22]
नारी बात सुनत ही धाई, पेरि लिये कौकिल-सुर गाई।[23]

तान का उल्लेख–

पिचकार नीकें करि छरकत गावत तान तरंग।[24]

नाद का उल्लेख–

मदनगोपान बेनु नीको बाजत मोन नाद सुनत भई बावरी।[25]
राग रागिनी के उपजावत बेनु मधुर धुनि बाजत।[26]
मृदंग मेघ बजावें दादुर सुर-धुनि मिलावें,
कोकिल अलाप गावें, वृंदावन रंग राँचे।[27]
गोविंद करत मोहन गान,
खग मृग पशु सुनत नाद पिवत अपर सुपा स्वाद।[28]
नाचत गोपाल लाल अद्‌भुत नर भेख धरे गान करति
ब्रजसुंदरि रास रागिन।
सरद सर्वरी सुहत कित मधुर जूय श्रुति मिलवत कुरंगिनी।
कृष्णदास प्रभु गिरधर मुरली नाद चित चौरत उपगिनी।[29]
नादामृत का पान कर सहज ही इष्ट की प्राप्ति की जा सकती है।
जग में नाद अमृत मग जैसौ, रूप अमीकर मारग तैसो।[30]
ग्वाल ताल दै नीके गावत, गायन के संग सुर जु भरे।[31]

पारिभाषिक शब्दावली–

सप्तस्वर व तानों का उल्लेख–

मधुरे सुर गावति उपजावे आधी आछी तानन मनुहारी।[32]
सप्त सुरन साज मिल सुलप बजाई री।[33]
मधुर-मधुर सुर बोलत मोर।[34]
गिरि तें गिरत जु जल की धार, तिन तैं उठत नाद-झंकार।[35]
सुक सारिका रतनमयो गोबिंद गुन गावत।[36]
सप्तसुर भेद अवधर तान विकट सो गति मधुर
धर मोद मनसिज उपजावें।'[37]

स्वरालाप व मोम-तोम् के आलाप कर चित्रण–

लाल संग रास-रंग लेत मान रसिक रमन,
स रि ग म प ध नि, ग म प ध नि धुनि सुनि
वजयज तरुनि गावत री, अति यदि गति भेद सहित
तान न ना न न न न न न न न अति गति अस लीने।[38]
बाजत घंटा, ताल, बीन, झालरी, संख, मृदंग
मुरली विविध नाद सुखकारी।[39]
सखा मंडली मध्य विराजत, यग गौरी सास सुर गावत।[40]

ग्रामोल्लेख–राग मलार अलापति सप्त सुरनि तीन ग्राम जोरें।[41]

तान–मध्यौ राग बसंत तिहि औसर गावत तान भली।[42]

किस राग में कितने स्वर लगते हैं, इसका भी उल्लेख **गोविंदस्वामी** ने अपने पदों में किया है–

राग कान्हरौं सप्त सुर राजत गावत गीत रसाल।[43]
गोविंद बलि सुघर दोउ गावत, केदारो राग तान अति सरसे।[44]
आवत बन तें चारें धेनु।
अमृत मधुर धुनि पूरत सवमनि उठि धाई सकल तजि ऐसु।[45]
नित गुनरासि बरुहा पपैया सन्द उघटत कोकिला
गावति तान तरंग,
जलधर वहां मंद मंद सुलप संच गति भेद-उरपि तिरपि।[46]
सुलप संच गति भेद बरूहा नितं करे कोकिला कूहु कूहु तान तरंग।[47]
संगीलत गति भेद मान लेत सप्त सुर बंधान।
कंठ सरस सुरहि गावें मोहन मधुरी तान लावें।[48]
सारंग राग तान ही सो मन ही मन फूलें।[49]

सप्त स्वर, ग्राम व मूर्च्छना का उल्लेख–

सप्त सुर तीनग्राम इक्कीस मूर्च्छना बाइस सित मति
राग मध्य रंग रंग सख्यौ स र ग म प ध नि सा-
स स स स न न न न ध ध ध ध प प प प

म म म म ग ग ग ग री री सा सा।[50]

नृत्य की संगत स्वरूप प्रयुक्त अलाप व तान का उल्लेख–

गोपवृंद संग निर्तत रंग
स रि ग म प ध नी अलाप करत अपजत तान तरंग।[51]

स्वर व सप्तक का उल्लेख-

नंदलाल संगनाचत नवल किसोरी,
षडज, रिषभ, गंधार, सप्त सुरनि मधिम तार लेत
ग ग त त त त होरी।[52]

उपर्युक्त पद में यह उल्लेख भी मिलता है कि गोविंदस्वामी स्वरों के पूरे नामों (जो षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत व निषाद आदि हैं) से भी परिचित थे तथा अपनी रचना में यथास्थान इनका प्रयोग भी किया करते थे।

केवल श्रीकृष्ण ही नहीं, उनके सखा, गोप-गोपियाँ एवं राधा आदि भी संगीत के आत्मविषयक तथ्यों से पूर्णत: परिचित हैं। रासनृत्य में मग्न राधा आदि सखियाँ सातों स्वरों से युक्त तानों का गायन करती थीं, ऐसा उल्लेख **कुंभनदास** के पदों में मिलता है–

ताल-गति भेद आदि का उल्लेख–

गावति रिगधरन संग परम मुदित रास रंग।
सरि-गम पध धनि गम धनि उधरित सप्त सुरनि।[53]
तान मान बंधान भेद गति ताल मृदंग बजावें।[54]

तान का उल्लेख–

कमलनयन प्यारे अवधर तान जानत।[55]
तैसेइ सुर गावत चातक, पिक, प्रगट्यो है मदन भटा हो।[56]
गोविंद करत मुरली गान,
अधर कर धरि स्याम सुंदर सप्त सुर बंधान।[57]
सारंग यगे सरस अलापति, सुधर मिलत इकतालै।[58]
तान, मान, सुगान गावें जम्यौ राग मल्हार।[59]

चतुर्भुजदास का संगीत के प्रति स्वाभाविक लगाव था। स्वर, तान व आलाप आदि का कृष्ण की वंशी द्वारा श्रवण कर संगीत के प्रति उनकी जिज्ञासा और भी अधिक बढ़ जाती है और वे मधुर संगीत को स्वयं सीखने की उत्कट इच्छा प्रगट करते हैं–

सरस मुरली धुनि सों मिले सप्त सुर
रास रंग भीने गावे और तान बंधान।'[60]
ऐसेहि मोहू क्यों न सिखावेहु
सारंग राग सरस नंदनंदन सजि सप्तक सुर गावहु।[61]
गौरी-राग अलापत गावत, मधु मुरली कल धोरी।[62]
गावत ही सुर देत चातक-पिक प्रगट्यो मदन घटा।[63]
मोहन मोहे कल खग-मृग-पसु, बहु विधि सप्तक सुर बंधान।[64]

निष्कर्षत:, सभी कृष्णभक्त कवि शास्त्रीय संगीत में निपुण थे। (यद्यपि संगीत के

व्यावहारिक व सैद्धांतिक पक्ष की शिक्षा उन्होंने कहीं भी विधिवत् ग्रहण नहीं की होगी (जिस प्रकार आज स्कूलों व विश्वविद्यालयों में संगीत-शिक्षा दी जाती है।) उन्होंने संगीत, शास्त्रीय संगीत तथा उसके भेद-उपभेदों अंग-उपांगों आदि का यत्र-तत्र वर्णन किया है।

सभी कृष्णभक्त कवि काव्य व संगीत के चतुर चितेरे थे। उनकी रचनाओं में संगीत के शुद्ध साहित्यिक निर्देश प्राप्त होते हैं तथा शास्त्रीय संगीत के अनेक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या मिलती है, जिसके मंथन से तत्कालीन संगीत के अनेक भूले-बिसरे तथ्यों के उभारने के साथ-साथ संगीत के इतिहास को अनेकों रहस्यमयी गुत्थियाँ भी सुलझती हैं।

संदर्भ

1. संगीत पारिजात, पृ॰ 6
2. संगीतरत्नाकर, प्रथम भाग, पृ॰ 6
3. संगीतदर्पण, पृ॰ 5
4. संगीतपारिजात, पृ॰ 6
5. संगीतशास्त्र, पृ॰ 2
6. सूरसागर, भाग-1, पद 19'1, पृ॰ 731
7. वही, पद 1266, पृ॰ 489
8. वही, पद 1769, पृ॰ 655
9. वही, पद 1994, पृ॰ 731
10. डॉ॰ गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग-2 पृ॰ 498
11. सूरसागर, पद 1824, पृ॰ 17
12. वही पद 1964, पृ॰ 45
13 वही, दशम स्कंध, पद 2875, पृ॰ 240
14. वही, पद 2908, पृ॰ 256
15. वही, पद 2910, पृ॰ 257
16. वही, पहला खंड, पद 153, पृ॰ 51
17. वही, भाग-1, पद 1085, पृ॰ 420
18. सूरसागर, भाग-1, पद 2426, पृ॰ 879
19. वही, पद 1266, पृ॰ 489
20. पद 1769, पृ॰ 655
21. वही पद 1994, पृ॰ 738
22. वही, दशम स्कंध, पद 2891, पृ॰ 245
23. वही, पद 2892, पृ॰ 245
24. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पद 70, पृ॰ 199
25. वही, पद 85, पृ॰ 201
26. डॉ॰ गुप्त, पदसंग्रह, परमानंददास, पद 89
27. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पद 67, पृ॰ 239
28. वही, पद 64, पृ॰ 238
29. डॉ॰ गुप्त, पदसंग्रह, कृष्णदास, पद 116

30. रूपमंजरी, पंक्ति 19, पृ॰ 2
31. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पद 10, पृ॰ 319
32. उमाशंकर शुक्ल, नंददास, पद 161, पृ॰ 336
33. वही, पद 39, पृ॰ 374
34. सिद्धांत पंचाध्यायी, नंददास, दशम स्कंध, अध्याय 18, पृ॰ 282
35. वही, अध्याय 20, पृ॰ 289
36. नंददास, उमाशंकर शुक्ल, दोहा-1, पृ. 349
37. डॉ॰ गुप्त, हस्तलिखित पदसंग्रह, छीतस्वामी, पद 18
38. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पद 15, पृ॰ 267
39. हस्तलिखित पदसंग्रह, पद 21
40. वही, पद 25
41. गोविंदस्वामी, कांकरोली, पद 210, पृ॰ 103
42. वही, पद 103, पृ॰ 50
43. वही, पद 211, पृ॰ 103
44. वही, पद 176, पृ॰ 90
45. वही, पद 362, पृ॰ 151
46. वही, पद 181, पृ॰ 92
47. वही, पद 182, पृ॰ 192
48. वही, पद 58, पृ॰ 26
49. वही, पद 141, पृ॰ 75
50. वही, पद 423, पृ॰ 168
51. वही, पद 369, पृ॰ 153
52. वही, पद 63, पृ॰ 29
53. कुंभनदास, कांकरोली, पद 35, पृ॰ 22
54. वही, पद 119, पृ॰ 50
55. वही, पद 28, पृ॰ 19
56. वही, पद 97, पृ॰ 44
57. वही, पद 31, पृ॰ 20
58. वही, पद 35, पृ॰ 22
59. वही, पद 74, पृ॰ 36
60. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पद 56, पृ॰ 288
61. वही, पद 63, पृ॰ 289
62. वही, पद 85, पृ॰ 294
63. वही, पद 48, पृ॰ 239
64. वही, पद 61, पृ॰ 288

COMMUNAL HARMONY: CONCEPTUAL AND OPERATIONAL DIMENSIONS

Dr. GEETA YADAV
Lecturer Govt. College for women
Narnaul

Defining a scientific term while important and crucial is also said to be dangerous. But it is also difficult to proceed without having a clear idea about "Communal Harmony" itself before we make an attempt to delve into it in terms of its conceptual and historical dimensions and the way the concept has been operationalized in different countries and in varying historical context. In the process of operationalization of the concept it acquires different contents and has been attributed different meaning by different contents and has been attributed different meaning by different authors.

The term "Communal Harmony" has been derived from Latin "Communal Harmony" which means an age an indefinite period of time of the present age. The word "Communal Harmony" in its fictional meaning stands for things not concerned with religion." (1) "Communal Harmony" as such there fore denotes," the belief that the state, morals, and education should be independent of religion." (2) It follows, therefore, that Communal Harmony stands for "things pertaining to time as contrasted to eternity "and apparently "for things temporal," (3) Collin's National Dictionary in the same vein defines Communal Harmony as "an ethical doctrine, which advocates a moral code, independent of religious beliefs and consideration."(4) It originated in fact as a result of social wrongs preponderant in social practices and as a reaction to the "Selishness of the wealthy, and influential classes, the munreasoning opposition to political and religious freedom the stolid dogmatism of theology."(5)

It may however be emphasized here that "Communal Harmony" would thus mean to be concerned with one's age or time and by implication it will therefore stand for interest and involvement in mundane affairs "Communal Harmony" therefore will be contra-distinguished from nontemporal, eternal, supermundane or other worldly interests and affairs, Communal Harmony being opposed to the religious or the sacred, has been hailed only as a negative value.

Philosophically, roots of Communal Harmony can be traced to James Mill and Bentham with an "antithetic strains from Thomas Paine". (6) It was influenced thus by the English

utilizations and also by the positivists like G.H. Lewis and J.S. Mill along with others of the school.

It fell however to the lot of men like Holyoke and Bradlough, who during the middle of the nineteenth century with all the historical, political, and philosophical antecedents imparted to Communal Harmony a character all its own. [7] Communal Harmony and religion became mutually exclusive, as communal Harmony tried to evolve a theory of life and conduct without either any reference to a deity or to the 'other world'.[8] "Communal Harmony" was thus to provide an alternative philosophy of life and conduct to what we call religion.

But there are two important aspects which led to a new pattern of development in the sense in which a paradoxical synthesis, as it were, of material and non-material aspects of human culture could emerge. Communal Harmony later became the darling of recent protestant the theology and trends and indications are there that more progressive catholic theologies seem to be softening in their attitude and interpretations of the gospel's. [9]

In the Indian situation, where the universality of basic truth of spiritual values is greatly emphasized, the approaches as represented by men like Nehru and Ganchi, Panikkar and Many others both foreign and Indian, delineated in the following pages along with the constitute oral provisions, safe guards and guarantees in regard to the religious impartiality of the India State, present to us a panorama of wide variety of interpretations and assumptions.

The Vast array of interpretations of "Communal Harmony" in its relation to the democratic state in India can be attributed to diverse and at times contradictory approaches to the problem.

The pluralist or the Vedantist's approach based on the unity of all religious, cultural and universality of spiritual values emanate from what is known as Impersonal Absolute (Brahman) being the Truth on a higher plan than the personal God (Ishawar). The Rigveda holds, "The real is one, the learned call it by various names, Agni, Yama, Matarisvan." One hears the echo of the same conception of Reality or Truth in Ganchi when he declared.

'My whole soul rebels against the idea that Hinduism and Islam represent two antagonistic cultures and doctrines. To assent to such a view is for me denial of God. For I believe with my whole soul that the God of Koran is also the God of the Gita, that we are all, no mater by what name designated, children of the same God." [10]

M. N. Roy could not afford to miss either the Sankhya School of Hindu Philosophy or the Nayayavaisesika system only because the of atheism of the former and Materialist rationalisms of the latter could fit in well in his scheme of things. But undoubtedly it was a timely reminder. He therefore, suggested a Harmony ethics and a revolutionary social philosophy. His point of view and that of Jawaharlal Nehru seem to coverage with one another at certain points 'Nehru was not very much interested in metaphysical speculation and in such problems as those of God. Soul Karma and ultimate Truth." The real problem for me". Said Nehru once " remain

problems of individual's inner and outer life, of the adjustment between individuals and between group, of a continuous becoming some things better and higher, of social development of the ceaseless adventure of man." (11) And the wrote, "We have, therefore to function in line with the higher ideals of the age we live in (and) those ideals may be classed under two heads, humanism and the scientific spirit. (12)

M.N. Roy made a plea for spiritual freedom with his affirmations of a restated materialism when he pointed out that to satisfy the basic human urge for freedom." A world view that does away with the metaphysical sanction" is needed. In other words, he laid stress on a humanist ethics without any reference to a deity, higher moral order and also without any reference to higher being and the other world with the necessity of assuming a super natural power or metaphysical sanction.

Agnostic humanism and materialism and rationalism can all be traced back to the Pre-Buddhist Vedanta system. And even in the Post-Buddhist Vedanta system, Radha Krishnan does represent one of the important schools of a Hindu view of life. Under the western impact and under the influence of scientific age, this agnostic humanism in Nehru acquired a of which he accepted in toto not the exclusion of the other. This apparently paradoxical synthesis of religion and science owes its genesis to Nehru's conception of the accommodative nature of ideals of India culture," he contended." Are broad-based and can be adapted to almost any environment pt. Jawaharlal Nehru, pragmatist as he was, de cleared in 1950: "The Government of country like India with many religions that have recurred great and devoted following for generations can never function satisfactorily in the modern age except on a Communal Harmony basis. "From the standpoint of National unity and stability, the principle of the communal Harmony state represents a sound practical approach. Any other approach would tend to progress of national integration."

The democratic secular state, commented D.E. Smith, is a pragmatic solution "to the problem of religious diversity from the point of view of maintaining social stability and harmony."

Communal Harmony in India, or for that matter nationalism or nation building in any country, can be traced from its origin and inception in terms of historical time-sequence and its specific manifestations with its 'universals' and 'unique' interpreted with the development in the world and in the countries and situations in which Communal Harmony as a process moves apace. 'Universals' with reference to "Communal Harmony" represent the common 'denominators' which run as basic human urges to rise above and trudge ahead releasing forces of liberalism, and cohesion and unification through such symbols which represent consciousness through nationalism, humanism and modernization ass forward-looking sets of indices which cut across the traditional barriers narrow and grooves in manner as to elevate man in terms of human relations. In this respect 'Man' and his 'Welfare' became

the source and measure of value representing the dominant aspiration.

The dominant human urge and aspiration runs as a thread between 'ism' representing 'both norm and value in life. New myths and symbols are created in which imagination creates value-impregnated beliefs representing a dream and an aspiration that generate an ideal representing a super natural sphere of reality.

Social organization in terms of standardized group relations and their activities around certain norms and values for the most part run counter to or may be at times parallel to other developments. Social consciousness in other words is relative to specific social structure and pattern of the socialization process. Individuals in this respect develop specific contents of their group consciousness and in the process the social institutions, groups and values determine the development of the self.

An individual's group consciousness with a feeling of belongingness to one's specific group in the determinant of one's role in the group and the surrounding social-cultural structure of which he is a part. The process and pattern of socialization is aided by the mass media. And group consciousness of the individual in a plural social structure as that of India or consciousness of the individual in a plural social structure as that of India or the like elsewhere is a function of role in relation to different groups and in the process of identification, the individual becomes conscious of the roles at different levels.

In the evolving pattern of Indian culture and in its moving spiritual complex along with the ethos-eidos complex that has emerged one may discern current and cross-current of varying cultures and thought patterns with 'spongy softness' of Hinduism having no established church. Yet it plays its role by and large as a dominant culture and society. Under the condition, it is apparent therefore that acceptance and recognition of a concurrent stream seems to be a sinequaron anon for a smooth and successful running of a democratic state along with the mainstream of Hinduism with its 'unique and 'universals' in terms of its vertical and horizontal spread throughout the length and breadth of the country. This approach will have the ground for the growth and development of a 'secular' state in the sense of a non-partisan and a non-denominational state in India.

The 'Communal Harmony' in the sense of a pluralistic State therefore veers round to pluralist approach which puts all religions on footing of equality and must also endeavor to transcend itself above all prejudices and parochial considerations in the governance of the state. That is the ideal that it sets forth to be pursued and to run after. This may elevate and uplift people in due course and in the process, may evolve a norm and value of public conduct and behavior. This is in keeping with the constitutional provision and is also in consonance with federalism in culture and policy.

Communal Harmony in India is therefore to evolve a synthesis of science and religion on the one hand, and religion and state craft, on the other with 'Dharma' in the sense of

'duties' and 'doligations' of the state forming the 'Communal Harmony area' which will run as a common denomination between state and religion, rising above all narrow groves and parochial considerations. It would mean that political and economic institutions are to be independent of religion, which is to work out both the aspiration and value to elevate people and practice non-discrimination.

Success or failure of India's Communal Harmony' (pluralist non-partisan) state is to be judged by the tests of its result in its efforts to operationalize the concepts and the value impregnated beliefs attaining the level of myth, all of which may gradually be translated into reality. How this is going to fare and prove effective, time alone can tell.

RERERENCES

1. K.M. Panikkar : The Foundation of New India, Page, 640, Bombay, Himalian, Pub. 7253
2. W.C. Smith : Islam in Modern History, Page, 285
3. Jawaharlal Nehru: Discovery of India
4. S. Radhakrishanan: Religion and Society. Page, 78, Bombay, orient Mayor Bank, 1968
5. M.K. Gandhi : The way to Communal Harmony, Page, 412, Ahemdabad, 1958
6. Bipan Chandra : Communalism in modern India, Vikas Publication, New Delhi, 1984
7. V.P. Luthara : The Concept of Secular State in India, Page 52, Oxford University Press, 1964.
8. D.E. Smith : India as a Secular State, Page, 147, Calcutta, Pringstone Press, 1967
9. Abu Sayed Ayub : Religious Impartiality, in Seminar, Delhi, March 1965, Page, 13
10. V.K. Sinha : Secularism in India, Page, 74, Bombay, Alied Publication, 1971.

CASTE , POLITICS AND DOMINANCE : A STUDY OF STATE POLITICS IN RAJASTHAN

DR. GEETA YADAV

Lecturer Govt. college for women, Narnaul

Quest for a framework of politic:

Politics in Rajasthan does not admit of any uniform mono-model. It is a complex of pattern variability resulting from the prevalence of multiple models of state structure and authority in the old state of rajputana, now christened as Rajasthan. Being a political backward state with previous little inoculation of democratization as compared to the British Indian provinces,, tha state , not unnaturally, inherited a legacy of multiple lags, which party account for its differentiated patterns of political authority. The 22 original princely state which together consititutited the old Rajputana states formed a distinct collectivity but each state retained its own identity, had separate symbols and differed in terms of dispersal of political authority . both in terms of democratic reform and the pace and tempo of political liberalization , the state of Rajputana retained their distinctiveness, not only was political authority unevenly exercised, each state had its own notion of political authority legitimacy. Whereas the rulers of some state had the wisdom and foresight to look beyond their times and granted concessions to their subjects , others had no such perception of future and acted like tiny tin pot dictators in their realms. Such a differential in the dispersal of political authority and the degree of autonomy enjoyed by the subjects impedes the formation of a proper framework for the study of state politic in Rajasthan. What is more , the slow pace of economic transformation and the near non-discernibility of then direction of polarization of political forces in the state makes the model building exercise stupendously difficult and one is at a loss to ascertain, how to piece together and assemble stray theoretical components in to a sensitive refracting structure to understand the nature of political change . since the entire societal structure is in a state of constant flux and change because of the period transformation it had undergone since independence , the problem is to discover from a shifting maze of politics constants and variables a clearly coherent picture of state politics.

What makes the problem, more complex ,the task more challenging and the job more baffling is the prevalence of multiple models of state politics which Irhibited the construction

of a coherent model. Not only each state differed from others, sometimes even one state underwent several transformations with great rapidity owning to the changing perception of authority dispersal by its capriccios ruler, who in granting democratic reforms was guided by the day to day happening in British India. This makes doubly difficult to preface the delineation of a conceptual image with any sense of finality in respect of either identification of differentiation of widely varying state structures. The transitional nature of earlier society and the dynamic of state politics after 1947 have further aggravated the difficulty of delineating the conceptual frame owing to the rapidity with which the society had undergone several transformations . Independence brought in its wake new notions of public participation in the affairs of the government which hitherto were considered the exclusive preserves of the princes. It universalized public participation and imparted a new meaning and coloration to politics. The princely subjects, hitherto denied political reforms, were brought at par with the British Indian subjects. The new constitutional dispensation resting on the solid foundation of liberal democracy politicized the hitherto dormant society of old Rajputana and transformed all its antecedent adjustment and adaptation. The development premised on the concept of universal suffrage, constitutional freedom and human equality was alien to the ethos of people who were taught to show deference to authority and not to share it with the ruler. Nevertheless, even rapid pace of change did not produce sharp angularities, as it did not entail a complete break from the past. People used to receiving even slow doses of political reforms were not inept at handling the instruments of democratic order, thanks to their robust commonsense and an uncanny perception of right and wrong. As David J. Elkins has aptly observed,"..... Peasant in Indian with only a few years of schooling are as likely to vote as high school graduates in the united States." (1) The people of Rajasthan, made good their lack of democratic expertise through enlightenment and examples of their more advanced, If not illustrious brethren of British India and this account for the comparative stability of political order in the state.

II

Democracy and Ecology:

The pattern variability of the state alluded to earlier is in conformity with the variations in terms of climate, Land and other geographical features of the state. The state falls into neither the peninsular India, nor strictly in the heart land. It can be perceived to be the rim land area on the western flank of India alongside Pakistan, with which it has a 150 miles long boundary, interspersed with many chateaus, forts and temples. Covering an area of 1, 13,157 square miles, it is the second largest state of India in terms of landmass, next only to Madhya Pradesh. (2) It western part comprises almost entirely of the Great Indian Desert waste consists the greener part of eastern Rajasthan. The Aravali hills run almost diagonally from north to south and divide it into two regions. Two great irrigation projects the Ganga Canal and Indra Gandhi Canal account for the bulks of agricultural produce. Despite a uniformly warm climate,

the state also has a hill station called Mt. Abu in the Picturesque setting of the Aravali hills.

The main occupation of the people is agriculture though the state can claim on its rolls the names of many an important business tycoon. The ubiquitous Mewari, as its entrepreneur class is customarily known has business links all over the country. The state has no coastal line and is entirely landlocked. Hindus are the dominant majority accounting for about eight five percent of the state's population, followed by the Muslims, Sikhs and Christians.

III

Contexts and Reduction :

The original name of the state Rajputana etymologically meant the abode of Rajputs, a martial community known for its chivalry and bravery, whose origin is shrouded in the base of legends and folklore's, Jats constitute the largest single segment of population accounting for about nine percent of total population, [3] followed by other caste conglomerates. But together with Bisnois and Sirvis, the jats form a formidable bastion of the caste collectivity transcending other caste combinations. The rajputs, despite being a numerically smaller group have always exercised influence for more than their numbers would justify owing to long stretch of dominance exercised by them. This factor, more than any other, has brought the two rival communities in sharp conflict with each other. Both numerical preponderance and dominance, coupled with the aggressive creed of these martial communities had locked them in unremitting hostility for over four decades but, of late, they appear to be striving to arrive at some of a rapprochement and rapport to stop railing at each other in the larger interest of obtaining political gain. The purpose of the paper is to reduce and segmentlise the politics of state of Rajasthan in the context of this newly emerging caste coalition of jats and rajputs in the backdrop of a complex panorama of state politics hitherto fragmented because of their unremitting hostility and domination exercised by other casts combinations.

IV

Fragmentation, Federalization and Fermentation:

Like every other state of India, Rajasthan too experienced the upsurge of nationalist sentiments during the liberation struggle even though the pace of movement was chequered and halting. The national movement created its own ripples in the state of Rajputana who were agog with liberal sentiments and underwent a twin process of federalization and Fermentation despite the fragmented nature of their movement because of the state being cut in to 22 separate princely principalities. Earlier the tempo of change was controlled by the fragmented princely elite of various description but as time passed by and the nationalist sentiment gained momentum, the non- feudal elites came to the fore and began accepting dominance positions. The co-potation of the non-feudal elite into the movement universalizes politics and drew recruits from several caste segments. In its earlier phase, the movement was almost entirely

controlled by the local high caste Brahmins and Vaishya traders but later on other castes too joined them and the induction of jat peasantry into the movement changed the very complexion of the movement and gave it the much needed mass base and support and gave rise to a plethora of segmentary protest movement in the different state of Rajputana, which though divided politically, were united because of a perception of commonalty among the princes. Though each states retained its own identity symbols, distinctive art forms and separate styles of literary expressions, they were tied together by familial bonds and matrimonial ties among the governing elites. Despite the fragile institutional linkage among

Various states, a sense of common history reinforced by geographical propinquity kept them together. But this could not prevent the nationalist fermentation and as time went on, diverse strata of urban protesters joined the movement and broadened its political base.

V

Urban Protest and movement Building:

Such a strongly entrenched feudal system was bound to create a parochial type of deferential subject political culture followed by regional segmentation of political authority which was divided among various rulers. But with the grant of the independence , this system as bound to come into disuse. The merger and integration of state and the resumption of jagirs, opened up the channels for the universalisation of mass participation in political affairs. But there was no such thing as a sudden out bout pf pent-up political feelings. Politically conscious and ideologically oriente groups had come into existence in the princely states even before independenc . yhe prinicipal among them ware Mrawar People conference (1929), Marwar Seva Sangh, lok Parisad, Marwar Nevykt Hitkarini Sabha, Praja Mandals, Kisan Sabha, marwar League , and all India State People's Movement. The purpose of this organizations was either to protest against the policies of the native rulers or to impress upon them the necessity and desirability of removing some particular Prime Manister. In 1923, the Mewar Hitkarini Sabha Led an agitation for the removal of Prime Manister sukhdeo Prasad and in this, it had the blessing of state darbar and the other important section of public. A similar protest was made against Prime Minister Sir Charles Clevel and in Jaipur State who had to bow out of office owing to enormous public resentment against him. The Jaipur agitation look the form af an anti-alien or anti Wideshi movement. But where as these movements against oppressive authority of native rulers also sprang up. The 1st polpulist movement in Udaipur State originated in the temple town of Nathdwara. It was helped by the Mewari Merchant's families who became assiociated with the congress organization in british India. The famous bijolia and begun agitation's l;ed by Vijay singh Pathak, Motilal Tejawat and Manikyalal verma were anti tax movement and they continued off and on between 1919 and 1923, till finally the army was called to stamp out the agitators. Similar anti-tax campaigns were launched in Churu, Sirchi Ntl Tonl. The Kisan Sabha was active in Nagore and Shekhawati district of Jodhpur and Jaipur

State.

VI

Coopting the Revolution :

Such movement indicated an early political germination in princely states. But these movement were largely od a sporadic nature, which were unstructured and lacked widespread public support. As yet the mobilization of public support was halting and chee cquered but the movement kept on gaining strength and momentum and protest was getting steadily institutionalized. Indeed, in several states, efforts were made by ntive rulers to "co-opt the revolution", [4] by creating Advisory bodies in which Praja Mandal Leaders despite their anti establishment stance were coopted. Many farsighted rulers such as Maharaja Ganga Singh of Bikaner who had a vision of future, advocated " reserved tolerance" for the public activity of the native firebrands. In a letter to Sir Donald Field, the prime minister of Jodhpur state, Maharaja ganga Singh Advocated caution and tolerance towards the activities of Jai Narain Vyas. Calling him the most bitter and hostile firebrands against the Indian princess, he wrote "But they who would like to see a united and greater India Marching hand in hand on the road to progress towards their respective goals cannot help realizing that the future of Indian states depends more or less upon the character of those who in way dominate these days the political and public life of these areas. Let me tell you Ir Donald that neither the glorified pillars of the princely order nor the loftiest pillars among the regency Burks are going to survive these proletarian firebrands. Yet the mantle of centuries old sovereignty in India is going to fall upon them and some of the will in all probability look towards them for justice and fairplay."[6]

The activity of these firebrand provided a new dimension to the political life in princely India. With the formation of Marwar Lok Parisad In Jodhpur state, an era of co-operation and collaboration between the prince and the public began and Jai Narayan Vyas was appointed to several bodies such as the central Advisory Board. The Educational Reforms Committee. The Unemployment Committee, The standing Famine Relief Advisory Committee and the coles Committee. However yhis honeymoon was short Lived and J.N Vyas accusing the government of being incentive to public grievances, resigned from these bodies.

VII

Logic of Authorization rule and Philosophy od Changes :

The logic of princely rule in Rajasthan , resting on familial primordality and traditional notions of astrictive authority was bound to clash with those who believed in the imperatives of democratic faith. The gradual expansion of liberal sentiments created a hiatus between ascripitive status and achieved status and led to conflict of interests between the vestigial landed nobility and the new political community committed to a participatory political culture. The founding, maintenance and growth of representative institutions in the wake of freedom struggle brought into open a conflict the two types of political cultures viz., the

differential and the democratic. Owing to a long authoritarian system, resting on the personalize and paternalism of princely order, defense to authority impinges erratically on the normal psyche of an average in habitant of Rajasthan. The growth and emergence of democratic sentiment led to the generation of a new mix incoporating the elements of difference with the democratic sentiment. This imparted respectability even to the nascent democratic order and gave it new legitimacy symbols. The newly emerging democratic elite came to be treated with a rare degree of respectability which earlier was reserved only + for the feudal nobility. This can be termed as the phenomenon or process of feudalizing the commonality of Rajasthan. Both the old war-horses of liberation struggle as well as the never entrants to politics came to be regarded as great sa viours. The respect to authority persisted even in the face of emerging democratic sentiment. It was a rare case of enviornmental adjustment and adaptation, which not only asserted in the process of oinstitutional representation of political groups but also increased the effectiveness of participants in the process of decision making and consensus generation. It entailed, not only the speedier recuirtment of new leader into the political origination and formal structures of political authority but also invested them with enough political legitimacy to assist in the process of democratic transformation of the old order resting on the primacy and primordiality of inscriptive status.

VIII

Ruralisation of Politics:

Alongside feudalization of commonalty went had in hand the process of ruralisation qof politics.politics in the earlier phase of development was mostly urban-based, controlled by upper caste leades and intellectuals such as Arjun Lal Sethi, the founder of Congress in Rajasthan, Thakur kessari Singh Bareth Of kota,Rao Gopal Singh of Kharwa, seth damodar Lal Rathi, of Beawar, vijai Singh Pathic ,Seth Jamalal Bajaj, Manikya lal Verma,Hiralal Shastte, J.N Vyas, Tika Ram Paliwal ,Hari Babu Upadhayay, Shobha lal Gupta, Ladu Ram Jhoshi and a host of other leaders. They constituted thepolitical elite of the times most of these leaders came from the upper castes of Pushkarna, Brahmins, .Oswals, Vaishyas, Maheshwaries, Rajputs, Bareths and Kayasthas. They spearheaded these segmentary and sporadic protest movements in the earlier phase but subsequently the movement became broad based and rural oriented with the induction if the peasant leaders Baldev Ram Mircha , a jat leader from Jodhpur organized the peasant leader movements almost single handed for about decade from 1930 to 1940 and produced a dedicated band of politically committed followers who later on jaoined the congress party and occupied dominance positions in it. Baldev Mircha's efforts facilated a formidable kisan coalition of three peasant castes namely jat, Bishnois and Sirvis who took politics to the grassroots in Jodhpur region. Inspired by the example of baldev Ram Mircha, other jats leaders like Hiralal Singh and Kumbha ram Arya also active in Jaipur and Bikaner regions. The entire state peasantary was agog with excitement and nationalist fervor. A perception of commonality

of interest to dew desperate and widely-varying rural segments together and close to one another. (7) with this politicization of rural aggregates, politics in Rajasthan permeated deep down to the level of tiny villages and this, in the backdrop of overall political backwardness of the state was truly remarkable and astonishing. Cut off from the mainstream of national politics, the state had precious little initiation and inoculation of actual politics but this lag was more than overcame by the ruralisation of politics, however, it must be made lear that this Ruralisation, in its earlier phase, was confined only to one caste and did not engulf the entire peasantry but as time went on, more and more caste segments such as meenas, Bhils, Bairwas and Meghwals joined the movement and accelerated the pace of Ruralisation of politics. Following the example of jats, the non-jats too began consolidating their caste identities to obtain political benefits. The dawn of freedom and introduction of Panchayati Raj provided added acceleration to the process of ruralisation of politic. It helped in the development of loyalty structures rooted in caste and strata differentiation. Politics this not only got ruralised, it also got fragmented on caste lines. Each caste group jumped into the political fray and converted it into a game of strata identification and differentiation.

Whereas the earlier phase of ruralisation of politic meant segmentation of peasantry on caste lines, the subsequent induction of never recruits to politics from non-jat segments led to a wide social dispersal which induced the creation larger associational identities which did not rest on the antecedent structures of kinship, matrimony and commensality of endogamous groups. Since democratization produce a different set of culturally relevant value orientations the newer recruits to politics began using politics as an instrument of upward social mobility as also for the satisfaction of their political demands. The new caste segments were aware of the handicaps of unilinear approach to politic and hence decided to from larger caste collectivities and on federations for mutual power sharing through this processed of selective assimilation, several catses came closer and shed off their ritual rigidity. since numbers preponderate in democracy, compulsions of ajoritarian principle induced the caste elite's to from larger identities based on the multiple membership of several overlapping caste segments thereby universalizing political participation of various caste congeries. Since no constituency has a mono-caste majority, caste arithmetic's, unaccompanied by consideration of enhancing voting support can spell the doom of nay caste, induced many casts to came closer and from broader alliances to seek power. In this way the catchment area of politic in terms of never recruitment got considerably widened and dispersed. The widely varying differentiated caste segments came closer to form larger unions and thus ruralisation of politics also resulted in increased secularization and democratization of state politics in facilitated a smooth transition of power from urban to rural area and led to increased politicizations of social aggregates and universalisation of political participation. Lure of political power brought these paracommunities together and prompted them to form multi-caste collectivities. Democratic

politic thus universalizes, homogenizes and secularizes. These par communities and assists in the formation of larger caste federations.

Rajput jat Coalition – An exercise in identity Expansion :

Since broader caste grouping are primal to success in any election, a modest begining was also made in the direction of bringing together hitherto mutually opposed caste segment of jats and rajputs by two leaders in 1967. They were Kumbha Ram Arya– the jat leaders and Maharaja harish Chandra of jhalawar an ex-rajput ruler . both had worked together in congress party and had also donned ministerial robes. Both were disenchanted by the then congress politics of cheaf minister Mohan Lal Sukhandia strove to maintain equi-distance and balance between these two communities by keeping them apart and divided. Both lived in mutual fear and suspicion of each other and this trait was fully exploited by Mohan Lal Sukhandia, As years rolled,by, it became almost a canon of faith with almost all politicians to exploit this instinct and to keep these two castes out of power. The Janata revolution of 1977 for the first time changed this equation in favour of these castes and in Rajasthan , a rajput-Bhairon Singh Shekhawat, became the Chieff Minister. Among the earlier Chief Ministers four belonged to Brahmin community, One came from the Vaishya community and one was a Muslim. [8] more other occupied this office and the ascendance of Bhairon Singh Sekhawat appeared to brighten the probabilities of jat induction also to gubernatorial seat in future. [9] this intensified competition among various cate to achieve political stardom but nothing conducted to renewed awakening among the ahrd-liners on both sides to come closer than the event of their summery dismissal in 1980, in the wake of reascenence of Mrs. Indra Gandhi top power at the Union level. In the year that followed , Chief Ministership rotated among member of scheduled caste , Kayasthas and Brahamin. [10] ther appeared no chance for a Rajput to regain ascendancy or for that matter for a jat to obtain unilateral political upgrading and this induced many erstwhile hard-liner among Rajputs and jats to sink their differences and forge newer links . a common perception of commonalty of interests brought two hard – liner together. They are Natu Ram Mirdha and Kalyan Singh Kalvi–archrivals of nagore District. Both are known castiste But politics of survival brought them together on a common platform– the Janata dal.

Sveral factors have facilated this new coalition. First and foremost is the perception of a commonalty of interests. Both have come to realize,

Even though belatedly and not yet fully thst continued antagonism between these two caste segment is being exploited by other castes have developed a kind of castes vested in keeping these two caste divided.

Secondly, the rajput today no longer wields effective political power. His defeudalisation began almost immediately after independence. Simultaneosly began another process– the feudalization of commonalty of which the major beneficiary was the jat. Acquisition of proprietary rights overland turned the erstwhile serf into a landlord. The continued access of the

jat to the channels of political power improved his ritual ranking, enhanced his social status and augmented his economic resources prosperity because of green revolution, the jat today is verily enjoying a neo-feudal status, which was once the exclusive monopoly of his rajput rival. Having improved the positional status, the jat today in no longer suffering from a reductionist bias and it well disposed to come to an understanding with his old adversary and exploiter, in the interest of sharing political power. He has a clear perception that he can enlarge his arbit of influence only in coalition with other caste segment. Notably the rajput.

Thirdly, both communities know that they wield influence disproportionately larger than their actual numbers because of the multip;ier effect and hence they stand to gain enormously by poling their energies and resoureces together than bu dissipating them through continued, long drawn hostility and bitterness.

Fourthly, the jat today is willing to accept concede that like him the rajput too comes from the peasant fold and is no longer the old feudal. in fact the move today is to broaden the concept of peasantry to include all landowing and tilling classes and not to confine it to just one caste. This widens the meaning of the term peasantry and makes it a class concept. Peasantry has ceased to be caste category it is not a class organization.

These factoras have helped the Rajputs and jats to close their ranks and act in greater cooperation with each other. That this new realization has not led to any excessive fraternization is true. Suspicion hatred and hostility of decades can not be overcome overnight and it would take quite one time before one can say that the two communities have finally stopped crying lebensraum at each other but one thing is certain. A beganing has been made in the direction on enhanced cooperation between the two communities, which no longer look upon their relational pattern as one resting on a symbiosos of complementary differences. Both today are better disposed to bring about a kind of commonality in their attitudes.

X

Politics of Consensus Generation:

The coming closer of jats and rajpus, in whatever small measure, opens up the possibilities of added cooperation among various peasant castes. Already a process of building larger soldieries in on. This holistic approach does not rule out the possibilities and even importance of minor segmental difference but they must be viewed in the larger context of broader societal structures which condition the levels of participation of wide spectra of citizens. This necessitates the importance of consensus generation in respect of political decision making. Present days polities operating on the precept of majoritarian rules do not allow mono-caste hegemony or dominance and seeks to build up larger solidary organizations resting on the coalition of several castes which while preserving their strata differences privately are inclined to sink caste difference in public. This assists in the process of pluralisation of institutional representation resting on the formation of larger social entities. Politics today's no longer rests

on a process of commutative decualisation of caste aggregates. It is no longer possible to intensify inequality through various social causation channels as in the past. The expansion of liberal sentiment has led to greater social and environmental adaptation and geol ordering and this has increased mobilization on a very vast scale. The coming closer of various castes has universalized and secularized politics and it has also expended the overall catchment area of political recruits. Politics today has acquired universality and ubiquity it never possessed earlier and decision-making has come to rest on consensus generation which carries with it the portenes of multi-lateral cooperation among various caste segments.

XI

The Tailpiece:

In a fast changing political scenario, caste and dominance are not related in a linear fashion. The mere size of a caste, however large, is not determinative of dominance .dominance is contingent upon the mobilization of political support which rests on the formation of larger caste collectivities. A single caste, does not hold a key to success in politics owing to its minority character in the overall context of the entire consituency where a combitionation of several smaller castes my lead to a formation larger than the numbers of the dominant caste. In such a situation one may come across the phenomenon of split dominanace or competing dominance but not absolute dominance which rests on accalition of multi-caste formation.

REFERENCES

1. David J. Elkins, Electoral Participation in a South Indian Context, Vikash Publishing House Dehli, 1975, P.2.
2. K.L Kamal. Eqbal Narain (e.d) State politics in India, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1976,P.299.
3. Liyod Rudolph and Susanne Rudolph the Modernity of Tradition , Orient Longmans Ltd, New Delhi, 1967.P.70
4. Richard Sisson , Congress Party in Rajasthan, Oxford University Press, Delhi,1972,P.51.
5. Ibid
6. Ibid
7. Foe details, see Bhawani Singh (ed) politics, change and Modernity in Indian States, Rupa Printers, Jaipur, 1988, pp.1-99.
8. The Brahmin Chief Mimisters were Hira Lal Shastri, Jai Narain Vyas, Tika ram paliwal and Hari Dev Joshi the Bahia Chief Minister was Mohan lal Sukhandia. The Lone Muslim Chief Minister was Barkatulaa Khan.
9. The second swearing in of Bhairon Singh Sekhawat as Chief Minister of Rajasthan in 1990.
10. Jagannath Pahadia Become the first Scheduled caste Chief Minister to be followed by Shiv Charan Mathur a Kayastha and Hari Dev Joshi-a Brahmin.

मुजफ्फरनगर जिले के एक गाँव का समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० अमित मलिक
वरिष्ठ प्रवक्ता, विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र
डी०ए०वी० कॉलेज, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

ग्रामीण नगरीय अंतक्रिया :

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। अभी भी देश की लगभग 65 प्रतिशत जनसंख्या किसी-न-किसी रूप में कृषि कार्यों में लगी है तथा यह कार्य मुख्यत: ग्रामीण समाज में किया जाता है, लेकिन ऐसा भी बिल्कुल नहीं है कि भारतीय समाज केवल ग्रामीण समाज है। यहाँ पर प्राचीनकाल से नगर भी विद्यमान रहे हैं। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो आदि सिंधुकालीन सभ्यता के नगर इसका उदाहरण हैं। इसके बाद भारत में काशी, मथुरा, अयोध्या, उज्जैन, तक्षशिला, पाटलीपुत्र आदि नगरों का इतिहास रहा है। ऐसा भी नहीं था कि ये नगर तथा गाँव एक-दूसरे से पृथक् रहे हैं। किसी-न-किसी रूप में गाँव तथा नगर आपस में एक-दूसरे के ऊपर निर्भर रहे हैं। प्राचीन निर्भरता तथा वर्तमान निर्भरता में कहीं-न-कहीं अंतर देखा जा सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन मुजफ्फरनगर जनपद के सदर तहसील के गाँव तेजलहेड़ा पर आधारित है। प्रस्तुत शोध ग्रामीण नगरीय अंत:क्रिया अध्ययन का केंद्र अवलोकन तथा साक्षात्कार जैसे प्राथमिक स्रोतों एवं जनगणना, परिवार रजिस्टर तथा पूर्व विद्यमान साहित्य जैसे द्वितीयक स्रोतों द्वारा संकलित किए गए हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में पाया गया है कि तेजलहेड़ा गाँव का विगत वर्षों में नगर से संपर्क बढ़ा है। मुजफ्फरनगर से तेजलहेड़ा के बीच आवागमन के साधन बढ़े हैं, जिससे तीव्रगामी अंतर्क्रियाओं का जन्म हुआ है। गाँव में अनेक नगरीय प्रक्रियाएँ विद्यमान पाई गईं। यद्यपि गाँव अभी भी विशिष्टता लिए हुए है, लेकिन उसके स्वरूप में परिवर्तन आया है। यहाँ नगरीय प्रभाव आसानी से देखा जा सकता है।

ग्रामीण नगरीय अंतर्संबंध का समाजशास्त्रीय अध्ययन

18वीं सदी के आरंभ में ग्रामीण अध्ययन जो 1832 में सर चार्ल्स मेटकॉफ द्वारा किए गए थे, में भारतीय गाँव को लघु गणतंत्र कहा गया है। इनके अनुसार 'ग्रामीण समुदाय ऐसे लघु मापदंड हैं जो उन समस्त वस्तुओं, जिन्हें वे चाहते हैं, रखते हैं और प्राय: सभी प्रकार के विदेशी संबंधों से स्वतंत्र हैं।' अनेक विद्वानों के मत प्रकट किए हैं कि गाँव कभी भी अपने में पूर्ण और आत्मनिर्भर इकाई नहीं रहे हैं तथा वास्तव में गाँव को सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से विस्तृत जगत से पृथक् करना संभव नहीं है।

'गाँव स्वयं में निहित एक इकाई नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक गाँव की एक मध्य व्यवस्था होती है। गाँव का अध्ययन एक पूर्ण समूह के रूप में अर्थात् भौतिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक पहलुओं तथा औद्योगीकरण एवं नातेदारी व्यवस्था के रूप में नहीं किया जा सकता'।

डेनियल थार्नर का कहना है कि 'गाँव सदैव विस्तृत जगत से संबंधित रहे हैं और इन्हें विस्तृत जगत से पृथक् नहीं किया जा सकता।' मैकिम मैरियट का कहना है कि सामाजिक व्यवस्था अपने केंद्रबिंदु से बाहर तक फैली हैं और ग्रामवासियों पर बाहरी जगत के लोगों का अत्यधिक प्रभाव है। इनका कहना है कि भारतीय गाँव विवाह एवं नातेदारी, संगठन, निवास स्थान के प्रतिमानों, संघर्षों के स्वरूपों अथवा जातीय संगठनों की दृष्टि से स्वयं में पृथक् वस्तु नहीं हो सकते, न ही भारतीय गाँव प्रारंभ से ही कभी पृथक् दिखाई देने योग्य रहे हैं। इस संबंध में अनेक अध्ययन प्रकाशित हुए। इनमें S.C. Dulu का Indian Village, India's Changing Village, Mackin Marriott का Village India, D.N. Majumdar का Rural Profile तथा Caste & Communication in an Indian Village प्रमुख अध्ययन हैं।

भारत में स्वतंत्रता मिलने के उपरांत संस्थागत नीतियों एवं परिवर्तनों की सांस्कृतिक तथा संरचनात्मक प्रक्रियाओं के प्रभावस्वरूप गाँव में व्यापक परिवर्तन आए हैं। नगरीय संपर्क के कारण गाँव की सामाजिक-आर्थिक संरचना में परिवर्तन आए हैं, जिनकी व्याख्या G.S. Ghureye ने ग्रामीण-शहरीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से की है। आपके अनुसार 'शहरीकरण का कारण गाँव की स्थानीय आवश्यकताएँ थीं, जिनका विस्तार नगरों में हुआ और महानगर अस्तित्व में आए। लेकिन उक्त व्याख्या के विपरीत अब शहरीकरण का फैलाव भीतरी ग्रामीण क्षेत्रों में होने लगा है। यातायात और संचार के आधुनिक साधनों के परिणामस्वरूप नगरीय एवं ग्रामीण जनसंख्या के मध्य अत्यधिक घनिष्ठ संबंध उत्पन्न हो जाता है।' गाँव की अर्थव्यवस्था राष्ट्रीय ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन गई है। इसमें ग्रामीण नगरीय जनसमूह के बीच संघर्ष बढ़ा है। S.C. Dube ने समीरपेट गाँव के चार दशक बाद किए गए पुनः अध्ययन में पाया कि गत चार दशकों की तुलना में गाँव का महानगरीय संपर्क बढ़ा है। ग्रामीण नगरीय अंतर्क्रिया और परिवर्तन दो स्तरों पर घटित हो रहा है।

1. **गाँव से नगर की ओर**–गाँव के व्यक्ति शिक्षा, रोजगार एवं अन्य राजनीतिक, प्रशासनिक, चिकित्सा-संबंधी कारणों से नगर की ओर जाते हैं।

2. **नगर से गाँव की ओर**–इसमें वाहन, बिजली, डीजल पंप, ट्रैक्टर, रेडियो, सौंदर्य प्रसाधन जैसी नगरीय प्रवृत्तियाँ एवं मानसिकता का गाँव में आना सम्मिलित है।

20वीं सदी का अंतिम दशक भारत के ग्रामीण एवं नगरीय सामाजिक संरचना के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है। नगरीय विस्तृत परंपराओं का ग्रामीण सूक्ष्म परंपरा में हस्तक्षेप हुआ है तथा नगर व गाँव के बीच की दूरी कम हुई है। नगरीय क्षेत्र के संपर्क में रहने वाले लोग तथा लोकप्रिय संस्कृति में विलय होकर एवं नवीन संस्कृति विकसित कर रहे हैं। वर्तमान समय में गाँव एक नए रूप में उभर रहा है। यही प्रस्तुत शोध का केंद्रबिंदु है। ग्रामीण-नगरीय अंतःकरण के कारण 21वीं सदी के आरंभिक दशक में गाँव किस रूप में किन संरचनात्मक एवं स्थित विशेषताओं को प्रभावित किया है। शोधार्थी द्वारा यही जानने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन पद्धति :

मुजफ्फरनगर जनपद के सदर तहसील के अंतर्गत आने वाले गाँव तेजलहेड़ा में 100 परिवारों का चयन दैव निदर्शन पद्धति के आधार पर किया गया। शोध में सूचना प्राप्त करने के लिए मुख्य रूप से प्राथमिक तथा द्वितीयक दो स्रोतों का प्रयोग किया गया। प्राथमिक स्रोत के अंतर्गत साक्षात्कार, अनुसूची, अवलोकन पद्धति का प्रयोग किया गया तथा द्वितीयक स्रोत के अंतर्गत विभिन्न लेख पुस्तकों आदि का प्रयोग किया गया।

शोध के निष्कर्ष :

गाँव को सामाजिक संरचना एवं उसमें नगरीय संपर्क के कारण हो रहे विभिन्न कारणों की व्याख्या की गई है। इस अध्ययन में भारत की अन्य संस्थाओं की भाँति गाँव में तीव्र एवं बहुआयामी परिवर्तन की प्रक्रियाएँ घटित हो रही हैं, को जानने का प्रयास किया गया है।

1. गाँव में चयनित परिवारों में 15 प्रतिशत सामान्य वर्ग व 55 प्रतिशत पिछड़ी जाति तथा 30 प्रतिशत अनुसूचित जाति के परिवार हैं।

2. संयुक्त परिवारों का प्रतिशत 45 तथा एकल परिवारों का प्रतिशत 55 पाया गया।

3. अध्ययन में पाया गया कि तेजलहेड़ा का नगर से संपर्क बढ़ा है तथा वहाँ अनेक नगरीय प्रक्रियाएँ उपस्थित हैं। तेजलहेड़ा मुजफ्फरनगर से 25 किमी॰ दूर स्थित है। गाँव की सभी गलियाँ आर॰सी॰सी॰ हैं। मुजफ्फरनगर से तेजलहेड़ा के लिए उत्तर प्रदेश परिवहन निगम की बसें लगी हैं। एम॰एन॰ श्रीनिवास का मानना है 'नगर से 50 किमी॰ दूर लेकिन सड़क मार्ग पर स्थित गाँव उस गाँव की तुलना में अधिक विकास करते हैं, जो नगर से मात्र 15 किमी॰ दूर है। लेकिन सड़क मार्ग से परे है। प्रतिदिन अनेक व्यक्ति रोजगार, नौकरी व शिक्षा आदि के लिए मुजफ्फरनगर जाते हैं तथा शाम को वापस गाँव आ जाते हैं। मुजफ्फरनगर से गाँव में स्थित हाईस्कूल, प्राइमरी स्कूल, बैंक आदि संस्थाओं में कर्मचारी आते हैं तथा शाम को वापस मुजफ्फरनगर चले जाते हैं। गाँव के लोग खरीददारी के लिए तथा चिकित्सा सुविधाओं के लिए मुजफ्फरनगर जाते हैं। अत: देखा गया कि गाँव के लोगों में बाजार, शिक्षा, स्वास्थ्य व रोजगार के कारण नगर के प्रति आकर्षण बढ़ा है। गाँव में जजमानी व्यवस्था कमजोर है, मुद्रा विनिमय बढ़ा है। साक्षात्कार के समय कुछ ग्रामवासियों का कहना था कि नगर अब गाँव में आ गया है। घर पर जाकर किए गए अध्ययन से पाया गया कि गाँव में चयनित कुल 100 घरों में से 95 घरों में टीवी है तथा 20 घरों में टीवी के साथ रेडियो भी है। 43 घरों में भिन्न-भिन्न कंपनियों के डीटीएच कनेक्शन पाए गए। गाँव के लोगों द्वारा बड़े पैमाने पर सूचना संप्रेषण हेतु मोबाइल फोन का प्रयोग देखने को मिला है।' मोबाइलों की संख्या बताना मुश्किल है, क्योंकि लोग जल्दी-जल्दी फोन बदलते हैं। चूल्हे का स्थान, हीटर व एलपीजी ने ले लिया है। अतिथियों के सम्मान का तरीका, वेशभूषा, पर्व, त्योहारों, समारोहों को मनाने का तरीका एवं मनोरंजन के साधनों के प्रयोग में नगरीय छाप की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। ग्रामवासी शीत ऋतु में चाय तथा काफी एवं ग्रीष्म ऋतु में कोल्ड ड्रिंक्स से अतिथियों का स्वागत-सत्कार करते हैं। ग्रामीण युवाओं को शहरी वस्त्र तथा कोट-पेंट, जींस, टी-शर्ट तथा जैकेट जबकि युवतियों की जींस-टॉप, पैकेट पहने देखा गया। जन्मदिन पर केक काटने का प्रचलन भी नगरीयता का उदाहरण है। युवाओं द्वारा क्रिकेट खेलना व देखना, बैडमिंटन

खेलना ग्रामवासियों की परिवर्तित अभिरुचियों का द्योतक है। व्यक्तिवादिता, खुलापन तथा लड़कियों का घर से बाहर अध्ययन नौकरी एवं खरीदारी हेतु लाना, नगरीय संस्कृति एवं मनोवृत्तियों के प्रभाव की द्योतक है। गाँव की कही छात्राएँ अध्ययन के लिए मुजफ्फनगर जाती हैं। बाइक, टेम्पों व बसों ने गाँव के निवासियों को नगर से जोड़ने का काम किया है तथा संकलन हेतु ग्रामवासियों के साक्षात्कार के समय यह पाया गया कि ग्रामीण नगरीय अंत:क्रिया दिन-प्रतिदिन के जीवन में स्तरीकरण का संकेत करती है। वे व्यक्तियों एवं परिवारों जिनका संपर्क नगर से है और जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नगर में स्थिति विभिन्न बाजारों से करते हैं। उनके अंदर श्रेष्ठता की भावना विद्यमान पाई गई, जबकि जो व्यक्ति स्थानीय बाजारों से अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं एवं जिनका संपर्क बड़े पैमाने पर नगर से नहीं है। दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में निम्नता की भावना से युक्त पाए गए।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर स्पष्ट है कि प्रस्तुत अध्ययन समय-समय पर किए गए क्षेत्र कार्य द्वारा संगृहीत तथ्यों पर आधारित है। तेजलहेड़ा में ग्राम्य-नगरीय प्रतिक्रियाएँ व्यापक स्तर पर अंत:क्रियारत हैं और परस्पर एक-दूसरे को आत्मसात कर रही हैं, जबकि गाँव अब भी विशिष्टता लिए हुए है, लेकिन उसके स्वरूप में परिवर्तन आया है और गाँव पर नगर का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है, जिससे गाँव एक नए रूप में उभरकर सामने आया है।

संदर्भ

1. Singh, Yogendra 1977, "Social Stratification & Change in India" Manohar Book Service, New Delhi.
2. S.C. Dube 2000, भारतीय ग्राम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. Majumdar, D.N. 1958 : Caste & Communication in an Indian Village, Asia Publishing House, Bombay
4. Ghurye, G.S. 1962 : Cities & Civilization.
5. Dsai, A.R. 1959 : "Rural Sociology in India; The Indian Society of Agricultural Economics, Bombay.
6. Thorner, Deniel, "Land for labour in India" Allied Delhi, pp 51-52.

हिंदी साहित्य निकेतन

महत्त्वपूर्ण कोश एवं संदर्भ ग्रंथ

• **निश्तर ख़ानक़ाही एवं डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**

ग़ज़ल और उसका व्याकरण 250.00

• **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ॰ मीना अग्रवाल**

बृहत् हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश 1500.00

हिंदी तुलनात्मक शोधसंदर्भ 995.00

शोधसंदर्भ–भाग–1 500.00

शोधसंदर्भ–भाग–2 550.00

शोधसंदर्भ–भाग–3 525.00

शोधसंदर्भ–भाग–4 595.00

शोधसंदर्भ–भाग–5 895.00

शोधसंदर्भ–भाग–6 1500.00

हिंदी तुकांत कोश 300.00

समीक्षा एवं समालोचना

सवाल साहित्य के • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00

हिंदी सिनेमा और दांपत्य संबंध • **डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल** 500.00

सिनेमा और साहित्य का अंत:संबंध • **डॉ॰ चंद्रकांत मिसाल** 200.00

सिनेमा, साहित्य और संस्कृति • **नवलकिशोर शर्मा** 150.00

आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • **धर्मेंद्र उपाध्याय** 300.00

डॉ॰ कुँअर बेचैन के साहित्य में प्रतीक विधान • **डॉ॰ अंजु भटनागर** 500.00

अमरकांत का कथासाहित्य • **डॉ॰ योगेश गोकुल पाटिल** 400.00

नारी–समस्याओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन • **डॉ॰ अनुभूति** 450.00

राजस्थानी चित्र शैली में आखेट दृश्य • **डॉ॰ सुषमा सिंह** 250.00

भोपाल के संग्रहालयों की चित्रकला • **डॉ॰ सुषमा सिंह** 250.00

मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध • **डॉ॰ ज्योति सिंह** 150.00

मृदुला गर्ग और नारी–अस्मिता का प्रश्न • **डॉ॰ ज्योति सिंह** 300.00

काका हाथरसी : एक समीक्षा–यात्रा • **डॉ॰ मिथिलेश माहेश्वरी** 300.00

सांप्रदायिकता और हिंदी कथासाहित्य • **डॉ॰ मनोजकुमार** 250.00

अपनी कविताओं में अशोक चक्रधर • **डॉ॰ दीपा के॰** 250.00

आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में संगीत (पुरस्कृत)• **डॉ॰ मीना अग्रवाल** 450.00

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह** 350.00

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का व्यंग्य–साहित्य : कथ्य एवं भाषा • **डॉ॰ वी॰ जयलक्ष्मी** 450.00

साठोत्तरी हिंदी-ग़ज़ल : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान • **डॉ॰ अनिलकुमार शर्मा**	350.00
लोकरंगमंच के विविध आयाम • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा**	200.00
देवबंद की स्वांग-परंपरा • **डॉ॰ सुरेंद्र शर्मा**	200.00
एक साक्षात्कार : पं॰ अमृतलाल नागर के साथ • **डॉ॰ शंकर क्षेम**	150.00
ग़ज़ल : सौंदर्य और यथार्थ • **अनिरुद्ध सिन्हा**	150.00
समय के हस्ताक्षर (हिंदी के आधुनिक कवि) • **डॉ॰ ज्योति व्यास**	150.00
कालिदास के साहित्य में भौगोलिक तत्त्व • **डॉ॰ लालबहादुर रावल**	300.00
जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार • **डॉ॰ अशोककुमार**	350.00
बिजनौर क्षेत्र की ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन • **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	500.00
आस्थावाद एवं अन्य निबंध • **डॉ॰ मिथिलेश दीक्षित**	300.00
साहित्य और संस्कृति • **डॉ॰ मिथिलेश दीक्षित**	300.00
हिंदी व्यंग्य-निबंध : स्वतंत्रता के बाद • **डॉ॰ आशा रावत**	350.00
आज़ादी के बाद का हिंदी गद्य व्यंग्य • **डॉ॰ प्रेम जनमेजय**	500.00
हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष • **विनोदचंद्र पांडेय**	300.00
हिंदी बालसाहित्य : डॉ॰ सुरेंद्र विक्रम का योगदान • **डॉ॰ स्वाति शर्मा**	450.00
भीष्म साहनी का कथासाहित्य : सांप्रदायिक सद्भाव • **डॉ॰ पी॰आर॰ वासुदेवन**	300.00
हिंदी ब्लॉगिंग : अभिव्यक्ति की नई क्रांति • **अविनाश वाचस्पति, रवींद्र प्रभात**	495.00
हिंदी ब्लॉगिंग का इतिहास • **रवींद्र प्रभात**	300.00
सूरदास का सौंदर्य-चित्रण • **डॉ॰ विजय इंदु**	250.00
हरिऔध का सौंदर्य-चित्रण • **डॉ॰ विजय इंदु**	500.00
साठोत्तरी हिंदी रेखाचित्र : शैलीवैज्ञानिक अध्ययन • **डॉ॰ मीनल रश्मि**	250.00
समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक चेतना • डॉ॰ शीला गहलौत	500.00
हरिवंशराय बच्चन के काव्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ •डॉ॰ राजकुमार जमदग्नि	500.00
नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक • डॉ॰ अशोक उपाध्याय	200.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (एक) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (दो) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (तीन) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (चार) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (पाँच) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (छह) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	700.00
डॉ॰ महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (सात) • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	700.00
साहित्य और संस्कृति का अंत:संबंध • **डॉ॰ आदित्य प्रचण्डिया**	400.00
वादविवाद प्रतियोगिता : पक्ष और विपक्ष • **डॉ॰ गिरिराजशरण, डॉ॰ मीना अग्रवाल**	200.00

फिजी में प्रवासी भारतीय • **डॉ॰ शुचि गुप्ता** 300.00
मुक्तिबोध का रचना-संसार • **डॉ॰ शिवशंकर लधवे** 200.00
यशपाल के उपन्यासों में सामाजिक चेतना • **डॉ॰ अनीता रानी** 400.00
सृजन और साहित्य • **डॉ॰ राजेंद्र मिश्र** 400.00
ललित निबंध : परंपरा और चिंतन • **डॉ॰ शिवाजी एन॰ देवरे** 300.00
शिक्षा की समस्याएँ और हिंदी कथासाहित्य • **डॉ॰ शशिप्रभा** 450.00
लोकनाट्य सांग : कल और आज • **डॉ॰ पूर्णचंद शर्मा** 165.00
समालोचना के फलक • **डॉ॰ बागेश्री चक्रधर** 300.00
रुहेलखंड के परंपरागत लोकगीत • **श्रीमती नीरजा द्विवेदी** 200.00

हास्य-व्यंग्य

मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 150.00
मेरे इक्यावन व्यंग्य • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 300.00
चुनी हुई हास्य कविताएँ • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 250.00
बाबू झोलानाथ • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 60.00
राजनीति में गिरगिटवाद • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 100.00
आदमी और कुत्ते की नाक • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 150.00
आओ भ्रष्टाचार करें • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
दूध का धुला लोकतंत्र • **गोपाल चतुर्वेदी** 150.00
आधुनिक बेताल कथाएँ • **गिरीश पंकज** 200.00
भज्जी का जूता • **महेशचंद्र द्विवेदी** 150.00
क्लियर फंडा • **महेशचंद्र द्विवेदी** 120.00
प्रिय-अप्रिय प्रशासकीय प्रसंग • **महेशचंद्र द्विवेदी** 170.00
वीरप्पन की मूँछें • **महेशचंद्र द्विवेदी** 200.00
वसीयतनामा • **पं॰ सूर्यनारायण व्यास, सं॰ राजशेखर व्यास** 150.00
काका की विशिष्ट रचनाएँ • **काका हाथरसी** 300.00
काका के व्यंग्य-बाण • **काका हाथरसी** 200.00
कक्के के छक्के • **काका हाथरसी** 200.00
लूटनीति मंथन करी • **काका हाथरसी** 200.00
खिलखिलाहट • **काका हाथरसी** 200.00
पैसे कहाँ से दें • **डॉ॰ आशा रावत** 200.00
चाहिए एक और भगतसिंह • **डॉ॰ आशा रावत** 100.00
नमस्कार प्रजातंत्र • **महेश राजा** 150.00
ए जी सुनिए • **अशोक चक्रधर** 100.00
इसलिए बौड़म जी इसलिए • **अशोक चक्रधर** 100.00

चुटपुटकुले • **अशोक चक्रधर**	60.00
तमाशा • **अशोक चक्रधर**	60.00
सो तो है • **अशोक चक्रधर**	60.00
हँसो और मर जाओ • **अशोक चक्रधर**	60.00
नमस्ते जी • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
अब हँसने की बारी है • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
• **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	
1996 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	100.00
1997 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	100.00
1998 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	100.00
1999 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	120.00
2002 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	150.00
2003 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	150.00
2004 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	170.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियाँ	200.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कविताएँ	200.00
पिछले दशक के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य एकांकी	200.00
शिवशर्मा के चुने हुए व्यंग्य • **डॉ॰ शिव शर्मा**	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • **डॉ॰ शिव शर्मा**	300.00
अपने-अपने भस्मासुर • **डॉ॰ शिव शर्मा**	250.00
प्रतिनिधि व्यंग्य • **दामोदरदत्त दीक्षित**	200.00
धमकीबाज़ी के युग में • **निश्तर ख़ानक़ाही**	200.00
नो टेंशन • **डॉ॰ सुरेश अवस्थी**	200.00
ला ख़र्चा निकाल • **गजेंद्र तिवारी**	200.00
जलनेवाले जला करें • **गजेंद्र तिवारी**	200.00
पेट में दाढ़ियाँ हैं • **सूर्यकुमार पांडेय**	100.00
ये है इंडिया • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	220.00
आँखों देखा हाल • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	250.00
सच का सामना • **हरीशकुमार सिंह**	150.00
लिफ़्ट करा दे • **डॉ॰ हरीशकुमार सिंह**	200.00
देवेंद्र के कार्टून • **देवेंद्र शर्मा**	200.00
कार्टून कौतुक • **देवेंद्र शर्मा**	120.00
लिफ़ाफ़े का अर्थशास्त्र • **डॉ॰ पिलकेंद्र अरोरा**	200.00
अजगर करे न चाकरी • **बाबूसिंह चौहान**	200.00

हँसते-हँसते कट जाएँ रस्ते • **मधुप पांडेय** 200.00
ज़िंदगी तेरे नाम डार्लिंग • **डॉ॰ लालित्य ललित** 200.00
नो कमेंट • **सुमित प्रताप सिंह** 200.00

कहानी

एक सपना मेरा भी था • **डॉ॰ आश रावत** 200.00
एक थी माया • **विजयकुमार** 200.00
सरहदों के पार • **सुरेशचंद्र शुक्ल** 200.00
छोटे-छोटे सुख • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल** 200.00
कथा जारी है • **बाबूसिंह चौहान** 250.00
इक्कीस कहानियाँ • **सत्यराज** 200.00
अंदर धूप बाहर धूप (नारी-मन की कहानियाँ) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल** 250.00
कुत्तेवाले पापा • **मीना अग्रवाल** 150.00
क्या अच्छा क्या बुरा • **मीना अग्रवाल** 200.00
उत्तराखंड की लोकगाथाएँ • **डॉ॰ दिनेशचंद्र बलूनी** 200.00
एक बौना मानव • **महेशचंद्र द्विवेदी** 200.00
लव जिहाद • **महेशचंद्र द्विवेदी** 200.00
इमराना हाज़िर हो • **महेशचंद्र द्विवेदी** 150.00
हैं आस्माँ कई और भी • **नीरजा द्विवेदी** 200.00
कौन कितना निकट • **रेणु 'राजवंशी' गुप्ता** 120.00
लघु कथाएँ • **डॉ॰ हरिशरण वर्मा** 150.00
कमरा नंबर 103 • **सुधा ओम ढींगरा** 150.00
कहानियाँ अमेरिका से • **सं॰ इला प्रसाद** 150.00
प्रेमचंद की कालजयी कहानियाँ • **सं॰ डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका** 150.00
लघुकथाएँ जीवनमूल्यों की • **सं॰ सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'** 150.00
पंद्रह सिंधी कहानियाँ • **सं॰ देवी नागरानी** 200.00
अंतराल • **संगीता** 200.00
भाँति-भाँति की मानुसी • **अंशु त्रिपाठी** 250.00
लड़की हँस रही है • **डॉ॰ राजेंद्र मिश्र** 300.00

उपन्यास

इतिहास की आवाज़ • **राजेन्द्र मिश्र** 450.00
अनोखा उपहार • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल** 200.00
आसरा • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल** 100.00
तीन बीघा ज़मीन • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल** 200.00
मन के जीते जीत • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल** 200.00

कुल का चिराग • **श्रीमती सुषमा अग्रवाल**	200.00
कालचक्र से परे • **श्रीमती नीरजा द्विवेदी**	200.00
भीगे पंख • **महेशचंद्र द्विवेदी**	200.00
मानिला की योगिनी • **महेशचंद्र द्विवेदी**	200.00
और लहरें उफनती रहीं • **डॉ॰ तारादत्त निर्विरोध**	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • **डॉ॰ शिव शर्मा**	300.00
अराज-राज • **डॉ॰ मोहन गुप्त**	200.00
सुराज-राज • **डॉ॰ मोहन गुप्त**	350.00
एक गुमनाम फौजी की डायरी • **डॉ॰ आशा रावत**	250.00
एक चेहरे की कहानी • **डॉ॰ आशा रावत**	250.00
गुरुदक्षिणा (व्यंग्य-उपन्यास) • **डॉ॰ आशा रावत**	200.00
एक फरिश्ता ऐसा देखा • **प्रेमसागर तिवारी**	250.00
रोशनी का पहरा • **डॉ॰ आरती लोकेश**	300.00

एकांकी-नाटक

• **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**

मंचीय हास्य-व्यंग्य एकांकी	200.00
मंचीय सामाजिक एकांकी	200.00
बच्चों के हास्य नाटक	200.00
बच्चों के रोचक नाटक	200.00
बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक	200.00
बच्चों के अनुपम नाटक	200.00
बच्चों के उत्तम नाटक	200.00
भारतीय गौरव के बाल-नाटक	200.00
प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित नाटक	200.00
ग्यारह नुक्कड़ नाटक	200.00
नीली आँखें	60.00
बच्चों के अनोखे नाटक • **प्रकाश मनु**	200.00
हास्य-व्यंग्य के बाल-नाटक • **प्रकाश मनु**	200.00
संसार : एक नाट्यशाला • **बाबूसिंह चौहान**	250.00
ग्यारह एकांकी • **डॉ॰ हरिशरण वर्मा**	200.00
दमन • **रामाश्रय दीक्षित**	100.00
स्वप्न पुरुष • **डॉ॰ उर्मिला अग्रवाल**	250.00
अफलातून की अकादमी • **डॉ॰ शिव शर्मा**	150.00

ललित निबंध एवं रेखाचित्र

कैसे-कैसे लोग मिले • **निश्तर ख़ानक़ाही**	125.00
यादों का मधुबन • **कृष्ण राघव**	150.00
समय के चाक पर • **डॉ॰ लालबहादुर रावल**	125.00
समय एक नाटक • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	160.00
दर्पण झूठ बोलता है • **बाबूसिंह चौहान**	60.00
मकड़जाल में आदमी • **बाबूसिंह चौहान**	80.00
उफनती नदियों के सामने • **बाबूसिंह चौहान**	100.00
पीठ पर नील गगन • **बाबूसिंह चौहान**	100.00
अनुभव के पंख • **चंद्रवीरसिंह गहलौत**	250.00
मेरे साक्षात्कार • **डॉ॰ बालशौरि रेड्डी**	250.00
आधी हकीकत आधा फसाना • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
फूलों की महक • **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	200.00
संवाद साहित्यकारों से • **डॉ॰ गंगाप्रसाद गुप्त बरसैंया**	200.00

गीत-ग़ज़ल

निश्तर ख़ानक़ाही समग्र (प्रकाशनाधीन)/ **निश्तर ख़ानक़ाही**	500.000
ग़ज़ल मैंने छेड़ी (ग़ज़ल-संग्रह)/ **निश्तर ख़ानक़ाही**	80.00
ग़ज़लों के शहर में (ग़ज़ल-संग्रह)/ **निश्तर ख़ानक़ाही**	200.00
मेरे लहू की आग (ग़ज़ल-संग्रह)/ **निश्तर ख़ानक़ाही**	150.00
कोई आवाज़ देता है • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	250.00
दिन दिवंगत हुए • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	250.00
कुँअर बेचैन के नवगीत • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	200.00
कुँअर बेचैन के प्रेमगीत • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	250.00
पर्स पर तितली (हाइकु) • **डॉ॰ कुँअर बेचैन**	200.00
अक्षर हूँ मैं (कविताएँ) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	250.00
सन्नाटे में गूँज (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
भीतर शोर बहुत है (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
मौसम बदल गया कितना (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
रोशनी बनकर जिओ (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
शिकायत न करो तुम (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
आदमी है कहाँ (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
प्रतिनिधि ग़ज़लें • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
बूँद के अंदर समंदर (मुक्तक) • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
मान भी जा छुटकी • **गीतिका गोयल**	150.00

आदमी के हक़ में (ग़ज़ल-संग्रह) • **रामगोपाल भारतीय**	100.00
यहाँ तक वहाँ से (कविताएँ) • **रमेश कौशिक**	200.00
हास्य नहीं व्यंग्य (कविताएँ) • **रमेश कौशिक**	150.00
मातृभूमि के लिए • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	200.00
संघर्ष जारी है • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	170.00
जीवन-पथ में • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	150.00
देश हम जलने न देंगे • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	150.00
तुम भी मेरे साथ चलो • **रमेश पोखरियाल 'निशंक'**	150.00
समय के भूगोल में • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
असाबिया • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
आठवाँ राग • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
हवाएँ खामोश हैं • **राजेंद्र मिश्र**	200.00
सदियाँ गुजर रही हैं • **राजेंद्र मिश्र**	300.00
उजियारा आशाओं का • **तारा प्रकाश**	150.00
बुलंदी इरादों की • **तारा प्रकाश**	150.00
चलने से मंज़िल मिलती है • **तारा प्रकाश**	200.00
इंद्रधनुष • **तारा प्रकाश**	200.00
संवेदनाओं के रंग • **तारा प्रकाश**	200.00
तारा प्रकाश समग्र • **तारा प्रकाश**	600.00
शमा हर रंग में जलती है • **रामेश्वरप्रसाद**	150.00
गांधारी का सच (खंडकाव्य) • **आर्यभूषण गर्ग**	200.00
राधेय (खंडकाव्य) • **डॉ॰ आकुल**	120.00
असित चंद्र : अवदात चंद्रिका (काव्य-नाटक) • **डॉ॰ आकुल**	120.00
ज़िंदगी गाती तो है/(ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ आकुल**	120.00
आसमान मेरा भी है (ग़ज़ल-संग्रह) • **किशनस्वरूप**	100.00
बूँद-बूँद सागर मैं (ग़ज़ल-संग्रह) • **किशनस्वरूप**	100.00
आँचल-आँचल खुशबू (ग़ज़ल-संग्रह) • **कर्नल तिलकराज**	200.00
ज़ख़्म खिलने को हैं (ग़ज़ल-संग्रह) • **कर्नल तिलकराज**	200.00
हिरना लौट चलें (गीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	250.00
तिराहे पर (ग़ज़ल-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	250.00
कुछ भी सहज नहीं (नवगीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
त्रिवर्णी (नवगीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
ढाई आखर प्रेम के (गीत-संग्रह) • **शचींद्र भटनागर**	200.00
अखंडित अस्मिता (मुक्तक) • **शचींद्र भटनागर**	200.00

सुरों के ख़त • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	100.00
सुनहरे मंत्र का जादू • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	100.00
सुनते हुए ऋतुगीत • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	150.00
सुबह की अंगूठी • **अश्विनीकुमार 'विष्णु'**	150.00
सफ़र में साथ-साथ (मुक्तक-संग्रह) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	200.00
जो सच कहे (हाइकु-संग्रह) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	150.00
यादें बोलती हैं (कविताएँ) • **डॉ॰ मीना अग्रवाल**	200.00
गुलमुहर की छाँव में (ग़ज़ल-संग्रह) • **मनोज अबोध**	100.00
मेरे भीतर महक रहा है (ग़ज़ल-संग्रह) • **मनोज अबोध**	150.00
अग्निसुता • **राजेंद्र शर्मा**	150.00
सीतायनी • **डॉ॰ शंकर क्षेम**	150.00
गंगापुत्र भीष्म : शर-शैया से • **डॉ॰ शंकर क्षेम**	150.00
एक मुट्ठी धूप • **नीरजा सिंह**	100.00
कटे हाथों के हस्ताक्षर • **डॉ॰ कमल मुसद्दी**	150.00
फ़ासले मिट जाएँगे (ग़ज़ल-संग्रह) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
शब्द-शब्द संदेश (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
जीवन है मुस्कान (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	150.00
भीतर का संगीत (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
सुख के बिरवे रोप (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
इंद्रधनुष के रंग (दोहे) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
प्यार के गुलाल से (हाइकु) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
हारना हिम्मत नहीं (मुक्तक) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
मानव तू जग में सुंदरतम • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
रिश्ते नए अब जोड़िए (ग़ज़लें) • **डॉ॰ बलजीत सिंह**	200.00
बहती नदी हो जाइए (ग़ज़लें) • **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	150.00
अँधियारों से लड़ना सीखें (ग़ज़लें) • **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
जीवन-अमृत : पर्यावरण चेतना (दोहा-संग्रह) • **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
अक्षर-अक्षर हो अमर (दोहा-संग्रह) • **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
वैदुष्यमणि विद्योत्तमा (खंडकाव्य) • **डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'**	200.00
अनजाने आकाश में • **महेशचंद्र द्विवेदी**	170.00
बातें कुछ अनकही • **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
मैंने देखा है • **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
हौसला तो है • **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00
ज़िंदगी रुकती नहीं • **सत्येंद्र गुप्ता**	200.00

जज़्बात की धूप • **धूप धौलपुरी**	250.00
मैं एक समुद्र • **डॉ॰ तारादत्त 'निर्विरोध**	200.00
आड़ी-तिरछी यादों-सा कुछ • **नवलकिशोर शर्मा**	180.00
जब चाँद डूब रहा था • **नवलकिशोर शर्मा**	200.00
एड्स शतक • **पूरणसिंह सैनी**	150.00
श्रीगोगाचरित (महाकाव्य) • **पूरणसिंह सैनी**	300.00
श्रीकृष्णचरित (महाकाव्य) • **पूरणसिंह सैनी**	800.00
खोजें जीवन सत्य (दोहे) • **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	150.00
अपनी एक लकीर (दोहे) • **डॉ॰ ओमदत्त आर्य**	200.00
राष्ट्र-शक्ति • **सलेकचंद संगल**	150.00
माँ तुझे प्रणाम • **सलेकचंद संगल**	150.00
लहरों के विरुद्ध • **डॉ॰ रामप्रकाश**	200.00
हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता • **महेंद्र कुमार**	200.00
पीड़ा का राजमहल • **डॉ॰ उर्मिला अग्रवाल**	200.00
उड़ान जारी है • **विनोद भृंग**	200.00
सूर्यनगर की चाँदनी • **रामेश्वर वैष्णव**	150.00
कहता कुछ मौन (हाइकु-संग्रह) • **हरिराम पथिक**	200.00
जो जिया वो रचा (मुक्तक-संग्रह) • **हरिराम पथिक**	200.00
धनुषभंजक राम • **चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'**	200.00
कविताएँ फेसबुक से • **लालित्य ललित**	200.00
दुनिया इतनी भी बुरी नहीं • **लालित्य ललित**	200.00
बचे रहेंगे केवल शब्द • **लालित्य ललित**	200.00
एक कुल्हड़ चाय • **स्वर्ण ज्योति**	200.00
रात • **दामोदर खड़से**	200.00
झरनों का तराना है • **लक्ष्मी खन्ना सुमन**	200.00
अहसासों के ताने-बाने • **लक्ष्मी खन्ना सुमन**	200.00
विरमाल गीत समग्र • **सं॰ डॉ॰ पंकज विरमाल**	500.00

आत्मकथा-संस्मरण, साक्षात्कार, पत्र

मेरा जीवन : ए-वन • **काका हाथरसी**	300.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • **धर्मेन्द्र उपाध्याय**	250.00
आत्मसरोवर • **ओम्प्रकाश अग्रवाल**	125.00
निष्ठा के शिखर-बिंदु • **नीरजा द्विवेदी**	200.00
स्विट्ज़रलैंड के वे 21 दिन • **नीरजा द्विवेदी**	200.00
सफ़र साठ साल का • **डॉ॰ अजय जनमेजय (सं)**	400.00

यादों की गुल्लक • **गीतिका गोयल, डॉ॰ अनुभूति (संपादक)**	300.00
आधी हक़ीक़त आधा फ़साना • **डॉ॰ बलजीतसिंह**	150.00
मेरे साक्षात्कार • **डॉ॰ बालशौरि रेड्डी**	250.00
संवाद : साहित्यकारों से • **डॉ॰ गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैंया'**	200.00
उत्तरोत्तर • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)**	250.00
श्रद्धांजलि • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)**	250.00

बाल-साहित्य

धरती पर चाँद (पुरस्कृत) • **शंभूनाथ तिवारी**	200.00
हम बगिया के फूल (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह**	200.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह**	200.00
छुट्टी के दिन बड़े सुहाने (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह**	200.00
दिन बचपन के (बालगीत) • **डॉ॰ बलजीतसिंह**	200.00
जादूगर बादल (बालगीत) • **विनोद भृंग**	200.00
आटे-बाटे दही चटाके (शिशुगीत) • **बालकृष्ण गर्ग**	200.00
चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत) • **गीतिका गोयल**	200.00
बातूनी कहानियाँ • **गीतिका गोयल**	200.00
किशोर मन की कहानियाँ • **डॉ॰ सरला अग्रवाल**	200.00
चलो आकाश को छू लें • **डॉ॰ तारादत्त निर्विरोध**	200.00
मानव-विकास की कहानी • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
पार्टी गेम्स • **चाँदनी कक्कड़**	125.00
कागज की नाव • **डॉ॰ सरोजनी कुलश्रेष्ठ**	200.00
गधा बत्तीसी • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
ईनी-मीनी की मजेदार दुनिया • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
कविताओं में पंचतंत्र • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	250.00
छुटके-मुटके जंगल में • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
नन्हे-मुन्ने गीत सुहाने • **लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'**	200.00
Tiny -Tots in Forest • **Laxmi Khanna 'Suman'**	200.00
Adventures of the Laughing Donkey • **Laxmi Khanna 'Suman'**	200.00
शिक्षाप्रद बालकहानियाँ • **डॉ॰ अशोक कुमार**	200.00
बालकृष्ण गर्ग के बालगीत • **बालकृष्ण गर्ग**	500.00

विविध

उत्तराखंड में आध्यात्मिक पर्यटन • **डॉ॰ सरिता शाह**	200.00
• **निश्तर ख़ानक़ाही, डॉ॰ गिरिराजशरण, डॉ॰ मीना अग्रवाल**	
पर्यावरण : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00

नारी : कल और आज	300.00
• **रमेशचंद्र दीक्षित, निश्तर ख़ानक़ाही, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	
मानवाधिकार : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
अपराध-अपराधी : अन्वेषण एवं अभियोजन • **डॉ॰ गिरिराज शाह**	200.00
गुरु नानकदेव • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	200.00
अमृतवाणी • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	300.00
आप भी तनावमुक्त हो सकते हैं • **डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल**	250.00
वेद-वेदांत दर्शन • **डॉ॰ मूलचन्द दालभ**	300.00
प्रकृति : एक ज्ञेय तत्त्व • **डॉ॰ मूलचन्द दालभ**	300.00
कन्हैया गीता • **डॉ॰ मूलचन्द दालभ**	900.00
टास्कफोर्स : हैल्थकेयर प्रोजेक्ट्स • **डॉ॰ गोविंद शर्मा एवं रवि लंगर**	450.00
सिद्धाश्रम का संन्यासी • **मनोज भारद्वाज**	300.00
समुद्री दैत्य सुनामी • **डॉ॰ लालबहादुर रावल**	300.00
Ecosystem in The Central Himalyas • **Dr.Vikram Singh IPS**	200.00

अपना आदेश निम्नलिखित पते पर भेजें

हिंदी साहित्य निकेतन

16 **साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰)**

फोन : 01342-263232

09557746346, 07838090732

गुड़गाँव कार्यालय

बी-203, पार्क व्यू सिटी 2

सोहना रोड, गुड़गाँव 122018

0124-4076565

केंद्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क : हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन : 0562-2530684,
वेबसाइट : www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई॰ में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र–दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में है।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

शिक्षणपरक कार्यक्रम :

(1) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (2) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (3) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम, (4) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (5) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधानपरक कार्यक्रम :

(1) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (2) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (3) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (4) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (5) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (6) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :

(1) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (2) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (3) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (4) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (5) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (6) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/ त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन :

हिंदीभाषा एवं साहित्य, भाषा विज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका-'गवेषणा', 'मीडिया', और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय :

भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय :

हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ :

भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरूआत, ■ अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी॰ए॰ का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ, ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू॰एस॰ए॰, यू॰के॰, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य

डॉ॰ कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, कें॰हिं॰शि॰मं॰
ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय
निदेशक